

नाट्यशास्त्र की
भारतीय परम्परा
और
वक्षस्पर्क

② १९९१ चतुर्थमस प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली
प्रथम संस्करण, १९९१

NATYA SHASTRA KI BHAKTIYA PARANIPARA
Am

DAKSHINOPAK

by

Hanprasad Daxandi

Prabhatkath Daxandi

मुद्रण १०००

Price Rs. 10.00

प्रकाशक चतुर्थमस प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
८ पी. डी. बाजार दिल्ली ९

लागत शास्त्र की १३ वें मसंद पृष्ठ ९

मुद्रक : श्री लक्ष्मणराव पुता, लखनऊ प्रेस दिल्ली

क्रम

भाटपसावन की भारतीय परम्परा	१
प्रथम प्रकाश	७७
द्वितीय प्रकाश	१४१
तृतीय प्रकाश	०३
चतुर्थ प्रकाश	२३३
धनिक की संस्कृति कवि	३१५

नाट्य-रस लिया 'सामवेद' से शीत का रस 'यजुर्वेद' से अमिनय और
 यषर्ववेद' से रसों का संग्रह किया। 'नाट्य-वेद' का निर्माण करके ब्रह्मा
 ने प्रचार करने के उद्देश्य से उसे देवताओं को दिया। परन्तु इस ने
 उनसे निवेदन किया कि देवता लोग इस नाट्य-कर्म के ब्रह्मण चारण
 शान और प्रयोग में असमर्थ हैं। इस काम को वेदों के रहस्य जानने
 वाले संश्लिष्ट-व्रत मुनियों को देना चाहिए। ब्रह्मा ने इसके बाद भरत
 मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम अपने ही पुत्रों के साथ इस 'नाट्य-
 वेद' के प्रयोक्ता बनो। पितामह की आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने
 नौ पुत्रों को इस नाट्य-वेद का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाट्य-
 वेद' पृथ्वी-तल पर आया।

यह कहानी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वेदों से
 भिन्न पाँचवाँ वेद होठ हुआ भी 'नाट्य-वेद' के मुख्य रस चारों वेदों से
 ही मिले गए हैं। दूसरा यह कि यद्यपि इसके मूल तत्त्व वेदों से ग्रहीत
 हैं तथापि यह स्वतन्त्र वेद है और अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी
 दूसरे का मुग्धापेक्षी नहीं। तीसरा यह कि यह वेद धर्म वेदों की तरह
 केवल ऊँची जातियों के लिए नहीं है बल्कि सार्वजनिक है और कोची
 महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक धातार और क्रिया-परम्परा के प्रवर्धित
 होने के बहुत बाद जेता युग में इस शास्त्र का निर्माण हुआ। उस समय
 बम्बुडीप देवता राजा यद्य राजा और नागों से समानाश्रित हो चुका
 था। यानी भारतवर्ष में बहुत-सी नवी जातियों का आक्रमण हो चुका
 था।

भारतीय परम्परा यह है कि किसी भी नव शास्त्र के प्रवर्तन के
 समय उनका मूल वेदों में अवश्य संज्ञा जाता है। वेद मान-स्वरूप है
 उनमें विज्ञान का ज्ञान बीज-रूप में सुरक्षित है। भारतीय मनीषी अपने
 किसी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र प्रामाणिकता नहीं मानते। 'नाट्य-वेद' की
 उत्पत्ति की कथा में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है परन्तु इस शास्त्र को
 वेद की मर्यादा देने का एक और धर्म भी है। इसमें कुछ ऐसी बातें

हैं जो प्रसिद्ध पार बेधों में नहीं हैं और उनके लिए यह 'नाट्य-वेद' ही 'स्वतः प्रमाण' वाक्य है। किसी शास्त्र का बेत कहने का मतलब यह है कि यह स्वयं अपना प्रमाण है उसके लिए किसी अन्य प्राप्त बाबत की अपेक्षा नहीं। मनु न मानात् धर्म के कारण का पतुबिष बताया है—
 धृति स्मृति सदाचार धीर अपने-आपका प्रिय समझे बानी बात।
 परन्तु ये चारों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं। स्मृति उतनी ही ग्रहणीय है जितना कि धृति से समर्थित है। सदाचार उतना ही ग्रहणीय है जितना कि धृति और स्मृति से समर्थित है और अपनी प्रिय बात उतनी ही दूर तक स्वीकार्य है जितनी दूर तक वह धृति स्मृति और सदाचार के समर्थित हो। धर्म के अन्तिम तीन कारण धृति से समर्थित हैं। मनु जिनके अति समझा हैं उनमें ऐसा बहुत-सी बातों का समावेश नहीं रहा होना का 'नाट्य-वेद' में गृहीत है। इसलिये 'नाट्य-शास्त्र' के आरम्भ में इसे धृति की समर्थि हो गई है।

अब ये मनु ङंग की साथ प्रथा प्रचलित हुई है तब न 'नाट्य-वेद' के विषय में आधुनिक ङंग के पण्डितों में अनेक प्रकार की अलग-अलगता कम पड़ा है। यह भी विचार का विषय बना हुआ है कि 'नाट्य-शास्त्र' को पाँचवाँ धर्म क्यों बना गया। वे बीनमी ऐसी बातें थी जो हम शास्त्र के प्रचलित होने के पहले वैदिक धर्मों में प्रचलित थीं और बीन भी ऐसी बातें हैं जो नहीं हैं? फिर क्या नहीं है उनकी प्रस्था नहीं से मिली? क्या मनुन धर्म दिगी जातिवाँ से भा कुछ लिया गया या वहाँ की धर्मोत्तर जातियों में प्रचलित प्रथाओं से उन्हें ग्रहण किया गया? इन अलग-अलगताओं का नाट्य काशी बढ़ा और जटिल है। सबसे पुनरावृत्ति करना न ता वहाँ धर्म-अर्थ ही है और न उपयोगी ही। 'नाट्य-शास्त्र' को क्या से हमना तो स्पष्ट ही है कि नाटकों में जो पाठ-संग होता है उसका मूल रूप अर्थोद से मिल जाता है आदेश संग है वह भी 'गामय' में प्राप्त हो जाता है और आरम्भ है उसका मूल रूप 'अर्थ' वेद में प्राप्त हो जाता है। कम-से-कम 'नाट्य-शास्त्र'

© १९६१ राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली
प्रथम संस्करण, १९६१

NATYA SHASTRA KI BHARTIYA PARAMPARA

An

DAKHROOPAK

by

Hazratprasad Duvvedi

Prabhatkoth Duvvedi

पृष्ठ १०००

Price Rs. 10.00

प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

८ फ्रीड बाजार दिल्ली

शाखा साह्य नगर के माथे पटना ६

मुद्रक श्री सत्यप्रकाश मुष्ता, नबीन ग्रेड दिल्ली

क्रम

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा	१
प्रथम प्रकाश	३७
द्वितीय प्रकाश	१६१
तृतीय प्रकाश	०३
चतुर्थ प्रकाश	३१
पत्रिका की संस्कृति वसि	२११

© १९६३ राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली
प्रथम संस्करण १९६३

NATYA SHASTRA KI BHARTIYA PARAMPARA

And

DASHROOPAK

by

Hazari Prasad Dvivedi

Prabhu Lal Dvivedi

पृष्ठ १०००

Price : Rs. 10 00

प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

८ फेड बाजार दिल्ली ६

वास्ता साहस्र कासज के सामने पन्ना ६

मुद्रक : श्री सत्यनारायण गुप्ता, नवीन प्रेस दिल्ली

क्रम

महाभारत की भारतीय परम्परा	१
प्रथम प्रकाश	३७
द्वितीय प्रकाश	१४१
तृतीय प्रकाश	२०३
चतुर्थ प्रकाश	३१
पत्रिका की संस्कृति बलि	८

नाट्य-शास्त्र की भारतीय परम्परा

१ नाट्य-वेद और नाट्य-शास्त्र

भारतीय 'नाट्य-शास्त्र' के धारम्भ में (११४२) एक कथा दी गई है। उसमें बताया गया है कि कभी धन्वन्तर्य के समय जब भरत मुनि दान्त मास में बैठ हुए थे धान्य प्रभृति भुनियों ने उनसे पाकर श्रम किया कि भगवन् आपने जो वेदसम्मित 'नाट्य-वेद' धर्मित किया है वह कब उदयमान हुआ और किसके लिये बनाया गया उसके धर्म प्रमाण और प्रयोग किस प्रकार होते हैं यह बताने की ह्वा करें। भरत मुनि ने बताया कि वैवस्वत मनु के समय वैता युग प्राण हुआ और तब तपा सोमवध मोम धाम्य-धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए तपा ईश्वरी और शीघ्र से मूढ़ होकर वे धनेक प्रकार के सुप्त-बुत्तों के शिकार होने लगे। लोकपालों द्वारा प्रतिष्ठित जम्बूद्वीप जब देव दानव गन्धर्व दशा दशत और नारों से समाक्रान्त हो गया तब इन्द्र प्रभृति देवताओं ने बड़ा ठे जाकर कहा कि 'हे पितामह हय ऐसा कोई 'कीदनीयक' या केन चाहते हैं जो इन्द्र भी हो और धर्म्य भी हो जो वेद-व्यवहार है वह शुद्ध जाति को सिखाया नहीं जा सकता अतएव आप सब देवों के प्रीत्य रितो वाचसे वेद की सृष्टि कीजिए ! ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहकर सब देवों को बिदा किया चारों वेदों को समाहित होकर स्मरण किया और संवत्स रिया कि मैं धर्म धर्म और यश का नाशन उदयेष्टमुक्त धारण ज्ञान-धर्मियन भावी जनता का समस्त कर्मों का अनुवर्तन कराने वाला समस्त धारण-धर्मों से युक्त सब सिलों का प्रद र्क इतिहासयुक्त 'नाट्य' नायक वेद बनाईया। उन्होंने 'शूरे' में

नाट्य-मंडल लिया 'सामवेद' से गीत का अंश 'यजुर्वेद' से धर्मनियम और 'अथर्ववेद' से रसों का संग्रह किया। 'नाट्य-वेद' का निर्माण करके ब्रह्मा ने प्रचार करने के उद्देश्य से उसे देवताओं को दिया। परन्तु इन्द्र ने उनसे निवेदन किया कि देवता लोग इस नाट्य-कर्म के ग्रहण कारण ज्ञान और प्रयोग में असमर्थ हैं। इस काम को वेदों के रहस्य जानने वाले संश्लिष्ट-वृत्त मुनियों को देना चाहिए। ब्रह्मा ने इसके बाद भरत मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम अपने सौ पुत्रों के साथ इस 'नाट्य-वेद' के प्रयोक्ता बनो। पितामह की आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस 'नाट्य-वेद' का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाट्य वेद' पृथ्वी-तल पर आया।

यह कहानी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वेदों से निम्न पाँचवीं वेद होते हुए भी 'नाट्य-वेद' के मुख्य अंश चारों वेदों से ही लिये गए हैं। दूसरा यह कि यद्यपि इसके मूल उत्पन्न वेदों से गृहीत हैं तथापि यह स्वतन्त्र वेद है और अपनी प्रायागिकता के लिए किसी दूसरे का मुखापेक्षी नहीं। तीसरा यह कि यह वेद धर्म वेदों की तरह केवल ऊँची जातियों के लिए नहीं है बल्कि सार्वजनिक है और चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक साधारण और क्रिया-परम्परा के अवलंबित होने के बहुत बाद भेदा युग में इस शास्त्र का निर्माण हुआ। उस समय अम्बुद्वीप देवता मानव मत्त पक्षी और जानों से समानान्त हो चुका था मानी भारतवर्ष में बहुत-सी नयी जातियों का प्राबुध्भाव हो चुका था।

भारतीय परम्परा यह है कि किसी भी नये शास्त्र के अवलंबन के समय उसका मूल वेदों में अवश्य जोड़ा जाता है। वेद ज्ञान-स्वरूप हैं जिनमें विकास का ज्ञान बीज-रूप में सुरक्षित है। भारतीय मनीषी अपने किसी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र सम्भावना नहीं मानते। 'नाट्य-वेद' की उत्पत्ति की कथा में भी यह प्रभुति दिखाई देती है परन्तु इस शास्त्र को वेद की मर्यादा देने का एक और धर्म भी है। इसमें कुछ ऐसी बातें

हैं जो प्रसिद्ध चार वेदों में नहीं हैं और उनके लिए यह 'नाट्य-वेद' ही 'स्वतः प्रमाण' बाध्य है। किसी शास्त्र को वेद कहने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपने-आप प्रमाण है उसके लिए किसी अन्य प्राप्त बाध्य की अपेक्षा नहीं। मनु न चाणक्य के कारण को चतुर्विध बताया है—
 धृति स्मृति सदाचार और अपने-आपका प्रिय समझे वाली बात। परन्तु ये चारों समान रूप से स्वतंत्र नहीं। स्मृति उतनी ही पहनीय है जितनी कि धृति में सम्मिलित है। सदाचार उतना ही पहनीय है जितना कि धृति और स्मृति से सम्मिलित है और अपनी प्रिय बात उतनी ही दूर तक स्वीकार्य है जितनी दूर तक वह धृति स्मृति और सदाचार के अभिरुद्ध हो। धर्म के अन्तिम तीन कारण धृति से सम्मिलित हैं। मनु जिसे धृति सम्मिलित है उसमें ऐसी बहुत-सी बातों का समावेश नहीं रहा होगा जो नाट्य-वेद में सूचित हैं। इसलिये नाट्य-शास्त्र के आरम्भ में इसे धृति की मर्यादा दी गई है।

जब ये मने ढंग की धीरे-धीरे प्रस्थापित हुई है तब से 'नाट्य-वेद' के विषय में प्राप्ति के ढंग के परिणतों में अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति-कल्पना चल पड़ी है। यह भी विचार का विषय बना हुआ है कि 'नाट्य-शास्त्र' को पाँचवाँ वेद क्यों कहा गया। वे कौनसी ऐसी बातें थी जो हम शास्त्र के प्रवर्तित होने के पश्चात् वैदिक धर्मों में प्रचलित थीं और कौन सी ऐसी बातें हैं जो नहीं हैं? फिर जो नहीं हैं उनकी प्रस्थापना क्यों की गयी? क्या यवन आदि विदेशी जातियों से भी कुछ लिया गया या यहाँ की धर्मोत्तर जातियों के प्रचलित प्रथाओं में उन्हें ग्रहण किया गया? इन व्युत्पत्ति-कल्पनाओं का माहौल काफी बड़ा और अतिरिक्त है। सबसे बुनरावृत्ति करना न ता यही आवश्यक ही है और न उपयोगी ही। नाट्य-शास्त्र का क्या से इनका ता स्पष्ट ही है कि मन्त्रों में जो पाठ्य-संग्रह हुआ है उसका भूत रूप 'नाट्य-वेद' में मिल जाता है जो देव धर्म है वह भी 'सामवेद' में प्राप्त हो जाता है और जो रस है उसका भूत रूप 'अथर्व वेद' में प्राप्त हो जाता है। अथर्व-वेद 'नाट्य-शास्त्र' के

के रक्षयिता को इसमें कोई सम्बन्ध नहीं था ।

धार्मिक पण्डितों को भी इस विषय में कोई सम्बन्ध नहीं है कि 'श्रद्धा' में प्रत्येक स्थान है या निश्चित रूप से संसार या 'श्रावण' है । कम-से-कम पण्डित ऐसे स्थान से घोर हो जा सकते हैं जिनमें स्पष्ट रूप से संसार या संसार का आभास मिल जाता है । 'श्रद्धा' १ । १ में कम और अभी का प्रसिद्ध संसार है तथा १०।१५ में पुरुरवा और उर्वशी की बातचीत है । ८वें मण्डल के १ वें सूक्त में मम प्रार्थना ने इन्द्र से प्रार्थना की और इन्द्र ने उसका उत्तर दिया । वहीं-वहीं तीन व्यक्तियों के भी संसार मिलते हैं । प्रथम मण्डल के १७९वें सूक्त में इन्द्र भद्रिणि और वामदेव का संसार है । १०वें मण्डल के १ वें सूक्त में इन्द्र-भूती सरमा अपने सारमेय पुत्रों के लिए पत्नियों के पास जाती है और उनसे जमकर बात करती है । कुछ ऐतिहासिक-वैदिक जमाने के संसार भी हैं । विश्वामित्र की गदियों से बातचीत सीसने मण्डल के ३१वें सूक्त में पाई जाती है और ब्रह्मन् की अपने पुत्रों के साथ बातचीत सातवें मण्डल के ३२वें सूक्त में सुप्रसिद्ध है । ऐसी ही और भी बहुत-से सूक्त हैं जिनमें देवताओं की बातचीत है । यद्यपि कभी-कभी धार्मिक पण्डित इन सूक्तों के वर्ष के सम्बन्ध में एकमत नहीं हो पाते एक पण्डित जिसे संसार समझना है, दूसरा पण्डित उसे संसार मानने को प्रस्तुत नहीं । इस प्रकार का झगड़ा कोई नया नहीं है । इस मण्डल के २३वें सूक्त को जिसमें पुरुरवा और उर्वशी का संसार है, मातृ संसार ही मानते थे । वस्तु हीनक उसे कहानी-गाथा मानते थे ।

यहाँ में संसार क्यों आए ? सन् १८९६ में सुप्रसिद्ध पण्डित मैक्समूलर ने प्रथम मण्डल के १६२वें सूक्त के सम्बन्ध में जिसमें इन्द्र और मधु की बातचीत है धनुमान किया था कि यह में वह संसार अभिनीत किया जाता था । सम्भवतः वो दल होते थे एक इन्द्र का प्रति निधि होता था दूसरा मरुतों का । १८६० ई० में प्रो० मैसी ने भी इस बात का समर्थन किया था । प्रो० मैसी ने यह भी बताया था कि वैदिक

काम में गाने की प्रथा काफी प्रचलित हो चुकी थी। इनका ही मन्त्री 'ऋग्वेद' १।२।८ में ऐसी स्थितियों का उल्लेख है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थी और प्रमियों का आश्रय करती थी। अथर्ववेद में (७।१।४१) दुर्योधन के भी नाचने और गाने का उल्लेख है। श्री ल० श्री० भीम ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को समझते हुए इस बात में कोई कठिन घापल उपस्थित होने की सम्भावना नहीं देखी कि ऋग्वेद-काल में लोग ठेठ नाटकीय दृश्यों को जानते थे या धार्मिक दृष्टा करने व और जिनमें ऋषिक लोग स्वर्गीय पटनाया का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और मुनियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता ने जब यह सूचित किया था कि ब्रह्मा ने 'नाट्य वेद' की रचना के समय 'नाट्य-संग' 'ऋग्वेद' से लिया था ता उनका तात्पर्य यही रहा होगा कि ऋग्वेद में पाए जाने वाले वाक्यात्मक संवाद वस्तुतः नाटक के सम ही हैं। ऐसा निष्कर्ष उन दिनों दशरथियों में प्रचलित नाटकीय दृष्टा को देकर ही निकाला जा सकता है। प्रागुक्त वाग के कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेदकालीन काल में वस्तुतः कुछ अभिनय दृष्टा करता था। सागर की प्राचीन मानियों में नाच-गान और अभिनय का सम्बन्ध था। प्रो. एन. एडर ने बताया था कि 'ऋग्वेद' में प्राण मंत्राद प्राचीनतर भारतीय वाग के कालों में प्रचलित नाच गान और अभिनय का उल्लेखानीय रूप है। मार ममार में मूर्ध्ति प्रमिया के रहस्य को प्रतीक रूप में अभिनीत करने के निम्न एनक प्रकार के मैमिन्ट अभिनय प्रचलित थे। प्राचीन प्राण लोगों में भी एक प्रकार की मूल म दृष्टा को म ही कोई निरिक्त सङ्ग पाया जाता है और न दूसरों वरों की भारतीय परम्परा में ही कोई संकेत मिलता है। मूढ किन्तु निम्न और ऋग्वेदकालीन विद्वानों ने यह समझने का प्रयत्न

किया है कि इन संवाद-मूलक पद्यों के बीच-बीच गद्य का भी समावेश हुआ करता था जिसका कोई निश्चित रूप नहीं था। पद्य केवल उन स्थलों पर व्यवहृत होते थे जहाँ गद्य का भावावेश तीव्र होता था। इन तीव्र भावावेश वाले स्थलों को ही इन संवाद मूलक सूक्तों में संगृहीत कर लिया गया है। 'सकुस्तसा' नाटक से गद्य वाले सभी पद्य हटा दिए जाएँ और केवल पद्य पद्य ही सुरक्षित रहे जाएँ तो उसकी बही स्थिति होनी जो बहुत ठीक इन संवादमूलक सूक्तों की है। जो पिछले ने इस अनुमान को धारा भी धार्य बढ़ाया है। उनका अनुमान है कि संस्कृत-नाटकों में जो पद्य और पद्य का विविध सम्मिश्रण मिलता है वह उसी पुरानी यज्ञ-क्रिया से सम्बन्ध नाटकीय तत्त्वों का परवर्ती रूप है। संस्कृत-नाटक में पाद्य पद्य बोलते-बासते जब भावावेश की स्थिति में आता है तब पद्य बोलने लगता है। परन्तु इन विषय में भी विशाल भारतीय परम्परा एकदम मौन है। जो हो इसका तो स्पष्ट ही है कि 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता के मन में 'आख्येय' में नाटकों में पाद्य वाले बोलों पाठ्य-शाला के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं था। या तो परम्परा यह प्रचलित था कि 'आख्येय' के संवाद-मूलक पाठ्य-शाला किसी प्रकार के नाटकीय प्रदर्शन के पद्य हैं या उन्होंने स्वयं ही किसी नाटकीय उत्सव के अवसर पर इन नाट्य-शाला को नाटकीय रूप में प्रदर्शित होते देखा था। भारत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' कहा है यज्ञेन सम्मतं मे 'रय-ईश्वर पुत्रा विधि को यज्ञ-सम्मत कहा है यज्ञेन सम्मतं होता है रणवीर्यपुत्राय — (१.१.११)। यद्यपि 'नाट्य-शास्त्र' के इस उत्सव को परम्परा का इतिहास मान लिया जाए तो जो पिछले का अनुमान सत्य सिद्ध हो सकता है। इतना तो निश्चित है कि 'नाट्य-शास्त्र' का यह कहना (१.१.२) कि नाटक के पाठ्य पद्य 'आख्येय' में लिए गए हैं, साधारण और सुविशेषपूर्ण है। भारतीय नाटका का विकास में हम इस तरह के सिद्धे बहुत घटकने की जरूरत नहीं है। वह निश्चित रूप से साहित्यार्थों में प्राप्त है।

नाट्य-शास्त्र की भारतीय परम्परा

सामवेद' से घीठ-मद्य लिया गया यह कहना ठीक हो है। ऋक् या यजु को साम की योगि कहा गया है। योगि धर्मात् उत्पत्ति-स्मृत। धार्मिक धीर उत्तराधिक ये सामवेद के दो भाग हैं। धार्मिक धर्मात् ऋचाओं का समूह। इसमें १८१ ऋचाएँ हैं। चित्रनिर्माण में कहा है कि इसकी तुलना एक ऐसी गान-पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गान के केवल एक-एक ही पद्य सय या सूर की याद दिसाने के लिये समूह किये गए हों। दूसरी ओर उत्तराधिक ऐसी पुस्तक में तुलनीय हो सकता है जिसमें पूरे गान समूहीत होते हैं। धीर यह मान लिया गया होता है कि सूर या लय पहले से ही जाने हुए हैं। कहना का अर्थ है कि सामवेद एक धार्मिक समूह संवीन-परम्परा का परिचायक ग्रन्थ है। इसलिये शास्त्रकार का यह कहना कि नाट्यवेद' में घीठ सामवेद से लिए गए हैं सुक्तिमुक्त धीर साधारण है।

शास्त्र का दावा है कि 'नाट्य-वेद' में जो धर्मिक है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। यजुर्वेद' धर्मवेद कहलाता है। पतञ्जलि ने 'महा धार्य' में बताया है कि इसकी १०१ धाराएँ थीं। यज्ञ में धार्यपु लोग 'यजुर्वेद' के अंगों का पाठ करते हैं। इस वेद की पाँच धाराएँ या पाँच विभिन्न पाठ प्राप्त हैं।

१. काण्ड' धर्मात् कठ तामा की महिमा () 'कविष्ठान उट-महिमा' कुछ मोरी-सी भिन्न धीर अंगों हस्तनिर्माणों में ही प्राप्त हुई है (१) 'धैर्यायची महिमा' धर्मात् धैर्यायची परम्परा की महिमा (२) 'नेतिनीय महिमा' या धारणाय महिमा (इन पाँचों में बहुत साम्य है। इन इन्हीं यजुर्वेद की धारा कहते हैं।) तथा (३) 'बाज नवनी महिमा' शुभ यजुर्वेद का महिमा कहलाती है। इसका नाम 'दाहवन्धन बाजसनेनी' का नाम पर पड़ा। यही इस धारा का धार्मिक आधार है। इसकी भी ११ धाराएँ प्राप्त हैं। बाज धीर धार्यवन्धीय। 'यजुर्वेद धार्य' की भूमिका में महीचर में भिगा है कि धार्य के लिये धैर्यायन ने अपने दाहवन्धन इत्यादि गिण्डों को बाजों के

पड़ा। एक दिन वैद्यम्यायन मृत्यु होकर ब्राह्मणत्व से बोले कि दूने मुन्ने जो कुछ पड़ा है उसे छोड़ दे। तुम्हें मैं याज्ञवल्क्य ने भी जो पड़ा था सब उगल दिया जिसे युव की याज्ञा से वैद्यम्यायन के शिष्यों ने छीतर बनकर खा लिया। यही उद्घात ज्ञान 'रीतिरीय संहिता' है। याज्ञवल्क्य ने तपस्या करके सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त किया। सूर्य से प्राप्त होने के कारण ही इनका नाम 'शुक्ल यजुर्वेद' प्राप्त किया। सूर्य से विरोध में 'रीतिरीय शाखा' का नाम 'कृष्ण यजुर्वेद' पड़ा और इसके पण्डितों ने दोनों वेदों की विषय-वस्तु पर विचार करके बताया है कि शुक्ल का अर्थ है 'सुसम्पादित स्पष्ट और साफ़ जबकि कृष्ण का अर्थ है 'असम्पादित अस्पष्ट और बिचिर-पिचिर। 'कृष्ण यजुर्वेद' में ऐसे बहुत-से अंग हैं जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के अंग-से जान पड़ते हैं। शुक्ल में यह बात नहीं है। वह विषुव मन्त्रों की संहिता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि 'राजन-कृत वेद' नाम्य इसमें मिल गया है इसलिये इसे कृष्ण या अज्ञात कहा गया है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'माध्यन्दिनीय शाखा' ही सम्भवतः पुराणा और प्रामाणिक यजुर्वेद है। इसकी उक्त दोनों शाखाओं में अन्तर बहुत कम है। माध्यन्दिनीय शाखा पुरानी माती जाती है उसी का प्रचार भी अधिक है। प्रायुक्तिक पण्डितों का विश्वास है कि इनके ४० अध्यायों में अन्तिम १२ (या २२) परवर्ती हैं प्रथम भाग पुराणा।

'यजुर्वेद' में कुछ अंग ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जो वह किन्ना की विविधियों का बताते हैं जिनमें योके-बहुत ऐसे कार्य होते हैं जो अमिनय की कोटि में या सकते हैं। प्रायुक्तिक अंग के विद्वानों ने यह के सोम विषय प्रकरण को और महावत के विविध अनुष्ठानों को एक प्रकार का नाटकीय अमिनय ही माना है। इसी प्रकार अन्य याज्ञिक अनुष्ठानों में भी कुछ ऐसे अनुष्ठान मिल जाते हैं जो नाटकीय अमिनय की कानि में पा जाते हैं। यह सत्य है कि इन अनुष्ठानों को नाटक नहीं कहा जा सकता। विषुव नाटक यह है जहाँ अमिनता जान-बूझकर किसी दूने

व्यक्ति की भूमिका में उतरता है, स्वयं धामनिष्ठ होता है और दूसरों को धामन्य देता है। 'यजुर्वेद' में इस ज्ञानी का नाटक खोजना स्वयं का परिचय-पत्र है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि याज्ञिक विद्या के अनुष्ठान में ऐसी कुछ बातें ध्यायित्वी हैं जो उन दिनों के साधारण जन समाज में प्रचलित भाष-भाष और समाजों से सी गई होतीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोक-नृत्य और लोक-नाट्य उन दिनों प्रचलित प्रचलन थे। 'दीर्घातृती ब्राह्मण' (२४।३) में नृत्य-नृत्य आदि को कसायों में विभाया गया है। 'आरस्कर बृहस्पृज' में (२-३-३) द्विजातिओं को यह सब करने की मनाही है। इसलिये यह सरमसा से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों लोक में बहुत-से नृत्य गीत नाट्य प्रचलित थे। लोग उनकी शत्रु भी करते थे परन्तु परमन्त वैदिकवादी ब्राह्मण उनसे बचने का भी प्रयत्न करते थे। वेदों का वातावरण परिवर्तन का वातावरण है और ब्राह्मण-विरासत के अनुसार ऐसा कोई काम दिनों को नहीं करना चाहिए जिससे चरित्रगत पतन की सम्भावना हो। इस लिये यद्यपि नृत्य नाट्य आदि की मनोरञ्जकता उद्गूँति व्यस्वीकार नहीं की किन्तु उन्हें भले आदमियों के योग्य भी नहीं माना। जो हो चाम्प में यह बताया गया है कि नाटको में जो अभिनय-तत्त्व है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। इन वक्तव्यों को समझने के लिये जिस प्रकार यह धारणा है कि हम समझें कि यजुर्वेद क्या है उसी प्रकार हम यह भी समझें कि नाट्य-शास्त्र में 'अभिनय' किस वस्तु को कहा है।

'नाट्य-शास्त्र' में अभिनय शब्द बहुत व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। हमें नाटक के 'प्रान' शब्दों तत्त्व ध्यायित्व हैं। वेद-विद्याम भी हमें प्रान वस्तु नहीं और रंगमंच की सजावट भी उनके अन्तर्गत ध्यायित्व है। 'अभिनय' शब्द-प्राप्त और रत्न के अतिरिक्त जा-नृप भी नाटक में दिया जा सकता है वह सब अभिनय के अन्तर्गत ध्यायित्व है और नाट्य गान और रत्न के भी सभी ध्यायित्व और उपादान अभिनय के अन्तर्गत ध्यायित्व है इसलिये नाट्य-शास्त्रीय परम्परा में सब अभिनय शब्द का

व्यवहार होता है तो वस्तुतः कुछ भी छूटता नहीं।

कुछ लोगों ने 'नाट्य-शास्त्र' के अमिनय' शब्द का अर्थ 'इमिटेचन' (अनुकरण) और 'अरचर' (भाव संगी) किया है जो ठीक नहीं है। यह समझना सूल है कि अमिनय में केवल अर्थों की विशेष प्रकार की रीतिपाई ही प्रधान स्थान प्राप्त करती है। अमिनय के चारो भगो— अर्थात् धार्मिक वाचिक आहार्य और शारीरिक—पर समान बाध से खोर दिया गया है। धार्मिक अर्थात् देह-सम्बन्धी अमिनय इन दिनों परम उत्कृष्ट पर था। इसमें देह कुछ और कैष्टा के अमिनय शामिल थे। सिर, हाथ कटि बख पाधर्य और पैर इन अर्थों के संकटो प्रकार को अमिनय 'नाट्य-शास्त्र' में और 'अमिनय अर्थन' आदि अर्थो में विभाए गए हैं। 'नाट्य-शास्त्र' में बताया गया है कि किस अंग या उपाय के अमिनय का क्या विनियोग है अर्थात् वह किस अवसर पर अमिनीत हो सकता है। फिर नाना प्रकार की भूमकर बाधने-बाधे बाधी अंगिमाधों का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् बचन-सम्बन्धी अमिनय को भी उपेक्षणीय नहीं समझा जाता था। 'नाट्य-शास्त्र' में कहा गया है (११२) कि बचन का अमिनय बड़ी सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि वह नाट्य का शरीर है शरीर और बोधाक के अमिनय वाक्यार्थ को ही व्यञ्जित करते हैं। उपयुक्त स्थलों पर उपयुक्त यति और वाक्कु देकर बोलना नाम-आख्यात-निपात उपसर्ग-समास-सहित विभक्ति-सन्धि आदि को ठीक-ठीक प्रकट करना उन्को का उचित इय से प्रयोग करना आध्को के प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन का उपयुक्त रीति से उच्चारण करना इत्यादि बातें अमिनय का प्रधान अंग मानी जाती थीं। परन्तु वही सब-कुछ नहीं था। कबल शारीरिक और वाचिक अमिनय भी अपूर्ण मान जाते थे। आहार्य और बस्त्रा मद्धारों की उपयुक्त रचना भी अमिनय का अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकार की जाती थी—पुस्त धनद्वार, अज्ञ रचना और संगीत। नाटक के स्टैज को आर के समान 'रियलिस्टिक' बनाने का ऐसा पावन

यम तो नहीं था परन्तु महाकृष्ण विमान आदि का बपाय का कुछ रूप देने के लिये तीन प्रकार के पुस्तक व्यवहृत होते थे : वे या तो बंस या सरकण्डे से बने होते थे जिस पर बपका या बमका चित्र किया जाता था या फिर यज्ञ आदि की सहायता से कर्त्री बना लिए जाते थे या फिर धमिनेता ऐसी 'बिष्टा' करता था जिसमें उस वस्तुओं का बोध प्रत्यक्ष हो जाय (२३ ५-७)। इन्हीं क्रमशः सविधम व्यञ्जितम और वेष्टिम पुस्तक कहते थे। यमद्वार में विविध प्रकार के मास्य आभरण वस्त्र आदि की मचना होती थी। यज्ञ-रचना में मुख्य और द्वितीय के बहुविध वेप विन्यास पात्रिम थे। प्राचियों के प्रवेश को संजीव कहते थे (२३ १५२) परन्तु इन तीनों प्रकार के धमिनियों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्विक था। विन्न-मिन्न रसों और भावों के धमिनय में धमिनता या धमिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती थी।

यजुर्वेद मंहिता में बताया हुए धामिक विधानों में नि सन्देश धमि मय के ऊपर बताया गए अनेक तथ्य मिल जायेंगे। हमलिये धास्त्रकार के धमिनय का 'यजुर्वेद' से मूहीत बताया है। यथापि यजुर्वेद में मारम मोहन बधीकरण आदि धमिचार पाए जाते हैं। हमने जिस सारों पर में प्रयास किए जाते हैं उनके स्थानापन्न क्रमों का व्यवधारण होता है जो नाटक के विभागाणि के समान ही हैं और साथ ही इसमें धारणादि धमिचारों का समय मिहान कथन आदि अनुभाव तथा धृति प्रमो-आदि मंचारी भाव भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार विनाय-अनुभाव मंचारी भाव का योग क्रियाश्रम निष्पत्ति हुआ लगता है। हममें मिल जाता है। धमिनवस्तु का मय है कि 'भीषिय हनवा अयवदे' में ग्रहण किया हुआ बताया गया है। यजुर्वेद के रसों के ग्रहण करने का अनुमान भी उचित हो सकता है।

२ विधि और गान

गान्य-वे के २१ मय है—विधि और गान। भगवन् मुनि ने प्रथम

बेवता में उसका प्रभाव है। इसीलिये नाटक को समुप्य की सर्वनेष्टा या सिवुला का उत्तम रूप है। बेवता लोगों की चर्चित का विषय नहीं है। बेवता लिखि है सकता है, साबना नहीं कर सकता। नाटक साबना का विषय है। समुप्य में जो सर्वनेष्टा या नया कुछ रचने की जो प्राकाशा है वह उसका विषय है। इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इतिहासपुस्त 'नाट्य-नेष्ट' को भरत मुनि के जिम्मे किया जिन्होंने अपने ही पुत्रों को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार इतिहास 'नाट्य-नेष्ट' में जोड़ा गया। पाठ्य भीत अभिनय और उस के साथ कथानक का योग हुआ। शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रथम प्रयोग इन पाँच वस्तुओं को लेकर ही हुआ। भरत मुनि ने इसमें तीन वृत्तियों का योग किया था। ये तीन वृत्तियाँ हैं भारतीय शास्त्री और भार्यटी। भारतीय वृत्ति 'नाट्य-प्रधाना पुरुष-प्रयोग्या शरीरविक्रता संस्कृत वाच्य पुरता' वृत्ति है (२२ २)। इसे भरत-पुत्रों को प्रयोग करने में कठिनार्द नहीं हुई। शास्त्री 'हर्षोत्कटा बहूत-श्लोकन' वा वायुप्रमाणिनयवती सत्वाधिकारमुप्यता' वृत्ति है (२२ ३८ ३९)। इसे भी बिना कठिनार्द के सम्हाल लिया गया। भार्यटी क्रूर-श्रीद इन्द्र-जाल आक्रमण आदि को प्रकट करने वाली वृत्ति है (२२ २७ २८)। भरत-पुत्रों ने इसका प्रयोग भी वाचार्मी से कर लिया। परन्तु चौथी वृत्ति जो कैथिकी है वह उनके बच की नहीं थी। इसमें मुकुमार साव-सग्ना स्त्री-मुसम पेट्याएँ, कोषस शूलारोपचार (२२ ४७) की आवश्यकता थी। भरत-पुत्र इसका प्रयोग नहीं कर सके। ब्रह्मा ने इस कवी को यहगूस किया और भरत-मुनि को धाया थी कि कैथिकी वृत्ति को भी इसमें जोड़ो (१ ८३)। भरत मुनि ने कहा कि यह वृत्ति तो पुराणों के बच की नहीं है इसे तो केवल लिखी ही कर सकती है। ब्रह्मा ने तब वाचराधों की मृष्टि की इस प्रकार 'नाट्य-नेष्ट' में विषयों का प्रवेश हुआ।

इन्द्र के ध्वजारोपण के घण्टर पर प्रथम बार चारों वृत्तियों से संयुक्त नाटक बना गया और प्रसन्न होकर बेवताओं ने भरत मुनि का

पनेक उपकरण दिए और रसा करने का आह्वासन भी दिया ।

कथा से स्पष्ट है कि पहले नाटक में स्त्रियों का योग नहीं था । बाद में जब यह अनुभव किया गया कि नाटक की कुछ चियाएँ स्त्रियाँ के बिना असम्भव हैं तो नाटक में स्त्रियों के प्रवेश करने का विधान हुआ ।

देव्यों ने नाटक के समय उपद्रव शुरू किया । उनमें बचाव के लिये रंगपूजा की विधि का समावेश हुआ । इसकी बड़ी विस्तृत विधि 'नाट्य शास्त्र' में बताई गई है । इस आहम्बरपूर्ण विधान से नाटक में यज्ञ का औरत आ गया । पहले समाका बजाकर नाटक आरम्भ होने की सूचना देने का विधान है । फिर गायक और वादक साथ यथास्थान बैठ जाते थे । सम्मिलित गान आरम्भ होता था । मृदंग बीणा वेणु आदि बाधों के साथ नर्तकी का नूपुर झनकार कर उठता था और इस प्रकार नाटक के उद्घाटन की विधि सम्पन्न होती थी । आधुनिक पद्धतों में इसके बारे में मतभेद है कि यह घरके के पीछे की किया है या बाहर घसान् रंग भूमि की । मतभेद का कारण मग्न ग्रीक रंगमंच की बात साब-मोषकर भारतीय रंगमंच को समझने की अबाधित ब्रष्टा है । शुरू में ही यह तरंग या रगावतरंग का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि यह त्रिया रंगभूमि में ही होती थी । फिर मूत्रधार का प्रवेश होता था उसके एक ओर महल में पानी लिए मृदंगारधर होता था और दूसरी ओर बिज्यों को खबर करने वाली पतावा लिए जर्जरधर होता था । इन दो परिचारकों के साथ मूत्रधार पाँच पग घाम बढ़ता था । परन्तु यह बढ़ता साधारण बात न थी उनमें बिजय औरतगूर्न अभिनय हुआ करता था । फिर मूत्रधार मृदंग में जग मकर आचमन प्रोक्षण आदि करके पवित्र हो जाता था । फिर एक बिजय आहम्बरपूर्ण भंगिमा के साथ बिजय को जर्जर करने वाले जर्जर नामक व्यक्त को उगाहित करता था और दृष्ट कथा ध्वज देरनामा की स्तुति करता था । वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव व । और बाय पैर के अभिनय से बिष्णु को मधरवार करता था ।

पहला पुष्प का भीर ब्रूराय स्त्री का पद माना जाता था । एक नपुंसक पर का भी विधान है इसमें दाहिने पैर को नाभि तक उत्थिष्ठ कर सेने का इन नपुंसक पर से निर्देश है । इस नपुंसक पर से वह ब्रह्मा को नमस्कार करता था फिर यथाविधि वह चार प्रकार के पुष्पों से जर्जर की पूजा करता था । वह बाय-यन्त्रों की भी पूजा करता था भीर तब जाकर नान्दी पाठ होता था । जब देवताओं को वह नमस्कार करता था भीर उनके कल्याण की प्रार्थना करता था । वह राजा को विजय-कामना करता था रत्नों में धर्म-बुद्धि होने की शुभाशंसा करता था कवि या नाटककार के बसोबस की भी वह कामना करता था । प्रत्येक शुभ कामना के बाद पारिपासक श्लोक 'ऐसा ही हो' (एवमस्तु) कहकर प्रतिबन्ध देते थे भीर इस प्रकार नान्दी-पाठ का आश्चर्यपूर्ण कार्य सम्पन्न होता था ।

इस प्रसंग में हम 'नाट्य-शास्त्र' में से केवल मुख्य-मुख्य क्रियाओं का संघट्ट कर रहे हैं । नान्दी-पाठ तक की क्रिया बहुत विस्तृत है । इस नान्दी-पाठ को 'नान्द-शास्त्र' बहुत महत्त्व देता है । अस्तु जब नान्दी पाठ हो जाता था तो फिर सुष्कावहृष्टा विधि के बाद मुनभार एक ऐसा श्लोक-पाठ करता था जिसमें सबसर के अनुकूल बातें होती थीं अर्थात् वह या तो जिस देवता-विसेव की पूजा के सबसर पर नाटक होता था रहा हो उस देवता की स्तुति का श्लोक होता था या फिर जिस राजा के वरधन पर अभिनय हो रहा था उसकी स्तुति का । या फिर वह ब्रह्मा की स्तुति का पाठ करता था फिर जर्जर के सम्मान के लिये भी वह एक श्लोक पढ़ता था भीर फिर चारों मुख घूँक होता था । इसकी विस्तृत व्याख्या भीर विधि 'नाट्य-शास्त्र' के बारहवें अध्याय में दी हुई है । यह चारों का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था क्योंकि पूर्वकाल में शिव ने इस विशेषमयी से ही पार्वती के साथ मीठा की थी । इन सविनाश संयविषेष्टता-रूप चारों के बाद महाचारी का विधान भी 'नाट्य-शास्त्र' में दिया हुआ है । इस समय मुनभार जर्जर या ध्वजा को पारिपासिकी के हाथ में दे देता था । फिर भूतगण भी

प्रति के लिए छात्र का भी विधान है। फिर विद्वत्क धाकर कुछ ऐसी ऊम उमूल बातें करता या जिससे मूत्रधार के चेहरे पर स्मित हास्य छा जाता या धीरे धीरे प्रतीकना होती थी जिससे नाटक के विषय-वस्तु धर्मान् किमकी कीमती हार या धीरे की कहानी अभिनीत होने वाली है ये सब बातें बता दी जाती थीं धीरे तब वास्तविक नाटक शुरू होता था। छात्र में ऊपर किसी पई बातें विस्तारपूर्वक नहीं गई हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इन क्रिया को संक्षेप में भी किया जा सकता है। अगर इच्छा हो तो धीरे भी विस्तारपूर्वक करने का निर्देश देने में भी छात्र कुच्छा नहीं। ऊपर बताया पई क्रियाओं से यह विद्वत् किमा जाता था कि छात्राणं गण्यर्च ईत्य कामव राधस मुच्छक धरा मया चमाम्य देवमण धीरे इगण प्रसन्न होते हैं धीरे नाटक निबिन्न समाप्त होता है। नाट्य-शास्त्र के बाह के दूसरे विषय के संक्षेप-संको के यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही पई है। 'दशकपक' तथा नाट्यदर्शन' धादि में तो बहुत संक्षेप में इसकी चर्चा भर कर दी पई है।^१ इन बात से यह अनुमान होता है कि नाट्य की इतनी विस्तार धीरे

- १ उदाहरण के लिए दशकपक को लिया जा सकता है। यहाँ पूर्वग का तो नाममात्र से उल्लेख है। पूर्वग का विधान करके जब मूत्र धार बता जाता है तो उसी के समान क्षेत्र जाता नट (स्वायक) काव्यार्थ की स्थापना करता है। उसकी कैसा-बूबा कथावस्तु के अनुकूल होती है धर्मान् यदि कथावस्तु विच्य हुई तो कैसा भी विच्य धीरे मर्त्य-नोरु की हुई तो कैसा बूबा भी तरनुकूल। सत्रप्रथम उने वाध्यार्थ-मूच्छक मधुर इतकी से रय रयत के सामाजिकों की स्मृति करनी चाहिए। फिर उने किसी प्रानु के वर्तन द्वारा भारती कृति का प्रयोग करना चाहिए। भारती कृति तरतून-बहुत वाध्याधार है। इनके धार मेर होने हैं—(१) प्रतीकना बोधी प्रहसन धीरे धानुस या प्रहसावना। बोधी धीरे प्रहसन तो कर्कों के मेर है। बोधी बोधी में बनाये हुए सभी धम धानुस में भी उपयोगी है।

प्राङ्मन्त्र के साथ यह किया नहीं होती-होगी। विस्वनाथ के 'साहित्य-रस्य' से इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके समाने में इतनी विस्तृत

प्रशंसा, नाटक में जैसे जाने जाने शर्ष की प्रशंसा है, उतका उद्देश्य होता है सामाजिकों को नाटकीय कथावस्तु की ओर उन्मुख करना। धामुष या प्रस्तावना में तुल्यार (या स्वापक) नहीं शार्ष (पारि-पार्श्विक) या विद्वयक से ऐसी विभिन्न उचितियों में बात करता है जिससे नाटक का प्रस्तुत विषय समानास किंचिदाता है। तीन प्रकार से यह बात होती है। तुल्यार या स्वापक कोई ऐसी बात कह देता है जिसका साम्य नाटक की प्रस्तावित वस्तु से होता है कि कोई पात्र कहीं वाक्य को कहता हुआ रस्यमंच पर आ जाता है (कथोद्घात); या वह वस्तु-वर्णन के कहाने श्लेष से ऐसा कुछ कहता है जिससे पात्र के धायमन की धृष्टता मिल जाती है (प्रवृत्तक) या वह कहता है—'यह देखो वह या क्या', और पात्र मंच पर आ जाता है (प्रयोगातिशय)। फिर वह बीबी के बताए हुए तैरह श्रव्यों का भी सहारा लेता है। ये तैरह श्रव्य विशेष प्रकार की उचितियाँ हैं। ये हैं—

- (१) उद्घातक (गुरु प्रश्नोत्तर) (२) अवलम्बित (एक-दूसरे से छड़े हुए श्रव्यों के सूचक वाक्य) (३) शर्ष (हँसाने वाली पारस्परिक मिथ्या स्तुति), (४) निमित्त (सम्य साम्य से अनेक श्रव्यों की योजना), (५) ध्वनि (विष्णी-गुपरी से बहुजगता) (६) वाक्येती (धावा कहकर बाकी को भाँप लेने योग्य छोड़ देना) (७) प्रविबल (बड़ बड़कर बातें करना) (८) मण्ड (सम्यक्त से निमित्त का उपस्थित हो जाना) (९) अवलम्बित (सरस बात कहकर मुकुरने का प्रयत्न), (१०) वातिका (गुह्य वचन), (११) अवलम्बनाथ (अन्त बर्ताव इकोलता) (१२) व्याहार (हँसाने के लिए कुछ-का-कुछ कह देना) और (१३) मृदव (श्रव्य को कुछ और कुछ को श्रव्य बताना)।

क्रिया नहीं होती थी। जो हो सन् ईस्वी के पहले धीरे बहुत बाद भी इस प्रकार की बिधि रही जरूर है।

यही तक 'नाट्यवेद' सीधा-सादा ही था। 'नाट्य-शास्त्र' के चौथे अध्याय में इसमें एक धीरे क्रिया के जोड़ने की कथा है। वेदों से गृहीत पाठ्य पीठ अभिनय धीरे रस बासे 'नाट्य-वेद' में बढ़ा ने पहली बार इतिहास जोड़ा। दूसरी बार कौटिली कृति के साथ स्थियों का प्रवेश हुआ धीरे तीसरी बार दैत्यवर्जित बाधा को दूर करने के उद्देश्य से रंग पूजा की बिधि जोड़ी गई। अब इतना हो जाने के बाद भरत ने समुत्तम मन्थन का नाटक रखा। 'नाट्य-शास्त्र' की कुछ प्रतियों में इसे 'समवकार' कहा गया है कुछ में नहीं कहा गया है। बढ़ा ने फिर इस नाट्य प्रयोग को सिक्की को दिखाने के लिए कहा। सिक्की ने देखा धीरे प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि तुमने जो इस नाट्य की सृष्टि की है वह बचस्प है शुभ है पुण्य है धीरे बुद्धि विवर्धक भी है। परन्तु मैंने सम्प्राप्त ज्ञान में नृत्य करते समय 'नृत्य' को स्मरण किया है जो अनेक करणों से संयुक्त है धीरे अंगहारों से विभूषित है। पूर्वरंग की तुम्हारी बिधि 'गुरु' है इनमें रंग नृत्य को जोड़ दोये ता वह 'विज' हो जाएगा अर्थात् इसमें वैबिम्ब हो जाएगा। फिर सिक्की ने करणों धीरे अंगहारों की बिधि बताई धीरे बढ़ा ने ठाण्डव-नृत्य का भी नाटक में समावेश किया। यह चौथा संस्करण था। भारतीय परम्परा के अनुसार इन चार बघावों का अतिवर्णन करने के बाद 'नाट्य-शास्त्र' पूर्णाङ्ग हुआ। इसे ऐतिहासिक विवरण कहा जा सकता है।

४ नाट्य शास्त्र किससे लिष्ट ?

भारतीय नाट्य-शास्त्र तीन प्रकार के लोगों की दृष्टि में रगकर लिखा गया है। 'काम्यक' आदि परवर्ती व्यक्तियों की तरह वह केवल नाट्य लिखने वाले कवियों के लिये मार्गदर्शक ग्रन्थ-मात्र नहीं है। सब पूजा जाए ता वह अभिनेताओं के लिये ही अर्थात् नाट्यकारों धीरे

नाटक समझने वाले सहृदयों के लिये कम । जब तक नाट्य-शास्त्र के इस रूप को नहीं समझा जाएगा तब तक इस विद्यालय प्रश्न के महत्त्व का अनुभव नहीं किया जा सकेगा । सबसे पहले 'नाट्य-शास्त्र नाटक के धर्मिनेताओं की दृष्टि में रखकर लिखा गया । इस ग्रन्थ में करण संग्रह, चाँचि धारि की विधियाँ जो विस्तारपूर्वक समझायी गई हैं, नृत्त गीत धीर वेश वृत्त का जो विस्तृत विवेचन है वह भी धर्मिनेताओं को ध्यान में रखकर लिखा गया है । रसमञ्ज का विधान धर्मिनेताओं की सुविधा को ही दृष्टि में रखकर किया जाता था । साधारणतः रसमञ्ज या प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे । जो बहुत बड़े होते थे व वेशताओं के प्रेक्षागृह कहलाते थे धीर १०८ हाथ लम्बे होते थे दूसरे राजाओं के प्रेक्षागृह होते थे जो ६० हाथ लम्बे धीर इतने ही चौड़े होते थे तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह विभूषाकार होते थे धीर उनकी तीनों मुखाधों की सम्बाई ६२ हाथ होती थी । सम्भवतः दूसरी धेनी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थे । ऐसा जान पड़ता है कि राजमन्त्रों में धीर बड़े-बड़े समुद्रिणाधी मन्त्रों में ऐसे प्रेक्षागृह स्थायी हुआ करते थे । 'प्रतिमा' नाटक के आरम्भ में ही राजमन्त्र में नेपथ्यशास्त्र की बात आई है । राजा रामचन्द्र के अन्तपुर में एक नेपथ्यशास्त्रा भी वहीं रसभूमि के लिए वस्त्र धारि सामग्री रखी हुई थी । साधारण नागरिक विवाह तथा अन्य उत्सवों के समय घरवासी रूप से छोटी-छोटी प्रेक्षणशालाएँ, जो सीसरी धेनी की हुप्पा करती थी बनवा लिया करते थे । प्रेक्षणशालाओं का निर्माण धर्मिता की सुविधा के लिए हुआ करता था । इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रसभूमि में धर्मिण्य करने वालों की आवाज धर्मिता विमारी तक अनायास पहुँच सके धीर सहृदय दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव मर्मिता को आसानी से देख सकें ।

धर्मिता भारती से पता चलता है कि नाट्य-शास्त्र के पूर्ववर्ती टीकाकार ऐसा ही मानते थे कि यह शास्त्र धर्मिनेता कवि धीर सामाजिक

को प्रिया देन के लिए सिखा गया है। पर स्वयं अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि नाट्य-शास्त्र केवल कविता और अभिनेताओं का शिक्षित करने के उद्देश्य से ही बनाया। उनका मत पारम्परिक पाँच प्रश्नों के विरलेषण पर आधारित है। लेकिन पूरा नाट्य-शास्त्र का पढ़न पर पूर्ववर्ती टीकाकारों की बात ही माय्य काम पड़ती है।

‘नाट्य शास्त्र’ रंगमंच के निर्माण को बहुत महत्व देता है। मृमि निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से संघामा जाता था। सम स्थिर धीरे कठिन मृमि तथा कासी या गीर बर्ष की मिट्टी चुन मानी जाती थी। मृमि को पहले हल से जोटा जाता था। उसमें से धरिय कीत बपास तृच युष्मानि को साक बिया जाता था उसे सम धीरे पटसर बनाया जाता था और तब प्रेक्षागृह के नापने की बिधि शुरू होती थी। नाट्य-शास्त्र को देखने से पता चलता है कि प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय मूत्र का दूट जाना बहुत अनगम अनग समझा जाता था। मूत्र ऐसा बनाया जाता था, का सहम ही न दूट सके। वह या ता बपास से बनता था या केर की छान से बनता था या मूत्र में बनता था धीरे किसी गुण की छान की मजबूत रस्मी की काम में भाई जा सकती थी। ऐसा बिरबाण बिदा जाता था कि यदि मूत्र बाधे से दूट जाए तो स्वामी की मृत्यु होगी है। तिराई में दूट जाए तो राज जोष की पालाका होती है। चौलाई से दूटे तो प्रयोषणा का नाग होता है? हाथ भर न दूटे तो कुछ मामली घट जाती है। इन प्रकार मूत्र-धारण का काम बहुत ही महत्व का कार्य समझा जाता था। बिधि मत्तन करण धाडि की धुडि पर बिदाय न्य से ध्यान दिव जाता था धीरे हल बात का पुरा ध्यान रमा जाता था कि बाई बपास बरनपारी हीन वपु या बिकर्माण पुत्र मन्दन-स्वापना न मत्तन बचावक धाकर धनुष बल न उत्पन्न कर दे। सम्भा माइन से भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। सम्भा हल गया निम्न बपा या कीर गया तो अनेक प्रकार के उपायों की सम्भावना जाती

जाती थी। रंगसाधना के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में शास्त्राचार्य का डर सदा रहता था। पद-पद पर पूजा प्राप्तविषय और बाह्य मन की सावधान्यता पड़ती थी। भित्ति-कर्म माप-बोझ चूना पोतना चित्र-कर्म सम्भा याकुना भूमि-सोचन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और साधका के साध की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्वपूर्ण क्यों है। उसकी चर-सी घसावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती है। नाटक की सफलता का बारम्बार सूत्रधार पर रहता है।

राजाओं की विजय-जानाघों के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगसाधार्य बना ही जाती थी। इन सामाग्रियों के दो हिस्से हुषा करते थे। एक तो बहो अभिनय हुषा करता था वह स्वान और दूधरा वर्चकों का स्वान जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्वान निरवत हुषा करते थे। वहाँ अभिनय होता था उसे रंगभूमि (या संक्षेप में 'रंग') कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे विरस्करणी या पररा लगा दिया जाता था। परदे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से सब-बजकर अभिनेतागण रंगभूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि+पथ्+य) में 'नि' उपसर्ग को हटाकर कुछ पद्धतों ने अनुमान किया है कि नेपथ्य का बराबर रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुषा करता था पर वस्तुतः यह जस्टी बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि में उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रिया के लिये 'रंगवतार' (रंगभूमि में उतरना) शब्द ही व्यवहृत हुषा है।

५. नाट्यधर्मी और लोकधर्मी कठियाँ

'नाट्य-शास्त्र' नाट्यधर्मी कठियों का विधान ग्रन्थ है। इतने सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बहुत दीर्घकाल से प्रचलित धार्मिक प्रकार की कठियाँ इसमें संगृहीत हुई हैं। इसीलिये 'नाट्य-शास्त्र' का जो

नयीमूत घोटा है उसे लोक धीरे धीरे का बहुत प्रच्छा जाता होना चाहिए। उसे बहुत-से इंसानों का हृदय मूढमंज होना चाहिए कि वह अभिनेता की एक-एक संकुली के घुमाव का संकेत ग्रहण कर सके। उसे 'रसशास्त्र' के नियमों का बहुत प्रच्छा ज्ञान होना चाहिए। अभिनेताओं की विविध प्रकार के अभिनय समझने के बहाने 'नाट्य शास्त्र' का रचयिता अपने मध्यममूत घोटाओं की कितनी ही बातें बता जाता है। पन्द्रहवें अध्याय में दो कठिनों की चर्चा है—एक नाट्य चर्चा दूसरी लोकचर्चा या लोकिकी (१२ १३)। लोकचर्चा लोक का गुड और स्वामाधिक अनुकरण है। इसमें विभिन्न भावों का संकेत करने वाली धार्मिक अभिनय अभिनेताओं का समावेश नहीं किया जाता (अथ लोकिक विचित्रताम्)। परन्तु परम्परा लोकिक चर्चा धीरे धीरे क्रियाएँ, भीमावहार नाट्योक्त कठिनी—जैसे अनामिक स्वयं काकासमाधिक आदि ऐल धान विमान काम समचार आदि के संकेत देने वाली कठिनी—तथा धूमने भावों का संकेत करने वाले अभिनय नाट्यचर्चा हैं। लोक का जो गुण-गुण-विशालक धार्मिक अभिनय है वह भी नाट्यचर्चा है। अंतो में रंगमंच पर किए जानेवाले वे कठिनीमूतक धार्मिक अभिनय नाट्यचर्चा हैं जो सीधे अनुकरण के विषय नहीं हैं।

संस्कृत-नाटकों में 'अभिनयप्रदीपिका' और 'गुणप्रदीपिका' बहुरंग रंग-मण्डली का जो परिचय दिया गया है वह दर्शकों में इन्हीं नाट्य चर्चा मूढ अभिनेताओं को समझने की योग्यता को ज्ञापन करके। वे दर्शक गिराए होते थे तब तो निम्नमेव अभिनय की नयी चालियों को ज्ञापन करके थे। परन्तु जो पढ़-लिखे नहीं होते थे वे भी इन कठिनीयों को समझने में समर्थ होते थे। भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि ऊँची-ऊँची विमल-पारा करने सहज रूप में सामाजिक जीवन में बढपुन हो जाता चाली थी। भारतीय विचारधारा चर्चा-रंगी ता सामाजिक धर्म में ही प्रचलित होती थी किन्तु गुण निर्यात साधारण जनता में भी बात होते थे। यही कारण है कि भारतवर्ष में निरंतर व्यक्ति भी

इसके उत्पन्न-ज्ञान की बात आसानी से समझ लेता था। मध्यकाल के निरदर धर्मों ने उत्पन्न ज्ञान की जो बातें कही हैं उन्हें देखकर प्राधुनिक शिक्षित व्यक्ति भी अस्मित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई थी उन दिनों नाट्यदर्शी कठिनाई साधारण दर्शकों की भी बात थी। आजकल जैसे 'क्रिटिकल थियैट्रल' कहते हैं वही 'नाट्य-शास्त्र' का मस्यीभूत श्रोता है। २७वें अध्याय में 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाट्य का मस्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इच्छियाँ दुस्त होनी चाहिए जो व्यक्ति लोकप्रिय दृश्य को देखकर संकोचिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर उत्सहित न हो सके जो इतना समिदनशील न हो कि ईश्वर भाव के प्रवर्धन के समय दीनत्व का अनुभव कर सके उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे देश भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और चित्र का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की वादीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, उच्च-शास्त्र और अल्प-शास्त्र के विधानों से परिचित होना चाहिए, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। 'नाट्य-शास्त्र' यह मानता है कि सबसे सभी गुण हों यह सम्भव नहीं है। यद्यपि सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कम-बेकी होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें अधिक-से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। ज्ञान प्राप्ति के द्वारा रस की बातें देखना चाहता है बृद्ध सोच वर्ग ध्यान और पुराणों का अभिनय देखने में रस पाते हैं। 'नाट्य-शास्त्र' इस सब में स्वीकार करता है। फिर भी यह ध्याता करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल धारण को रसग्राही बना सकेगा।

६ नाट्य प्रयोग का प्रमाण शोक-जीवन है

यद्यपि 'नाट्य-शास्त्र' नाट्यदर्शी रक्षियों का विद्यालय संग्रह-ग्रन्थ है

तो भी वह मानता है कि नाटक की वास्तविकता प्रेरणा सूत्र और वास्तविक कथोटी भी सोच-विचार ही है। परवर्ती-काल के प्रसंग पर शास्त्रियों ने इस तथ्य को भुला दिया। परन्तु भरत मुनि ने इस तथ्य पर बड़ा जोर दिया। छम्बोसर्ग अध्याय में उन्होंने विस्तारपूर्वक अभिनय विधियों का निर्देश किया है। परन्तु साथ ही यह भी बता दिया गया है कि दुनिया यही नहीं समझ ले जाती। इस स्थावर-जंगम चरित्र मृष्टि का कोई भी शास्त्र कहो तक हिसाब बता सकता है। लोक में न जाने कितनी प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। नाटक चाहे वैद या अध्यात्म से उत्पन्न हो तो भी वह सभी सिद्ध होता है जब वह लोक सिद्ध हो क्योंकि नाट्य लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसलिये नाट्य प्रयोग में लोक ही सबसे बड़ा प्रमाण है

वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शास्त्रवद्व्युत्पन्नं समन्वितम् ।

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकरस्वभावतः ।

तस्मान् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते । (२१११)

अर्थात् यहाँ तक कहा है कि जो शास्त्र जो धर्म जो गिनत्य और जो विचार लोकधर्मप्रवृत्त है वे ही नाट्य की जाति हैं

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि गिनत्यानि या विद्या ।

लोकधर्मप्रवृत्ताणि तानि नाट्यं प्रदीक्षितम् ॥

इसलिए लोक प्रवृत्ति नाटक की सफलता की मुख्य बजोटी है। फिर भी अभिनेता को उन बारीक विधियों का ज्ञान होना चाहिए जिनके द्वारा वह सहृदय लोग के चित्त में आनामी से विभिन्न वीरों और प्रवृत्ति की अनुकृति करा सके। इनलिये वहाँ तक अभिनेता का ज्ञान है उसे 'प्रयोग' अवश्य होना चाहिए। बाबिब मेघदूत-मुद्ररङ्गी और धागिर शिरो भी अभिनय शास्त्र में बड़ा पद है वे अभिनेता को प्रयोग करने की दृष्टि से। क्योंकि जो प्रवृत्ति प्रमाण नहीं जानता वह निश्चि भी नहीं प्रयोग कर सकता। शास्त्रकार ने कहा है

गैरास्वामिनवाहोति वाग्नैपध्यायार्जवमा ।

प्रयोये येन कर्त्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ॥ (२६ १२२)

कभी-कभी अभिनेताओं में अपने-अपने अभिनय-कौशल की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में कुछ उपस्थित हो जाता था। सामान्यतः ये विवाद दो क्षेत्रों के होते थे—शास्त्रीय और लोकिक। शास्त्रीय विवाद का एक सरल उदाहरण कालिदास के 'मासिकान्मिमि' में है। इसमें रस भाव अभिनय मंथना मुझाएँ घाबि विचारणीय होती थीं। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमें लोक-जीवन की वेष्टाओं के उपस्थान पर मतभेद हुआ करता था। ऐसे अवसरों पर 'नाट्य-शास्त्र' प्राथमिक (प्रथम) नियुक्त करने का विधान करता है। प्राथमिक के सन्तान 'नाट्य-शास्त्र' में दिए हुए हैं। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता या तो यज्ञविद् कर्मकाण्ठो निर्णायक (प्राथमिक) नियुक्त होता था। यदि भाव की मंथना में विवाद हुआ तो नर्तक निर्णायक होता था। इसी प्रकार छन्द के मामलों में छन्दोविद् पाठ-विस्तार के मामलों में वैवाकरण राजकीय आचरण के विषय में हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। राजकीय विभव या राजकीय अष्टपुर का आचरण या नाटकीय सौष्ठव का नाममा होता था तो राजकीय दरबार के अन्तर्गत बुलाए जाते थे। प्रभान की मंथना आकृति और लक्ष्मी वेष्टाएँ, वस्त्र और आचरण का योजना तथा नेपथ्य-रचना के प्रसंग में अधिकारों को निर्णायक बनाया जाता था और लक्ष्मी-मुद्रा के परस्पर-आकर्षण वाले मामलों में यज्ञिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। धृत्य के आचरण के विषय में विवाद उपस्थित हुआ तो राजा के भृत्य प्राथमिक होते थे (२७-६१ १७)। अतएव ही जब शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्र के जानकारों की नियुक्ति होनी थी। इस प्रकार 'नाट्य-शास्त्र' ने स्पष्ट रूप से निर्देश दिया है कि लोकधर्मों विधियों की कमीदी लोक जीवन ही है।

७ शास्त्र के विभिन्न अंग

वैसा कि ऊपर बताया गया है कि नाट्य-वेद में वो वस्तुएँ हैं— बिधि और शास्त्र । पाँचवें अध्याय तक पूर्वरंग की बिधि विस्तारपूर्वक बतायी गई है । छठे अध्याय में पूर्वरंग बिधि के सुग लेने के बाद मुनियों के पाँच प्रश्नों का उत्तर है ।

- १ रस क्या है और रस का कारण क्या है ?
- २ भाव क्या है और वे किस वस्तु को याचित करते हैं ?
- ३ संग्रह किसे कहते हैं ?
- ४ कारिका क्या है ?
- ५ निवृत्ति किसे कहते हैं ?

भरत मुनि ने उत्तर में बताया कि ज्ञान और चित्त समस्त है इसलिए नाट्य का कोई अंग नहीं है । लेकिन संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह में धारा लोगों को बताईया । उन्होंने बताया कि सूत्र और भाष्य में जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहे गए हैं उनका संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहा जाता है और सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र का संग्रह उन्होंने एक श्लोक में बताया । वह श्लोक है

रसाभावाद्यभिप्रायः सर्वावृत्तिप्रवृत्तयः ।

सिद्धि स्वरगतवातोद्ययानं रसं च संग्रहः ॥

अर्थात् नाट्य-शास्त्र के संग्रह में इतने अंग हैं

१ रस २ भाव ३ अभिनय ४ अर्थ ५ वृत्ति ६ प्रवृत्ति
७ सिद्धि ८ स्वर ९ वातोद्य १० यान और ११ रस ।

इस संग्रहश्लोक में भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के ११ अंगों का निर्देश दिया है । प्रारम्भ में इनका मध्यम में विवरण दिया है और बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या की है । वाच्य इन ११ विषयों का निबन्धन ही शास्त्र है । स्पष्ट जान पड़ता है कि इन श्लोकों के सिने जाने के पूर्व इन विषयों पर सूत्र कारिका और भाष्य लिखे जा चुके थे और इन श्लोकों की निबन्धन भी बजाई जा चुकी थी । छठे अंग

घोर घाठनें अध्याय में कुल भी हैं घोर कारिगर्ह भी हैं प्रत्येक सम्प्र
की निरुक्ति भी बतायी गई है। वय में इन विषयों की जो व्याख्या की
गई है वह बहुत कुछ भाष्य की सीमा पर है। कई हसोकों को आनुवंशिक
कहा गया है। आनुवंशिक धर्मों बंद-परम्परा से प्राप्त। स्पष्ट ही
नाट्य-शास्त्र अपने पूर्व के एक विद्यालय नाट्य-साहित्य की स्थिति की
सूचना देता है। विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के पहले शास्त्रकार ने
संक्षेप में इनकी बर्णन कर दी है। उन्होंने बताया है कि गृह्यार हास्य
आदि घाठ रस हैं रति-हास आदि घाठ स्वाधी भाव हैं इनके प्रति
रिक्त स्नेह स्वर्ग आदि घाठ सात्विक भाव हैं। इस प्रकार कुल मिला
कर भावों की संख्या ४६ है। काव्य-रसिकों के निकट वे भाव काशी
परिचित हैं अतएव हम उनका नाम नहीं बिना रहे हैं। ध्यान बढाया
गया है कि अभिनय चार प्रकार के होते हैं—१ प्रायिक २ वाचिक
३ आहार्य और ४ सात्विक बर्णन हो है—१ लोकबर्णन २ नाट्य
बर्णन ३ विन वृत्तियों में नाट्य प्रतिष्ठित होता है वे चार हैं—धारणी
सात्वती कैवली और धारणी प्रवृत्ति की पाँच हैं—अनन्ती
वाचिकार्या नामकी पाँचाली घोर मध्यमा —छिद्रियाँ दो प्रकार की
हैं—दीविकी और मानुषी वद्वज प्रवृत्ति सात स्वर हैं जो मुख और
बेलु दोनों ही से निकलते हैं आलोच्य चार प्रकार के हैं—तल ध्वनद
धन और सुपिर। इनमें तार नाम बाज तल है, मुखवादि ध्वनद है, ताल
देने वाले धन हैं और बंधी सुपिर (छिद्रवुक्त) है। गान पाँच प्रकार के
होते हैं—अपेय आक्षेप निष्प्राप्य आहारिक और ध्रुवादेन। रम्यं
तीन प्रकार के होते हैं—चतुरस्र विद्वष्ट और निम्य। संक्षेप में यही
शास्त्र में विषय है—

अथमेवोऽप्रवृत्तानां व्याख्येयं भाष्यसंग्रहः ।

इन्हीं ११ विषयों के विस्तृत विवेचन की नाट्य-वेद का शास्त्र
अर्थ कहा गया है। यह विधि से मिलन है। इनके अनेक अक्षेपधेरी का
ज्ञान बताया गया है और मुनिपूर्वक बताया गया है कि इनका प्रयोग

कृत्रिम बयों और बड़े किये जाता चाहिए। विधि व्यवस्थ करनीय है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और उदाहरण से युक्त है। उसमें संका और समाधान के भिन्न स्वरूप हैं और शैक्षिक विवेचन की पुष्टि है।

८ वर्तमान नाट्य शास्त्र

नाट्य-शास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'हाम' में सन् १८६८ में छपने लम्बा 'हयकाक' के परिशिष्ट में नाट्य-शास्त्र के १०वें व ११वें और १२वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी० रैग्नाड ने भी नाट्य-शास्त्र के १२वें और १३वें अध्याय और सन् १८८४ में 'रेटोरिके मन्त्र' में १३वें और १४वें अध्याय का प्रकाशन कराया। 'निर्णयदायर' ग्रन्थ में काव्यमाना मीरीज में कुछ नाट्य-शास्त्र प्रकाशित हुआ। और फिर उत्तर कुछ दिन बाद १९१९ में काशी में १० बटुकनाथ तर्मा और १० बमदेव उपाध्याय ने 'काशी संस्कृत मीरीज' (जो शायद 'बीरम्बा संस्कृत मीरीज' के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्य शास्त्र का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। सन् १९२६ में श्री रामकृष्ण कवि ने अधिनिरगुप्त की सहस्रगुरु टीका अधिनिर भारती के नाम नाट्य-शास्त्र के प्रथम पाठ अध्यायों का सम्पादन करके गायकवाड प्रिण्टिंग मीरीज में प्रकाशित कराया। ८वें से १८वें तक के अध्यायों की पुनरी प्रिण्ट सन् १९३४ में प्रकाशित हुई और तीसरी प्रिण्ट भी अब प्रकाशित हो गई है। जो कवि ने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका में दिया है। उस भूमिका में और महामहाराष्ट्र १० वीं व १० वीं जाने में ध्यान दिली प्रोफ़ेसर मंडल जोरजिब में विचारपूर्वक इन संस्करणों में पाए जाने वाले विभिन्न का और पाठ भरी की चर्चा की है। उसमें बताया है कि नाट्य-शास्त्र के पाए जाने वाले विभिन्न करो में बरत पाए हैं।

वर्तमान नाट्य-शास्त्र से यह स्पष्ट है कि भाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है। १४, १५ तथा १६ ध्यायों में भी जम्मे-जम्मे पद्यांश पाए हैं जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली में लिखे गए हैं। कम-से कम १५ श्लोक और १६ ध्यायों धानुर्वस्य अर्थात् बंधानुक्रम से प्राप्त बछायी गई हैं। कुछ सुमानुबद्ध ध्यायों हैं जो श्लोकरूप में लिखे हुए मूर्तों की ध्याया हैं। इन्हें सुमानुबद्ध या सुमानुबद्ध ध्यायों कहा गया है। सबभय सी पद्य ऐसे हैं जिन्हें 'यव श्लोका' या 'ध्यायार्थ' कहकर उद्धृत किया गया है और उनके बारे में यमिनव पुष्ट ने कहा है कि ये प्राचीन ध्यायों के कहे हुए श्लोक हैं।^१ इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में पूर्व-परम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्य-शास्त्र में कुछ अंश निरुक्त ही बहुत पुराना है। उपर्युक्त नाट्य-शास्त्र का लेखक स्वीकार करता है कि वह परम्परागत मूर्तों का इस्तेमाल रहा है जबकि धारमिक ध्यायों में यह भी कहा है कि यह सबसे पहला प्रयास है। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में कृष्ण और शिलाणि नाम के दो सूत्र-कर्तारों का उल्लेख किया है। यह धारमिक की बात है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में मानी प्रयत्न पूर्वक इन दो ध्यायों का नाम छोड़ दिया गया है। सम्भवतः वर्तमान रूप के लेखक या सम्पादक को इस शास्त्र की सर्वप्रथमता सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक लगा हो (आवश्यकता में बासुकि नाम के एक प्राचीन ध्यायों का यह मूल उद्धृत किया गया है कि इन्होंने भी भाषों से उद्धृता उत्पन्न (रस-सम्भव) होना बताया है और प्रयास स्वल्प नाट्य-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत किया है^२ जो वर्तमान नाट्य-शास्त्र में 'यमिनव जागरतोना' कहकर उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि किसी बासुकि नाम के ध्यायों की किसी वृत्ति से वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक परिचित यमिनव या

१ 'यमिनव भारती' ग्रन्थ १ ६, पृ० ३२८।

२ भा० प्र०, पृ० ३६ ३७।

परन्तु इनका नाम देना किसी कारणवश उचित नहीं समझा । पाणिनि ने जिन दो व्याचार्यों का उल्लेख किया है उनकी कुछ बातें भी इन परम्परा-प्राप्त कारिकाओं या सूत्रों में आई हैं या नहीं यह कहना कठिन है । नन्दिनेश्वर तन्हु (यह भी अमिनव गुप्त के मत से नन्दिनेश्वर का ही दूसरा नाम है) कोहल धारि व्याचार्यों का नाम लेकर उल्लेख है और 'अण्वर्धेय' नामक शास्त्र की भी खोज है । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक ऐसे लोगों का नाम उल्लेख करने में नहीं हिचकता जिनकी प्रसिद्धि देव कोटि के लेखकों में है परन्तु मनुष्य-कोटि के लेखकों का वह नाम ब्रह्मर नाम नहीं लेना चाहता । उद्देश्य है शास्त्र की सर्वप्रथमता स्थापित करने देना । कोहल को मनुष्य-कोटि का व्याचार्य माना गया है, इस लिए अविष्यवाणी के रूप में^१ इनका उल्लेख किया गया है और प्रथम अध्याय में इन्हें भरत के पुत्रों में गिनाया गया है ।

ऐसा जान पड़ता है कि नाट्य-शास्त्र का कुछ अंश काशी पुराना है । महामहोपाध्याय डॉ० पी० बी० कान्ने का अनुमान है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का छठा और सातवाँ अध्याय (रसभाव-विवेचन) ८वें से १४वें तक के अध्याय (जिनमें अभिनय का सविस्तर विवेचन है) तथा १७वें से २२वें तक के अध्याय किसी एक समय प्रचित हुए थे । छठे और सातवें अध्याय के अद्य-अद्य और आर्याणं सन् ईसवी के दो सी वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थीं । वर्तमान नाट्य-शास्त्र को जब अन्तिम रूप दिया गया तब वे जोड़ी गई^२ । ध्याये जाकर उद्घोषित बताया है कि सन् ईसवी की तीसरी या बीसवीं शताब्दी में नाट्य-शास्त्र को नव मित्र से बनाया गया और जयमें मूलमाध्य तीसरी के गद्य पुरानी आर्याणं तथा बनीक और ओढ़े गये और नवीन रूप देने वाले सम्पादक ने भी कुछ

^१ पृ० ३६ ६१ ।

^२ पृ० १८ ।

व्याख्यानमक कारिकाएँ लिखकर धोकीं ।^१ डॉ. काने ने इसके पक्ष में घनेक प्रमाण दिए हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को बाधित नहीं होगी ।

ऊपर की विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भारत के नाट्य-शास्त्र का वर्तमान रूप घनेक परम्परा प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परिवर्तन भी है । इसका अन्तिम सत्यात्मक रूप हुआ था यह कहना कठिन ही है, परन्तु सन् ईस्वी की तीसरी सताब्दी तक उमने यह रूप व्यवस्थ ही में लिया होना क्योंकि कामिदास-जीव नाटककार को इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था । इस बात के लिये विद्वानों ने प्रमाण दिए हैं ।

६ नाट्य-शास्त्र के सद्योभूत पाठक

वर्तमान नाट्य-शास्त्र मुख्य तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है । प्रथम (१) और मुख्यतः तो अभिनेताओं को सिखा देने का है । इन लोगों को नाट्य-शास्त्र में वरत-पुत्र कहता है । नाट्य-शास्त्र का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि से ऊँची मान्यता प्राप्त हो । दूसरे (२) सखीभूत बोलता प्रेक्षक या सामाजिक है । भारतीय नाट्य-शास्त्र प्रेक्षकों में घनेक चर्चों की प्राप्ति रखता है । संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के दृष्ट्य को कैसा जाना चाहिए, इन विषय में नाट्य-शास्त्र में स्पष्ट रूप में कहा है (२७-२९ और धागे) कि उसकी सभी इन्द्रिय वृत्त होनी चाहिए अर्थात् उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे ध्यानकल चिट्ठिन धारिण्य कहते हैं कैसा होना चाहिए) शेष का ध्यानकार और धनी होना चाहिए । जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और धानन्द मनक वृत्त देखकर धानन्दित न हो सके अर्थात् जो खिन्नधीन न हो उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक या शरीर का वर नहीं देना चाहता । इस

उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाट्य-शास्त्र अनेक प्रकार की नाट्य-कृतियों का विवरण करता है और ऐसे इंगित बनाता है जिसमें हास्य रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के माध्यम इंगित कला और भाषा द्वारा बहुत कुछ बनाया जा ही समझ में । नाट्य-शास्त्र में सभी नाट्य कृतियों का विष्णुसर्गक संघट विद्या गया है । आदर्श को समानुभूति में उद्घाटन पहुँचा सकती है । जसा कि ऊपर बताया गया है अनिवार्य रूप से सामाजिक को नाट्य-विद्या का उपयुक्त वाक्य नहीं मानना । पर यह बात सगुण नहीं मान पड़ती । श्रीमता (१) मर्यादित धारा कवि का नाटककार है । शास्त्रकार नाट्य का निबन्धन का विधियों बनाता है और क्या के विभिन्न व्यवस्था और अभिनय की विभिन्न कलाओं के मध्य में कवि और पटना-प्रवाह के परम्परा आधारित प्रदापान द्वारा विद्वान् ज्ञान का नाटकीय समानुभूति के मूल्य कीर्तना का परिचय करता है । वह धारा करता है कि कवि या नाटककार न मूल्य कीर्तनों का प्रच्छा जागरूक होगा और क्या का लेना निबन्धन करने का कि कुशल अभिनेता और सहृदय नाटक प्रवाह दोनों का सम रहना करने में सामान्य होगी । परन्तु नाम में नाट्य शास्त्र का अन्तर्गत हुए विद्वान् नियमों का संश्लेषण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की धारा कवि का नाटककार को ही ध्यान में रखकर शास्त्र-शास्त्रियों को रचना की गई है । 'दण्ड-शास्त्र' ऐसा ही शास्त्र है । उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य-निबन्धन की विधि बनाना है । अभिनय उगरी दृष्टि में बहुत कम है और नाट्य प्रेरक बहुत गीत का में है । अन्य सभी संश्लेषी कला की प्रवृत्ति पर विचार किया जाना ।

१० परम्परा नाट्य-शास्त्र

कई परम्परा भाषाओं में नाट्य-शास्त्र की टीका का भाष्य लिखे हैं । जिनमें अभिनयशास्त्र की अभिनय शास्त्रा प्रसिद्ध है । यह ग्रन्थ पर प्रकाशित हो चुका है । श्रीनिवास नायडू ने उद्भव संस्कृत भाषा की

व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ी।^१ डॉ० कानै ने इसके पक्ष में अनेक प्रमाण दिए हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को बाधित नहीं होगी।

ऊपर की विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-शास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परम्परा प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परवर्ती भी है। इसका अन्तिम सम्पादन कम हुआ या यह कहना कठिन ही है परन्तु सन् ईस्वी की तीसरी सताब्दी तक अमने यह रूप अवश्य ही ने लिया होगा क्योंकि कामिनास-जीने नाटककार का इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। इस बात के लिये विद्वानों ने प्रमाण दिए हैं।

६ नाट्य-शास्त्र के लक्ष्योन्मुख पाठक

वर्तमान नाट्य शास्त्र मूलतः तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। प्रथम (१) और मुख्य लक्ष्य तो अभिनेताओं को शिक्षा देने का है। इन लोगों को नाट्य-शास्त्र में भरत-मुच कहता है। नाट्य-शास्त्र का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि से ऊँची मान्यता प्राप्त हो। दूसरे (२) लक्ष्योन्मुख छोटा प्रेक्षक या सामाजिक है। भारतीय नाट्य-शास्त्र प्रेक्षकों में अनेक ज्ञानों की प्राप्ति रखता है। संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय नवीन और अमिनय के दृष्टा को कैठा होना चाहिए, इस विषय में नाट्य-शास्त्र ने स्पष्ट रूप में कहा है (२७-५१ और धार्य) कि उसकी समी दृष्टि दृष्ट होनी चाहिए अहापोह में उसे पट्ट होना चाहिए (अर्थात् जैसे प्राक्कस 'व्रिटिकस प्राक्कस' कहते हैं, वैसे होना चाहिए) दोष का आनकार और रागो होना चाहिए। जो व्यक्ति लोक से लोकान्वित न हो सके और आनन्द बनक दूर्य देखकर आनन्दित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक या दर्शक का न होना चाहिए। इस

उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाट्य-शास्त्र अनेक प्रकार की नाट्य-क्रियाओं का विवेचन करता है और ऐसे इंगित बताता है जिससे दर्शक रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के आकार इंगित चेष्टा और भाषा द्वारा बहुत कुछ ज्ञानायास ही समझ में। नाट्य-शास्त्र में ऐसी नाट्य क्रियाओं का विस्तारपूर्वक संग्रह किया गया है जो दर्शक को रसानुभूति में सहायता पहुँचा सकती हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है अभिनय मूल सामाजिक को नाट्य-शिक्षा का उपयुक्त पात्र नहीं मानते। पर यह बात संगत नहीं जान पड़ती। सीसुरा (१) लक्ष्मीभूत भोगा कवि या नाटककार है। शास्त्रकार नाट्यो के निबन्धन की विधियाँ बताता है और कथा के विभिन्न अवयवों और अभिनय की विभिन्न चेष्टाओं के संयोग से चरित्र और घटना-प्रवाह के परस्पर साक्षात्-व्यत्यासात् द्वारा विकसित होने वाले नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्म कीमतों का परिचय कराता है। वह धारणा करता है कि कवि या नाटककार इन सूक्ष्म कीमतों का अन्ध्र जालकार होना और कथा का ऐसा निबन्धन करना कि कुछस अभिनेता और सहस्र पाठक-श्रेष्ठक दोनों को रस ग्रहण करने में आसानी होनी। परन्तु काम में नाट्य-शास्त्र के बताए हुए विस्तृत नियमों का संश्लेषीकरण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही ध्यान में रखकर छोटे-छोटे शर्कों की रचना की गई है। 'दश-स्वक' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य-निबन्धन की विधि बताना है। अभिनेता उनकी दृष्टि में बहुत कम हैं और सहस्र प्रेक्षक बहुत गौरव रूप से हैं। आगे हमी संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति पर विचार किया जाएगा।

१० परधर्मी नाट्य-ग्रन्थ

यदि परधर्मी आचार्यों ने नाट्य शास्त्र को टीका या भाष्य लिखे थे। इनमें अभिनवभूषण की 'अभिनव भारती' प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रकाशित हो चुका है। नीतिशर, राम्यदेव उद्भव संयुक्त आदि की

टीकाओं की चर्चा तो भिन्न जाती है पर वे अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।

नाट्य-शास्त्र (बीकान्णा संस्करण) के बीमर्ष अध्याय में रघुचरण विद्याम इक्कीसवें में सन्धियां और उनके अंतो तथा बाईसवें अध्याय में नृतियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इन अध्यायों से सामग्री लेकर कई पाचार्यों ने ग्रन्थ लिखे थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है जनकदत्त का 'रघुचरण' जिस पर उनसे आई कमिष् की व्याख्या (मृत्ति) है। वे दोनों पाचार्य आई थे और सन् ईसवी की इसवी शताब्दी के अन्त में हुए थे। इनके अतिरिक्त सावर मंडी का 'नाटक मञ्जर रत्नकोश' (११वीं शताब्दी) रामचन्द्र और मुञ्जय्य का 'नाट्यरत्न' (१२वीं शताब्दी का अन्त्य भाग) शारदाचरण का भाव प्रकाशन (१९वीं शती) शिवाभुषाण की 'नाटक-परिभाषा' (१९वीं शताब्दी) कम बीकान्णा की 'नाटक-चंद्रिका' (१२, १६वीं शताब्दी) मुञ्जय्य मिश्र का 'नाट्य-त्रयी' (१७वीं शताब्दी) आदि ग्रन्थ हैं। इन सबका आधार भारत मृत्ति का नाट्य-शास्त्र ही है। मोक्षचन्द्र (११वीं शताब्दी) ने 'शृंगार प्रकाश' और 'कुरस्वती कण्ठमण्डप' में काव्य काव्यांशों के साथ नाटक का भी विवेचन किया है। हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में भी कुछ नाटकी की विवेचना है। विश्वनाथ के 'प्रताप चन्द्र मधोभूषण' और विद्वत्नाथ के 'साहित्य दर्पण' में काव्य के अन्त अंतों के विवेचन के साथ नाट्य-विवेचन है। अन्तिम ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है।

इन नये ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य कवि को नाटक लिखने की विधि बताना है। इनमें वधावस्तु, नायक-नायिका रस-विचार रूपक-मञ्जर आदि का विस्तार है। यद्यपि इन सबका मूल अरुण का नाट्य-शास्त्र ही है तथापि इनमें परस्पर अन्तर भी कम नहीं है। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है 'रघुचरण'।

११ रघुचरण

'रघुचरण' के लेखक विष्णु-मुञ्जय्य हैं जो मुञ्जय्य (१७४ १११ ई०) के समानतः थे। अरुण के नाट्य-शास्त्र की प्रति विस्तीर्ण

समझकर उन्होंने इस ग्रन्थ में नाट्य-शास्त्रीय उपयोगी बातों को गतिष्ठ करके कारिकाओं में यह ग्रन्थ लिखा। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो अधिकतर कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्दों में लिखी गई हैं। सधेप में मिलन के कारण ये कारिकाएँ कुछ भी हो गई थी। इसीलिए उनके भाई धनिक ने कारिकाया का धर्म स्पष्ट करने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ पर 'धनमोक' नामक वृत्ति लिखी। यह वृत्ति न होती तो धनञ्जय की कारिकाओं का समझना कठिन होता। इसीलिए पूरा ग्रन्थ वृत्ति सहित कारिकाया को ही समझना चाहिए। धनञ्जय और धनिक दोनों का ही महत्त्व है।

भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के बीसवें अध्याय को 'दशरूप-विकल्पन' (२१) या 'दशरूप विधान' कहा गया है। इसी आधार पर धनञ्जय ने अपना ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' दिया है। नाट्य-शास्त्र में निम्नलिखित दश रूपों का विधान है—नाटक प्रकरण र्थक (उन्मुखिकांक) व्याघोष भाग समवकार, बीबी प्रहसन द्विम धीर ईहामृग। एक आधारहूँ रूपक 'नाटिका' की जहाँ भी भरत के नाट्य-शास्त्र धीर दश रूपक में आई है। परन्तु उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना गया है। भरत ने नाटिका का नाटक धीर प्रकरण में अन्तर्भुक्त कर दिया है (२० ६४)। परवर्ती धात्राओं में रामचन्द्र धीर युवचन्द्र ने अपना नाट्य धर्म में नाटिका धीर प्रकरणिका को दो स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या १२ कर दी है तथा बिम्बनाथ ने नाटिका धीर प्रकरणिका को उपरूपक मानकर रूपकों की संख्या हम ही मानी है। धनञ्जय ने भरत का अनुसरण करते हुए नाटिका का असेप तो कर दिया है पर उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना। रूपकों के मेवक तरब हैं कथावस्तु भाषक धीर रस। नाटिका में ये तीनों नाटक धीर प्रकरण में मिल गयी हैं इसीलिए भरत मुनि ने (२ ६१ ६४) में इसे नाटक धीर प्रकरण के भागों पर धाधित कर दिया था। धनञ्जय ने इसी का अनुसरण किया है। इस प्रकार रूपकों की संख्या हम जगण रतकर ने मंगलाचरण में विष्णु के

रस (प्रचक्षर) कर्तों के साथ समानता बताकर स्वेय करने का प्रचक्षर भी पा गए हैं।

१२ रूपकों के भेदक तत्त्व

जैसा कि ऊपर बताया गया है जनकजय ने कथावस्तु, नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को चार प्रकारों में विभक्त किया है। इनमें प्रथम में कथावस्तु का विवेचन है दूसरे में नायक तीसरे में पुरुषों और भारतीय आदि वृत्तियों और चौथे में रस का विवेचन किया गया है।

यदि वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से रूपकों के भेद की कल्पना की जाय तो स्पष्ट ही बहुततर मोटे भेद स्वीकार करने पड़ेंगे। क्योंकि जनकजय के मत से कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—(१) प्रस्ताव (इतिहास-गृहीत) (२) उत्पाद (कल्पित) और (३) निध। नेता या नायक भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम और (३) नीच। स्वभाव से ये चार प्रकार के भी रहे गए हैं—(१) उदात्त (२) उद्धत (३) ललित और (४) प्रसन्न। पर तीन भेद—उत्तम मध्यम नीच—आवधिक हैं। रस साठ हैं—गुणार और, कल्प भीमत्स रीति हास्य व्यंग्य और भयानक। जनकजय साठ रस को आठके में नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार वस्तु, नायक और रस भेद से $3 \times 3 \times 8 = 216$ भेद हो जाते हैं। परन्तु भरत व्यावहारिक नाट्य प्रयोग के विवेकक थे। उन्होंने उन्हीं रस रूपकों की विवेचना की है जो उनके समय में प्रचलित थे। और किसी में भी इन प्रकार रूपक का विभाजन नहीं किया।

१३ विभिन्न रूपकों की कथावस्तु

बोर् भी रसक हो उनमें एक कथा होती। जनकजय ने अपने ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश के उपसंहार में रसक को नेतृ रसानुगुणा कथा

कहा है। रस मुख्य है रस और नेता के अनुकूल ही कथा होती है। कवि कथा को वा तो रामायण महाभारत याचि प्रख्यात ग्रन्थों से लेता है या कल्पना द्वारा स्वयं रच लेता है। इस प्रकार प्रख्यात और उत्पाद्य (कल्पित) ये दो भेद हो जाते हैं। कभी कुछ घस तो इतिहास-सूचीत होता है और कुछ कल्पित। उस हानत में कथा मिश्र कही जाती है। कथा का इस प्रकार तीन धर्मियों में विभाजन करना आवश्यक है क्योंकि कवि (नाटककार) के लिये यह बात महत्व की है। प्रख्यात कथा में वह बहुत-कुछ बचन में होता है। कल्पित कथा में वे बचन नहीं होते। दोनों के संश्लेषन के कोशल में भेद होता है। मिश्र कथा में भी बचन कुछ-न-कुछ रहता ही है। रूपकों की कथावस्तु इस प्रकार अलग अलग भिन्न की हो जाती है—

रूपक का नाम	कथावस्तु का प्रकार
नाटक	प्रख्यात
प्रकरण	उत्पाद्य
नाटिका	कथा उत्पाद्य किन्तु नायक प्रख्यात
भाज	उत्पाद्य
बहुसन	उत्पाद्य
दिम	प्रख्यात
व्यासोप	प्रख्यात
समवकार	प्रख्यात
बीषी	उत्पाद्य
उन्मृष्टिकाव	प्रख्यात
ईहामृम	मिश्र

१४ प्राधिकारिक और प्रासंगिक कथा

एक बार नाटककार जब कथा का आहरण या उपकल्पन कर लेता है तो उसे सरल या जटिल कथा-रूपों में परिवर्तन कर लेता है। यह जरूरी

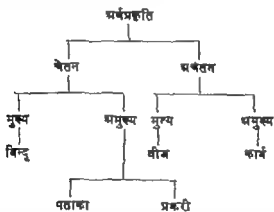
नहीं है कि सभी कथा-वस्तुएँ जटिल ही हों। पर जो जटिल होती हैं उनमें एक या एकाधिक कथाएँ मुख्य कथा से जुड़ जाती हैं। मुख्य कथा को प्राथमिक और सहायक कथाओं का प्राथमिक कहते हैं। बहुत-से कथकों का गठन ऐसा होता है कि उनमें प्राथमिक कथा या ही नहीं पाती। ये प्राथमिक कथाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जो प्राथमिक कथा के समानांतर दूर तक चलती रहती हैं जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा दूसरी वे जो बोझी दूर तक चलकर बिरत हा जाती हैं जैसे रामायण में रावण या बटायु का प्रसंग। पहली को पताका कहते हैं दूसरी को प्रकरी। पताका और प्रकरी में एक और भेद है। पताका के नायक का कुछ अपना स्वार्थ भी होता है किन्तु प्रकरी के नायक या नायिका का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। इस प्रकार कथावस्तु के दो सहायक भेद हैं। इनकी स्थिति क्रमशः जटिल कथावस्तु में ही होती है।

११ अर्थप्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—(१) बीज (२) बिन्दु, (३) पताका (४) प्रकरी और (५) नाब। इनमें पताका और प्रकरी की चर्चा ऊपर हो चुकी है। अन्वय न त्यक्त की कथावस्तु के धारण की उस स्वस्या दृष्टि बात को बीज बताया है जो त्यक्त के फल का हेतु होता है जैसे भीम के कोप से परिपुष्ट मुनिष्ठिर का उरसाह बीज है जिसका फल है द्रौपदी का केत-संयमन कर्ण नाब। इस प्रकार बीज धारण में बोझों में बहा हुआ कथावस्तु का वह भग है जो धागे चलकर पलसिद्धि का हेतु बनता है। बीज हेतु है नाब फल। बिन्दु को अन्वय में इस प्रकार समझाया है कि अन्तर्गत अर्थ का जब विच्छेद होता है तो मूल कथा में जोड़ने का काम बिन्दु करता है। यह परिभाषा कुछ स्पष्ट नहीं है। कई लोग इसमें भ्रम में पड़ जाते हैं और अनेक प्रकार की अस्मा-कल्पना करने लगते हैं। बलिक की युति में कहा गया है कि

धर्मप्रकृति का प्रमाण-विधि का हेतु हुआ करती है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के माध्यम-वर्णन में इन धर्मप्रकृतियों को 'उपाय' कहा गया है। इन पाँच उपायों में दो—बीज और कार्य—अचेतन हैं तीन—विष्णु पताका और प्रकरी—चेतन हैं। माध्यम-वर्णनकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि न तो ये उस क्रम से आते हैं जिस क्रम से उनको बिनाया गया है और न अवश्यम्भावी या अपरिहार्य ही हैं। इनका सम्मिश्रण यथावधि किया जाना चाहिए। बहुत-से ऐसे कथानक हो सकते हैं जिनमें पताका या प्रकरी हो ही नहीं बहुत-से ऐसे होंगे जिनमें इनका क्रम उल्टा हो सकता है। वस्तुतः ये धर्मप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपाय हैं और आरम्भ प्राप्ति प्राप्ति बताई जाने वाली अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं।

निम्नलिखित सारणी से धर्मप्रकृतियों का स्वल्प समझ में आ जाएगा—



इस प्रकार ये धर्मप्रकृतियाँ 'जन' धर्मों में मुख्य साध्य के हेतुमूलक विनिश्चित उपाय हैं। इनमें 'बीज' नाटक के इतिवृत्त या कथावस्तु का उपाय है। यह मुख्य है क्योंकि यही क्रमशः संकुचित-वस्तुनिष्ठ होकर अन्तर्गत में परिणत होता है। सामुख्य में नट-बीजमूलक उचितियों को कह देता है और बाद में मुख्य कथा का कोई प्रमुख पात्र उसे बुझाता है।

यह क्या की वह स्थिति है जो बटमाओं के संघट से मुख्य पात्र के सम्मुख किसी के द्वारा उपस्थित कर दी गई होती है। यह मोच-विषार कर प्रयत्नपूर्वक किया हुआ पात्र-विशेष का कार्य न होने से उसे अचेतन माना जाता है। फल इस बीज के पल्लवित-पुष्पित होने से उपस्थित होता है। बीज मुख्य है कम अमुख्य। पताका प्रकरी और बिन्दु चेतन प्रयत्न है समझ-बूझकर नाटककार द्वारा संयोजित होते हैं। इसमें भी बिन्दु मुख्य होता है। नाटक का बटना-प्रवाह जब-जब धमीष्ट विद्या में हटकर दूसरी धीर मुकने लगता है अलग होने लगता है। तब तब नाटककार नायक प्रतिनायक सहकारी आदि पात्रों की सहायता से उसे धमीष्ट विद्या की ओर से जाने का प्रयत्न करता है। इसीलिए यह तारे कबानाग में विद्यमान रहता है। पताका प्रकरी और बिन्दु कवि के अनुध्यान समय तक से जाने वाले साधन है इसीलिए इन्हें 'चेतन' माना गया है। पताका धीर प्रकरी कबानक में रहें ही वह आवश्यक नहीं है पर बिन्दु रहता है। बल्लुव बीज बिन्दु धीर कार्य से तीन आवश्यक धर्मप्रवृत्तियाँ हैं। बीज पर कवि का नियन्त्रण नहीं होता परन्तु बिन्दु उसके उस प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण का ही नामांतर है जो कबानक को धमीष्ट विद्या में जोड़ता रहता है। ये दो मुख्य हैं।

बिन्दु पात्रों की कवि-निबद्ध चेतन सेट्टाएँ हैं पर कार्य अचेतन साधन जैसे मर्म-मायमो दुर्ग कोश धन आदि। चित्ती कृश का उपमान से तो बीज बीज है बिन्दु उसे मुरझित पल्लवित पुष्पित करने का सौदय प्रयत्न है कार्य कृपास व्याह आदि हैं पताका किसी स्वाभिमिष्टि के प्रतिपादन में निमृगण मानी है और प्रकरी कवचित् कवचित् धनायाम उपस्थित हाव्य गतायना रूप धाम बागा द्वितीय।

१६ पाँच अवस्थाएँ और पाँच मन्त्रियाँ

चरित्र के अनुगमन रूप की दृष्टि वाले नायक भास्त्र के द्वारा आरम्भ बिन्दु पात्र कार्य की पाँच अवस्थाएँ पाली है—आरम्भ प्रयत्न

प्राप्तपाप्मा नियताप्ति घोर फलानाम । दूयने धार्या गृहे भता के चरित्र (वृत्त) को पाँच अवस्था कहते हैं । भरत ने इन्हें साधक के व्यापार की अवस्थाएँ कहा है (२१७) । धर्मजय ने भरत का ही अनुसरण किया है । दस्तुत वृत्त घोर व्यापार में कोई विक्षेप अन्तर नहीं है । पात्र जो कुछ करता है (व्यापार कार्य) वही उसका अङ्गित है । नायक के व्यापार की ये पाँच अवस्थाएँ हैं जो कथावस्तु में कम प्रवेश करती हैं । ये स्वयं कथावस्तु नहीं हैं कथावस्तु में कमजोर विवक्षित होने वाले साधक-व्यापार या नायक के कार्य के बिना घोर भी बहुत-सी बानें होती हैं ।

इस प्रकार सर्वप्रवृत्तियाँ कथानक के अनीष्ट सत्य तक से जान के लिए नाटककार द्वारा निबद्ध उपाय हैं और अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं । नेता या नायक के मन में फल प्राप्ति के लिये औत्सुक्य (प्राग्भ्य) उसके लिये प्रयत्न (प्रयत्न) उसके प्राप्त होने की आशा (प्राप्तपाप्मा) विघ्नों के समाप्त हो जाने से उसके प्राप्त होने की निश्चितता (नियताप्ति) और उसकी प्राप्ति (फलानाम) ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं । ये नाटक को विभिन्न भाव घोर घटनाओं से समृद्ध करती हैं । किन्तु कवि या नाटककार का सबसे बड़ा कीमान बिन्दु की योजना में प्रकट होता है । इसी उपाय के द्वारा वह कथा को अन्तर्गत प्रसंगों से बहकने से रोकता है और नायक की प्रयत्नादि अवस्थाओं को जागरूक बनाए रखता है । नाटक रचना कठिन काम है । बिन्दु-विधान भी कठिन साधना है । सरा भी कथा कहनी तो रचनात्मकता मुश्किल हो पाता है । पञ्चत पद पर नाटककार पताका घोर प्रकृति-जैसे चेतन उपायों का आश्रय लेता है और कार्य जैसे अचेतन उपान्त (सैव्य कोष आदि) का भी सहारा लेता है । पर बिन्दु-विधान सर्वत्र आवश्यक होता है । 'प्रकृति' में धर्म धर्म का तात्पर्य है पूरा नाटक और प्रकृति गन्ध का तात्पर्य है प्रकाश या उपाय । धर्मजय की अपेक्षा रामचन्द्र-युगचक्र ने इसे अधिक स्पष्टता से समझाया है ।

१७ पाँच सन्धियाँ

भरत ने नाट्य-शास्त्र में कहा है कि इतिमूला काव्य का शरीर होता है और पाँच सन्धियाँ उसके पाँच विभाग हैं। जननत्रय के अनुसार किसी एक प्रयोजन द्वारा सम्मिश्र कथा भागों को किसी दूसरे प्रयोजन से युक्त करने वाला सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। ये पाँच हैं, (१) मुख (नाला घबों और इनकी हेतुमूला बीजोत्पत्ति) (२) प्रतिमुख (बीज का उद्भेद या फूटना) (३) गर्भ दिखकर घबुल हो गए बीज का अन्वेषण (४) अवसर्ग या विमर्ग (बीज अर्ध का पुनः प्रकट होना) और (५) उपसंहृति या निर्वहण (बिछरे घबों का एक उद्भव की धार उपसंहरण)। जननत्रय ने एक विवादास्पद कारिका में कहा है कि पाँचों अर्धप्रकृतियों पाँचों अवस्थाओं से सम्मिश्र होकर क्रमशः पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं।^१ यह बात भ्रम पैदा करने वाली ठिठ्ठ हुई है। अर्धप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ 'व्याकरण' पठनान्वय ठीक नहीं बैठता। पताका एक अर्धप्रकृति है प्रकटी बूझरी। पताका के बाद प्रकरी को गिनाया गया है। पताका का उदाहरण है रामायण में सुग्रीव की कथा प्रकरी का उदाहरण है वही शबरी की कथा। लेकिन रामायण में पताका बाद में आती है प्रकरी पहले। कम कहाँ रहा ? बिन्दु एक अर्धप्रकृति है। वह नाटक में मन्त्र गृह्य है। उसे किसी एक अवस्था के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है। भरत के नाट्य-शास्त्र में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। सन्धियों की अवस्था का अनुगामी अवश्य बनाया गया है। अर्धप्रकृतियों से उनका सम्बन्ध नहीं है। लक्ष्य यह है कि पताका में भी सन्धियाँ होती हैं। नाट्यवर्णनार न उन्हें अनुसन्धि कहा है और स्वयं जननत्रय ने भी अवश्य उन्हें अनुसन्धि कहा है। इसलिए जननत्रय की उक्त कारिका जिसमें अर्धप्रकृतियों और

१ अर्धप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थाः सम्मिश्रिताः

व्याकरणेन आपत्तौ मुक्तारताः पञ्च सन्धयः ।

धर्मस्थानों—शेनों के साथ सन्धियों का गठबन्धन किया गया है। आत्मक है। उसकी मरुतमतामुपायी व्याख्या—सोड़ी कष्ट-कल्पना के साथ—इस प्रकार की जा सकती है—‘धर्मप्रकृतियाँ पाँच हैं। धर्मस्थानों भी पाँच हैं। इनके समन्वित रूप से इतिवृत्त बनता है। उसके पाँच विभाग होते हैं जो सन्धि कहलाते हैं। ये सन्धियाँ धर्मस्थानों के क्रम से होती हैं। इस प्रकार की व्याख्या में ब्रह्मासंख्येय का धर्मव्यय ‘धर्मस्थान’ से किया जाएगा। परन्तु ऐसा धर्म कष्ट-कल्पित ही है।

बा. हो सन्धियाँ कथावस्तु के भाग हैं। कुछ मिलाकर इनके १६ भेद हैं जो सम्मेलन कहे जाते हैं। धर्मव्यय ने धर्मप्रकृतियों और धर्मस्थानों का साथ-साथ उल्लेख करके अपने ग्रन्थ के पाठकों में कुछ भ्रम धर्मव्यय उत्पन्न किया है। कीच ने हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत ड्रामा नामक ग्रन्थ में कहा है कि ‘सन्धियों का विभाजन तो ठीक है क्योंकि इसमें नाटकीय संघर्षों पर धोर दिया गया है। इस विभाजन का उद्देश्य है कि किस प्रकार नायक विघ्नों को बीतकर फल-प्राप्ति की ओर बढ़ता है। परन्तु धर्मप्रकृति की कल्पना धर्मव्यय जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद धर्मप्रकृति का विभाजन बेमतलब का जान पड़ता है। फिर पाँच सन्धियों का पाँचों धर्मस्थानों और पाँचों धर्मप्रकृतियों के साथ जोड़ना बाधपूर्ण है।

स्पष्ट है कि धर्मव्यय का हलाक़ इस प्रकार की भ्रान्त धारणा का कारण है। कीच की धारणा नाट्य-शास्त्र की नहीं है बल्कि धर्मव्यय की धारणा है। वस्तुतः ऐसा कि हमने ऊपर दिखाया है धर्मप्रकृति कथा के उचित संघटन का उपाय है धर्मस्थानों नाट्य के नायक की फलप्राप्ति-व्यय विधाओं की धर्मस्थानों हैं और सन्धियाँ इन धर्मस्थानों को अनुक्रम विधा में ले जाने वाले उस कटनावक के जो धर्मप्रकृतियों से मिलकर पूरा इतिवृत्त या कथानक बन जाता है, विभिन्न भेद हैं। इनके १६ भेदों का नाट्य-शास्त्र और ब्रह्मव्यय धारि

घाघों में विस्तारपूर्वक वर्णन है। नीचे की तालिका में इन सन्धियों और संध्यों का सामान्य परिचय हो जाएगा—

सन्धियाँ	अंग
मुख	१ उपजप २ परिकर ३ परिष्कार ४ विनोमन ५ मुक्ति ६ प्रार्थि ७ समाधान ८ विमान ९ परि मादना १ उद्देश ११ वेद १२ करण ।
प्रतिमुख	१३ विनास १४ परिगर्भ १५ विपुल १६ अम १७ नर्म १८ नमस्तुति १९ प्रथम २० निरोध २१ पर्युपासन २२ वक्ष २३ पुष्प २४ उपन्यास २५ वर्ग सहार ।
गर्भ	२६ अमृताहरण २७ मार्ग २८ रूप २९ उदाहरण ३० अम ३१ मयह ३२ अनुमान ३३ लोटक ३४ अधिबल ३५ उद्भव ३६ नभ्रम ३७ आधेय ।
विमर्श (अवमर्श)	३८ अघवाद ३९ सकेत ४० विह्व ४१ इव ४२ दक्षि ४३ कृति ४४ प्रसंग ४५ छमन ४६ अक्षमाय ४७ विरोधन ४८ प्ररीचना ४९ विचक्षण ५० आदान ।
निर्बहण	५१ सन्धि ५२ विनोद ५३ हवन ५४ निर्वह ५५ परिभाषण ५६ प्रसाद ५७ धान्य ५८ ममय ५९ कृति ६० भाषा ६१ उपपुष्प ६२ पूर्वभाव ६३ अपसहार ६४ प्रवर्ति ।

१८ सध्या का प्रयोग आध्यात्मिकतानुसार

इन सभी घघों का नाटक में प्रयोग अभिवाचन नहीं है। मरत ने नाट्यशास्त्र (२११ १००) में कहा है कि कश्चित् कदाचित् ही सभी अंग किसी एक ही रूप में मिलें। कभी-कभी दो-तीन में भी काम चल जाता है। कार्य और अवस्था का ध्यान इन घघों का प्रयोग करना चाहिए। यह महत्वपूर्ण बात कहना परमार्थ भूमि पर है। फिर भी उम्मीद कह दिया है कि कुछ शाग प्रयोजन हैं जिनके लिए इन संध्यों का प्रयोग किया जाता है। वे प्रयोजन छ हैं—अमीष्ट अर्थ की रचना

गोपनीय की मुक्ति प्रकाशन राग और प्रयोग का आदर्श है। इससे यह बात अनुमित होती है कि जहाँ जरूरत हो वही इनका प्रयोग करना चाहिए।

वस्तुतः कपक के कथानक की योजना नेता के स्वभाव और रस के अनुकूल होती है। व्यायोग का नेता या नायक उद्यत नायक होता है। गृन्थार रस उसका मुख्य नहीं है। शोण्ट रस उसके मुख्य हैं। उद्यत स्वभाव का वह नायक प्रारम्भ के बाद चल करता है और तुरन्त फल प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे जाता है। प्राप्तिवाचा और नियताप्ति-वीची संसर्गों में वह नहीं पड़ता। उसे तुरन्त फलप्राप्त चाहिए। उसके कथा नक की योजना उसके हृदयवर्ती वाले स्वभाव को ध्यान में रखकर ही करनी होती नहीं तो रस में व्यावाह पड़नेवा। यही कारण है कि उस कथानक में दर्म और विमर्ष संघर्ष नहीं आ सकती। नीचे की सारणी से स्पष्ट होगा कि किस प्रकार के कपक में किन अवस्थाओं और किन संघर्षों की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

कपकों के नाम	कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं	कौन-कौन संघर्ष होते हैं	कौन-कौन संघर्ष नहीं होती
१ नाटक	सभी (पाँचों)	सभी (पाँचों)	
२ प्रकरण			
३ नाटिका			
४ व्यायोग	प्रारम्भ चल फलप्राप्त	मुख प्रतिमुख निर्बहुनगर्म और विमर्ष	
५ ईहामृत्यु			
६ सम	प्रारम्भ चल	मुख प्रतिमुख	
७ बकार	प्राप्तिवाचा फलप्राप्त	गर्म निर्बहुन	विमर्ष
८ विम			
९ भाव	प्रारम्भ फलप्राप्त	मुख निर्बहुन	प्रतिमुख दर्म विमर्ष
१० प्रहसन			
११ उत्पुष्टि-काक			
१२ वीची			

१६ दृश्य और सूक्ष्म घटा

नाटक और द्रव्य रूपक यदि दृश्य काव्य न होते तो कथावस्तु की विवेचना यही समाप्त हो जाती। परन्तु नाटककार और अभिनेता की कठिनाइयाँ अनेक हैं। बहुत बड़ी कथा को समझ छोड़ी धर में दिखाना पड़ता है। मनी प्रयोग मार्मिक नहीं होते। पर दर्शक को सभी बातें न बताई जाएँ तो कथानक उसकी समझ में ही न आए। इसलिये नाटककार कुछ मार्मिक घंटों को रंगरंग पर दिखाने के लिये चुन लेता है और कुछ को किन्नी-न-किन्नी कौशल से सूचित कर देता है। इस प्रकार कथा के दो भाग हो जाते हैं—दृश्य और सूक्ष्म। दृश्य घंटा का विधान घंटों में होता है। घंटा द्रव्य का प्रयोग क्यों किया जाता है यह केवल अनुमान का विषय है। गणक में इस द्रव्य का प्रयोग कई घण्टों में होता है। सूक्ष्म विच्छिन्न गाढ़ घाति घण्टे परिचित ही हैं परन्तु नाटक के अर्थ से इनका सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। भरत मुनि ने लिखा है (२० १८) कि बड़ बड़ द्रव्य है। भाव और घण्टों के द्वारा माना विधानबुद्धत हाकर घण्टों का धाराह्वन कराता है इसलिये इस अर्थ कहते हैं। इसका एक पुराना अर्थ उतार-बढ़ाव बताने वाला घुमाव भी है। कदाचित् नाटकीय घटनाओं के धाराह्वन-सबरोह को प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता रहा है। मदन-नाट्यशास्त्रियों की भाँति भरत भी एक दिन में समाप्त होने वाली घटना को ही एक घंटा में देने का निर्देश करते हैं। सभी रूपकों में घंटों की संख्या एक ही तरह की नहीं होती। कुछ तो एक ही घंटा में समाप्त हो जाते हैं। नाटक और प्रकरण में ५ से १० तक घंटा हो सकन हैं इसलिये अक्षरशः घण्टों और समयों से कठोरतापूर्वक निवृत्त नहीं हो सकते। घंटों में महत्त्वपूर्ण भावोद्गार प्रयोजन ही दिखाने जाते हैं। या बातें साधारण होती हैं उन्हें कुछ कौशलों से सूचित मान कर दिया जाता है। प्रायः वा अन्तर्गत पात्रों की बातचीत से (चिह्नमय प्रवेष्टक) या नाटक के किन्नी घंटा में अधिनय करने वाले पात्रों द्वारा ही (चक्रमुक्त संवाक्यतार) या परदे के पीछे से

(शुनिका) ये सूचनाएँ दे दी जाती हैं। ये नाटकीय कौशल है। एक और प्रकार का कौशल भी कथावस्तु में प्रयुक्त होता है। उसे आकाशभाषित कहते हैं। पात्र आसमान की ओर मुँह करके कहता है क्या कहत हो ? प्रमुख बात ? ठी सुनो। और असीष् सूचना दे जाता है (अशक्य ५-६७)। सब बात नाटक के सभी पात्रों के सुनने योग्य नहीं होती। कुछ पात्र अपने मनोमात्रों को ओर-ओर से कहता है (स्वगत) यह और पात्र नहीं सुनते कुछ एक-दो सुनते हैं बाकी नहीं सुनते (अनागतिक अपचार्य) और कुछ सब सुनते हैं। ये नाटकीय कविताएँ हैं।

२० नेता या नायक

नाट्य-शास्त्र में नेता या नायक शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। एक तो नाटक के मुख्य पात्र के अर्थ में और दूसरा सामान्य रूप में पात्रों के अर्थ में। पहला अर्थ ही मुख्य है। आर प्रकार के नायकों की चर्चा आती है—वीरोद्यत वीरप्रधान वीरसमित और वीरोद्यत। सबके आगे जो 'वीर' विशेषण लगा हुआ है उसके कभी-कभी भ्रम पैदा होता है। जो उद्यत है वह वीर कैसे हो सकता है ? उद्यत तो स्वभाव से ही अपस वीर बन्ध होता है। वस्तुतः वीर शब्द का संस्कृत में प्रथम अर्थ इस भ्रम का कारण है। एक पुराना 'वीर' शब्द भी था जो 'वी' (सहज-बुद्धि मनोभाव) शब्द से बनता था। इस शब्द से निष्पन्न 'वीर' शब्द का अर्थ होता था सहज बुद्धि वाला मनोभाव-सम्पन्न। वह शब्द नाट्य-परम्परा में सुरक्षित रह गया है। 'वीर' का अर्थ है स्वभाविक बौद्ध-सम्पन्न। वीरोद्यत का अर्थ है स्वभावतः उद्यत। नाट्यदर्पणकार बतला और राक्षस आदि को वीरोद्यत कहते हैं। इस प्रकार उद्यत प्रधान समित वीर उद्यत नायक स्वभाव से ही ऐसे होते हैं इसलिये उनके साथ 'वीर' विशेषण लगाया जाता है। नायक की तरह नायिका के भी स्वभाव बय आदि के अनुसार भेद किए जाते हैं। सबों में इनके भेदोपभेदों का बड़ा विस्तार है।

कुछ रूपकी क नायक उदात्त होते हैं कुछ के प्रधान कुछ के सलिल धीर कुछ क उदात्त । भरत मुनि के विभाण रूपकों में कुछ ऐसे भी हैं जिनके नायक इन कोटियों में नहीं आ पाते । वस्तुतः पूर्ण रूपक दो या तीन ही हैं—नाटक प्रकरण नाटिका । नाटक और प्रकरण में वस्तु का भव है नाटक की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है और प्रकरण की उत्पाद्य या कथि-कल्पित । नाटिका दोनों के मिश्रण से बनती है । उसका नायक तो प्रधान होता है पर कथावस्तु उत्पाद्य । इसमें सब संक्षिप्त का समावेश होता है और सब व्यवस्थाएँ मिलती हैं । इनके नायकों में भी भिन्न होता है । नाटक का नायक धीरोदात्त होता है प्रकरण का धीरप्रधान और नाटिका का धीरललित । रस दोनों में भ्रूयार होता है । नाटक धीर प्रकरण में भीर भी । इससे स्पष्ट है कि पूर्ण रूपकों में दो ही रस आते हैं—भ्रूयार और भीर । नायक इनमें तीन प्रकार के होते हैं उदात्त प्रधान धीर सलिल । इनमें धीरोदात्त नायक महासत्त्व आत्यन्त बम्भीर सम्यक्षील धनिकस्वभ (घपने बारे में बड़-बड़कर बात न करन वाला) स्थिर भीतर ही भीतर मानी घुड़हत होता है । धीरललित शोभन प्रकृति का कसा-बसी निश्चित धीर मुनी होता है । धीरप्रधान भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है । लज्जित ब्राह्मण भन्नी या वैश्य के रूप उत्पन्न हुआ होता है । प्रबल दो राजवंश के होते हैं । धीरोदात्त राजा ही होता है । चौथा नायक धीरोदात्त बहुभाषा है । वह भी कुछ रूपकों का नायक होता है । नाटक में वह प्रतिनायक होता है । साधारणतः देवता या शान्त जिनमें किसी शक्ति होती है उदात्त नायक की तरह धैर्यवान् नहीं होते । वे गर्वित चरम धीर चण्ड होते हैं । उन्हें जय प्राप्ति के नियम भेद नहीं होता । जिस व्यापोग धीर इतिहास्य में नायक होते हैं । इनकी उतावली क रचना के कारण ही वे रूपक पूर्ण नहीं हो पाते । इनमें भीर, रीझ धारि दीप्त रस तो आ जाते हैं पर भ्रूयार धीर हास्य नहीं आ पाते । समवहार में भी इनका बाहुल्य होता है । उनमें भी भ्रूयार की छाया

भाव ही होती है। उद्धत भावकों के स्वभाव के कारण ही व्यायोग और ईशमृग में वर्म और विमर्ष तथा समबकार और विम में विमर्ष सन्धि नहीं होती।

इस प्रकार नेता या नायक कथावस्तु का नियन्त्रण करता है। शास्त्र-कारों ने तो यही तक कहा है कि प्रख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध बीरोदात्त नायक ही तो इतिवृत्त के उन घटकों को छोड़ देना चाहिए जो उसके उदात्त भाव के बाधक हों। उद्धत नायकों के भ्रिये कथावस्तु में से विधेय विधेय सन्धियों को छोड़ देना पड़ता है। विम रूपकों में बीरोदात्त नायक होते हैं वे पूर्णतः नहीं बन पाते। विम व्यायोग समबकार और ईशमृग इसी प्रकार के रूप हैं। बाकी चार में भाण और प्रहसन तो एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होते हैं। इनमें नायक स्वयं भव पर नहीं आते। शृंगार और वीर यहाँ सूक्ष्म रह हैं। विम व्यक्तियों की चर्चा होती है उनका कोई रूप विज्ञान नहीं होता। यही बात बहुत-कुछ बीबी और उत्पृष्टिका के बारे में भी ठीक है। वस्तुतः ये समाये ही रहे होंगे। सही घटकों में ये रूपक नहीं बने जा सकते। इसरूपककार ने रूपक की परिभाषा में कहा है कि अनुकार्य के रूप का समारोप होने से यह रूपक कहा जाता है। इन पर अनुकार्य का आरोप अस्पष्ट होता है। उतना आरोप तो काव्य-याटक और कथावाचक पर भी किया जा सकता है। जो हो ये चार अत्योद्भिन्न रूपक ही कहे जा सकते हैं।

२१ वृत्तियाँ

नाटक में सभी प्रकार के अभिनय मिलते हैं, प्रकरभ और नाटिका में भी। इन तीनों में सभी वृत्तियाँ मिलती हैं। बाकी में केवल तीन। अन्तिम चार घटकों भाण प्रहसन बीबी और उत्पृष्टिका में प्रधान रूप से मारपी वृत्ति ही मिलती है। वृत्तियाँ नाट्य की माता कही जाती हैं। ये चार हैं—सप्तमती में मानसिक कायिक और बाह्यिक अभिनय होते हैं। यह मुख्यतः मानस-व्यापार की वृत्ति है। इसका प्रयोग रोड वीर

धीर प्रदुम्ल रसों में होता है। सत्व मनोभावों को कहते हैं। क्या जाता है कि उसी को प्रकाशित करने वाली होने के कारण इस सत्त्वती कहते हैं। केशिकी वृत्ति का अभिनय स्थिरा ही कर सकती है। इसमें मुहुता धीर पेक्षम परिहास की प्रधानता होती है। गुहार धीर हास्य रस का इसमें प्राधान्य होता है। धारमयी में छत्र प्रपंच बोला फरेब आदि होते हैं। धीर, रीति धारि दीप्त रसों में इसका प्रयोग जाता है। भारती संस्कृत-बहुत बाल्यापार है। भारती ध्वज का ध्वज ही धामे चल कर बाणी हो गया है। यह सब रसों में धाती है। मूलतः वे वृत्तियाँ विभिन्न मनो की जातियों से ली गई जान पड़ती हैं।^१ जब जब इन वृत्तियों पर से विचार किया जाए तो स्पष्ट संवेष्टा कि केवल नाटक प्रकरण धीर नाटिका ही पुनीत रूपक है। हिम व्यायोग समवकार धीर ईहामृग में तीन ही वृत्तियों का प्रयोग होता है इसलिये मयूष है। भाव प्रमन बोधी धीर उत्तमृष्टिका में तीनों का प्रयोग होता तो है पर मुन्य वृत्ति भागती ही है। इस तरह य धीर भी विकसांय है। इस प्रकार न रूपकों में तीन (नाटक प्रकरण नाटिका) उत्तम श्रेणी के हैं चार (हिम व्यायोग समवकार ईहामृग) मध्यम श्रेणी के हैं धीर बाकी सब श्रेणी के।

नाट्यदर्पककार ने इस बात को भव्य किया था। उन्होंने वा ही नेह किया है। नाटिक के साथ प्रकरण की बर्यना करके उन्होंने चार को एक श्रेणी में रखा था धीर बाकी रूपकों को दूसरी श्रेणी में।

१ भारती भरतों की वृत्ति कही जाती है। भरत शोध नाटक खेलने का व्यवसाय करते थे। सारवत जाति प्रसिद्ध ही है। भावप्रमन अस्ति-साधना के प्रलय में इनका प्रायः उल्लेख मिलता है। कहते हैं भावप्रमन सम्प्रदाय इनकी है। केशिक धारि सम्प्रदायः परिचय के काश्चियन तद की जाति है। धारमट कदाचिन्, प्रीक मेकटों द्वारा उल्लिखित Arbutus जाति है जो तिन्ध धाती में रहती थी।

मीमे की तात्त्विक से रसकों के रस नायक कथावस्तु, रस और वृत्तियों का स्पष्टीकरण हो जाएगा ।

रसक-नाम	वस्तु	रस	रसक	वृत्तियाँ
नाटक	प्रस्ताव	रसगी—वीर या शृंगार रस—बाकी सभी रस	पाँच से इस तक	चारों (कैथिकी भारभट्टी सारस्वती भारती)
प्रकरण	उत्पाद्य			"
नाटिक	वस्तु, उत्पाद्य (प्रकरण के समान) मिला प्रस्ताव (नायक के समान)	शृंगार	चार	"
मान	उत्पाद्य	शृंगार, वीर	एक	कैथिकी से विभिन्न बाकी तीन
प्रहसन	"	" हास्य	एक	"
द्विग	प्रस्ताव	वीर रस बीभत्स, करण मयानक धनुष	चार	"
ध्याभोग ममवकार	"	वीर रस शृंगार (छापामात्र)	एक तीन	"
वीपी रसक ईशमृग	उत्पाद्य प्रस्ताव मिम	शृंगार करण रस शृंगारभास	एक एक चार	"

२२ रस

भारतीय नाट्य-परम्परा में नायक 'फल' भोक्ता को धर्मात् नाटक के फल को प्राप्त करने वाली को कहा गया है जबकि धार्मिक नाट्यशास्त्री नायक या नायिका उसे मानते हैं जिसके साम सामाजिक की सहानुभूति हुआ करती है। इसमें नाट्यकार द्वारा प्रयुक्त कीर्तन से एक ऐसी शक्ति केन्द्रित होती है जो निपुण अभिनय के द्वारा उपस्थित किए जाने पर सामाजिकों की समवेदना और सामान्यानुभूति प्रार्थित करती है। कलनायक सहानुभूति नहीं पाता। उसमें कुछ ऐसा घोरत्व या प्राचरकगत घमौचिरय होता है जो सामाजिक की वितृष्णा और शोक को उद्भिस्त करता है। भल्ल द्वारा निर्धारित रूपों में नाटक और प्रक रम के नायक नायिका और प्रतिनायक इस कोटि के रहे जा सकते हैं। ऊपर जो तीन धेनी के रूपक बताये गए हैं उनमें प्रथम और उत्तम धेनी के नाटकों में केवल दो ही रस हैं—गुणार और वीर। ये ही दो रस मुख्य हो सकते हैं। दो रस और भी मुख्य कहे गए हैं—रौद्र और वीरमत्त। इस प्रकार चार रस ही मुख्य बताये गए हैं—गुणार वीर रौद्र और वीरमत्त। इनके अभिनय में क्रमशः विकास विस्तार लोभ और विशेष होता है। बाकी चार इन्हीं चारों से होते हैं। गुणार से हास्य वीर से अद्भुत वीरमत्त से भयानक और रौद्र से क्रोध (व्यस्यक ४३-४५) इस प्रकार ये पाँच रस बनते हैं। सामाजिक के चित्त में विकास और विस्तार होता है तो उसे मुक्त मिलता है और लोभ और विशेष होता है तो दुःख। इसलिए कुछ धार्मिक रस को मुक्त वृत्तात्मक बताते हैं। दूसरे धार्मिक ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि ये विलेप और लोभ भौतिक विशेष और लोभ से भिन्न होने के कारण धान्दलनक ही होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि गुणार रस में चित्त में विकास और वीर रस से विस्तार होता है। इन दो रसों का नायक घनावास ही सामाजिक की समवेदना और सहानुभूति प्रार्थित करता है। यही कारण है कि पूर्वाय रूपों में इन दो रसों का ही

मायाम्य है। विकास और विस्तार को एक शब्द में 'विस्तार' कहा जाता है। इस विस्तार के कारण नाटक में धीरे धीरे शृंगार रस प्रमुख होते हैं। नाटक और रसों से बनता ही नहीं। वास्तव्य नाट्य शास्त्रों में तर्जनी (टुंजड़ी) सेनी के नाटकों का महत्त्व है। परन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्रियों ने 'कल्प' रस को नाट्य-रस मानने हुए भी ऐसे उत्तम कोटि के कथकों की कल्पना भी नहीं की जो शोकान्त हो। परन्तु नाटक में यदि नायक या नायिका उसे माना जाए जो सामाजिकों की सहानुभूति प्राप्त कर सके तो ऐसे नायक भी सामाजिक की सहानुभूति प्राप्त कर सकते हैं जो चरित्र-बल में तो उदात्त हों पर किसी दुर्बलता—जैसे प्राणहीनता या पहचानने की क्षमता—के कारण अनुचित कार्य कर बैठने की भूल व्यवहारिक शौर्य प्राप्ति—से कष्ट में पड़ जाते हों। पश्चिमी देशों में ऐसी परिस्थितियों के शिकार उदात्त और नित्य सेनी के नायकों की कल्पना की गई है। हर समय उनका स्वामी जान सके ही नहीं होता। कई बार नायक के चित्त में उत्साह रति प्राप्ति प्राप्त हो प्रबल होते हैं, केवल परिणाम अनिष्ट प्राप्ति होता है। सामाजिक के चित्त की सहानुभूतिमुक्त बनाने के हेतु नायक के स्वभाव में निम्न मानवीय गुण ही होते हैं। उनके बुद्धिमान से सामाजिक के चित्त में जो शोक पैदा होता है वह उसे धीरे धीरे तीव्रता के साथ नायक की ओर ठेकता है। इस प्रकार के कथकों की कल्पना भारतीय नाट्य-परम्परा में नहीं हुई। उम्पटिकाक प्राप्ति में यह रस भारतीय कृति द्वारा प्रमुख और अग्रस्थान होता है। अधिकतर रस रूप में इसका चित्रण कर दिया जाता है। इसलिये ऐसे नायक भी इस परम्परा में नहीं मिलते।

कुछ प्राचार्य केवल शृंगार रस को ही एकमात्र रस मानते हैं। इनका कारण यह है कि यही एकमात्र रस है जहाँ सहृदय पाथम और भाग्यवान् दोनों से तात्पर्य स्थापित कर सकता है और किसी पक्ष को पक्षधर की अनुभूति नहीं होती। और रस भी इनके मत से एक

रस का परामर्श होने के कारण अधूर्ण रह जाता है। भरत ने स्पष्ट ही नाट्य में घाठ रस स्वीकार किये हैं। इसीलिए यह मठ भारतीय परंपरा में पूर्णतया माग्य नहीं हो सका।

२३ भाव-जगत्

मध्य युनि ने नाट्य शास्त्र में बताया है कि विभाव अनुभाव और संवारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भावों की संख्या उन्होंने ४८ बताई है जिनमें घाठ स्थायी भाव है घाठ सांत्विक भाव है और तीसरा संवारीभाव।^१ स्थायीभाव ही विभाव अनुभावों के

१ काव्य के मुनने के साथ हम भाव-जगत् की सूक्ष्म मूर्तियों और भावों का निर्माण करते रहते हैं। इन्हीं भावात्मक आत्ममग्न उद्दीपन धारि के भावों का हम अनुभव करते रहते हैं। कवि में ऐसी सामर्थ्य होती है कि जिस पात्र के साथ वह हमारा बीसा-बीसा भाव जमाना चाहता है बीसा-बीसा भाव हमारे सामने-सोच में निर्माण करा लेता है। इन माना भाव-मूर्तियों और भाव भावना का जब ऐसा परिपाक होता है कि किसी का पुष्पक ज्ञान नहीं रह जाता सब मिलकर एक बिग्रेन भावन प्रक्रिया में एकाकार हो जाते हैं तो हम रसास्वादन की स्थिति में आ जाते हैं। स्पष्ट ही यह बात लौकिक स्थूल रूप से निम्न है। इसलिए इसे 'मोकोत्तर' कहा जाता है। काव्य का ओटा अपने ही बिल से अपनी ही अनुमूर्तियों के सहारे सारे भाव-जगत् की लुब्ध करता रहता है। इसलिये कहा जाता है कि यह जितना ही लहवय होगा जितना ही धार्मिक रसास्वादन का मुभाव होगा।

काव्य में केवल रस और धर्म होता है। दूसरा कोई माग्यन नहीं होता। रस के द्वारा मूर्तित लौकिक स्तुत धर्म लहवय के लहव में भाव-रस में परिणत होता रहता है। कुछ ऐसी बताए हैं जहाँ रस होता ही नहीं जैसे चित्रकला। वहीं कलाकार के द्वारा प्रपुनर रस और रसायन धर्म-धर्म करानी हैं। बिना निश्चित धर्म स्तुत धर्म

वयोम से रस रखा तक पहुँचता है (रसरूपक)। रसरूपक के लेखक वनवय स्थायी भावों और सांस्कृतिक भावों में कोई तात्त्विक भ्रमर नहीं मानते। पर ग्रन्थ नाट्य-साहित्यों में उनका असर उल्लेख किया है। शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है और का उत्साह रीति का श्रेय और भयानक का भय। इनका और संचारीभावों का विशेष विवरण देता नहीं पावश्यक नहीं है। 'रसरूपक' आदि ग्रन्थों में इसकी विवेक विस्तार से बर्णित है ('रसरूपक' चतुष प्रकाश 'माहित्य-दर्पण' चतुष हस्तादि)। यही रस के स्वरूप के विषय में समग्र का बोधा प्रयत्न किया जा रहा है।

का अर्थ होता है। फिर सङ्ख्य के मन में भाव-अवस्था का पर्वत बनता है और बिचकार जिस प्रकार की परिभाषा करके बताता था सौन्दर्य प्राप्त करना चाहता है उसी प्रकार के भाव-रूप सङ्ख्य के चित्त में उत्पन्न होते रहते हैं। नाटक अथवा कविता कला है। उसमें कवि और सङ्ख्य का सम्बन्ध अभिनेता द्वारा स्थापित होता है। एक सामान्य और बड़ होता है। कवि-विषय अर्थ यहसे अभिनेता के भाव-रूप को उद्बुद्ध करते हैं और फिर उस भाव-रूप को वह सङ्ख्य मूर्त आकार देता है। यह सङ्ख्य मूर्त आकार फिर एक बार सङ्ख्य के चित्त में नये सिरे से भाव-रूपों का निर्माण करता है। इसलिये नाटक में वस्तुतः दो कलाकारों के चेतन मन से धनकर सङ्ख्य का भाव-अवस्था निर्मित होता है इसीलिये अथवा आस्वाद्य होता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' (११) में कहा है कि गुण-व्यक्तिकार से काव्य का शरीर मगोहर होता है और रस उसका प्राप्त हुआ करता है। ऐसे काव्य-काव्य में भी सम्मेलन के कारण यद्यपि चित्तवृत्ति निमग्नता हो जाती है किन्तु उनमें (अभिनीयमान नाटक के समान) प्रत्यक्ष ही भाँति साक्षात्कारमक बोध नहीं हो पाता। परन्तु नाटक में ऐसी प्रतीति हुआ करती है।

रम मोक्षोत्तर अनुमृति है ऐसा सभी धात्रियों का कहना है। इसका अर्थ यह है कि लोक में जो लौकिक अनुमृति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुमृति है। प्रत्यक्ष जीवन में जो सकृन्तना और दुष्कृत का प्रम है वह लौकिक है। परन्तु नाटक या काव्यास्वादन से जो दुष्कृत और सकृन्तना हमारे चित्त में बनते हैं वे उनसे भिन्न हैं। लोक में 'घट' घर का अर्थ है मिट्टी का बना हुआ पात्र विह्वल। किन्तु यह बड़ा स्तूत होता है। यदि हम इस मन्त्र का उच्चारण मन ही-मन करें तो 'बड़ा' पर और 'बड़ा' परार्थ सूक्ष्म रूप से चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार स्तूत बड़े के स्वागत पर जो मानस-मृति तैयार होगी वह सूक्ष्म बड़ा कही जाएगी। इस प्रकार स्तूत जगत् के विषय एक सूक्ष्म जगत् की मानस-मृति रखने की सामर्थ्य समुप्य-मात्र में है। इसे ही भाव जगत् कहते हैं। लोक में जो बड़ा है वह स्तूत जगत् का अर्थ (परार्थ = पर का अर्थ) है और मानस अर्थ भाव जगत् का अर्थ है। 'घट' नामक पर का यह अर्थ सूक्ष्म है। लोक में प्रचलित स्तूत अर्थ से यह भिन्न है। इसलिए लौकिक न होकर अलौकिक साक्षोत्तर या भावनम्य है।

२४ रसास्वाद्य

ध्वनिवादी धात्र्यकारिक रम वा व्यंग्यार्थ मानते हैं। रस विभाव अनुभाव प्रादि के द्वारा व्यञ्जित होता है। न तो विभाव (सकृन्तना दुष्कृत) न अनुभाव (स्वेय कर्म प्रादि ही) और न व्यभिचारी या संचारी भाव ही अपने-आपमें रम हैं। सीमावर्ती ने ध्वनिवा और मराजा दन दा कृत्रियों ने व्यतिरिक्त इस तीसरी वृत्ति (ध्वनता) को स्वीकार नहीं किया। वे मानते हैं कि वाक्य में तात्पर्य नामक वृत्ति होती है जो कहने वाले के मन में जो अर्थ होता है उसे समाप्त करके ही विरत होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ रम-बोध तक जाकर विभाव्य होता है। ध्वनतावृत्ति को ध्वन से मानने की वे धात्र्यवादी नहीं

मन्यते । मीमांसकों के इस मत का मूल है यह सूत्र—यत्परं सत्
 स धर्मार्थः । (शब्द जिसके लिये प्रयुक्त होता है वह धर्मार्थ होता
 है ।) इसका एक मतसब यह हो सकता है कि जिस धर्म को बोध
 कराने के लिये शब्द प्रयुक्त होता है वही उसका धर्म होता है
 (तदर्थत्व) दूसरा धर्म यह हो सकता है कि शब्द सम्बन्ध-मर्यादा से
 सीमित रहकर जिस धर्म की सूचना देता है वही उसका धर्म होता है
 (तत्कारण) । पहले धर्म की व्यापकता स्पष्ट है । परन्तु मीमांसक
 सम्बन्ध-मर्यादा को भी मानते हैं । इसलिये जिसे वे 'तात्पर्य' कहते हैं
 वह सीमित हो जाता है । उससे व्यञ्जनावृत्ति का काम नहीं चल सकता
 क्योंकि व्यञ्जनावृत्ति संसर्ग-मर्यादा से बंधी नहीं होती । इसरूपकार
 तात्पर्यवृत्ति का वहम धर्म में बैठे हैं । उनकी दृष्टि में तात्पर्य की कोई
 सीमा नहीं है । वे तात्पर्य और तात्पर्य में भेद नहीं करते । ऐसा मान
 मने पर भी व्यञ्जनावृत्ति से जो विशिष्ट धर्म व्यभिक्त होता है उसका
 एक विशेष नाम देना आवश्यक हो जाता है । इसलिये इस वृत्ति को
 धर्मीकार नहीं किया जा सकता । फिर भी इस को धर्मार्थ
 मान मानने में कठिनाई होगी । इस अनुमति है, अनुमति का विषय
 नहीं । मान तो विभाव के चित्त में ही उठते हैं । शब्द के मन में
 उनका एक मानस-मूढम रूप उत्पन्न होता है जिससे वह धपनी ही
 अनुमतिमें का धानन्द भेजे में समर्थ होता है । सभी धार्मिकारिक
 धाधाय मानते हैं कि इस न तो 'कार्य' होता है और न 'भाव्य' । वह
 पहले से उपस्थित भी नहीं रहता । या वस्तु पहले से उपस्थित नहीं
 रहती वह व्यञ्जनावृत्ति का विषय भी नहीं हो सकती । इस सहृदय
 भोता या धर्मक के चित्त में अनुमत्त होगा है पात्र के चित्त में नहीं ।
 यत् व्यञ्जनावृत्ति केवल श्रोता या धर्मक के चित्त में मूढम विभाव
 अनुमान और मंजारी मान को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ
 कहा जा रहा है उससे भिन्न जो नहीं कहा जा रहा है या नहीं कहा
 जा सका है उस धर्म को उपस्थिति करा सकती है । भरत मुनि के सूत्र

का तात्पर्य वही हो सकता है कि सहृदयों के चित्त में बासना-रूप में स्थित किन्तु प्रमुख स्थायी भाव ही बिभावादि से व्यञ्जित होकर रसरूप ग्रहण करते हैं। नाटक में व्यञ्जना के साधन केवल सङ्ग ही नहीं बल्कि अभिनेता की चेष्टाएँ भी हैं। उन प्रकार नाटक एक छोटी कवि-निबद्ध छन्दों से रस की व्यञ्जना करता है दूसरी ओर अभिनेता के अभिनय द्वारा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यञ्जना यदि छन्द-शक्ति और अभिनय-शक्ति मात्र है तो योता के प्रस्तुत भावों को व्यञ्जित कर कर सकती है जब अनुभूति का नहीं व्यञ्ज्य बन सकती जो छन्द और अभिनय के बाहर है और योता या दर्शक के चित्त में धनु-भूत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि 'भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यञ्जित किया जा सके।' इस कठिनाई से बचने के लिए आलोचकों ने पुराने आचार्य महर्षिनायक के मुँहसे दो व्यापारों—भावकत्व और भोजकत्व—को किसी-न-किसी रूप में मान लिया है। मतसब यह है कि कवि के निबद्ध छन्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टादि में यह सामर्थ्य भी है कि योता या दर्शक को पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य स्थापित कर दे। ऐसी स्थिति में उसके भीतर पात्रों का विशेष रूप न रहकर सामान्यीकृत रूप (पुरुष स्त्री) रह जाता है फिर उसमें एक भोजकत्व-व्यापार का आधिपत्य होता है जो वह सामान्यीकृत बिभावादि और उनकी भावनाओं के आम्बान में समर्प हो जाता है।

कवि या नाटककार का कीर्ण पात्रों के पिछेपीछरण में प्रान होता है। हम उस कवि की ही सफ़्त कवि मानते हैं जो पात्रों का विशेष व्यक्तित्व निम्नार सकता है। परन्तु मैं बिछेपीछण पान लौकिक होत है। महर्षि के चित्त में जो पात्र बनते हैं वे उनकी अपनी अनुभूतियों से बनने के कारण लोकोत्तर या अलौकिक होते हैं। वह अपने

ही चित्त में अपनी ही अनुभूतियों के जाने-जाने से भाव-जगत् के दुष्प्रसूत और समुत्तसा का निर्माण करता है। उन्हीं के मूलम भावों के मिश्रण से हम रस का अनुभव करते हैं। इसलिये कवि द्वारा विरोधीवृत्त पात्र सामान्य मानव-अनुभूतियों से पुनर्निर्मित होकर साधारण कर दिए जाते हैं। सहृदय अपनी ही मानस-भूमि के ईंट-बुले से इस प्रासाद का निर्माण करता है। इसलिये जब धर्म बलौकिक स्तर पर जाता है तो जममें सामान्य मानव अनुभूतियों से निर्मित होने के कारण लौकिक विरोधनाशों का एक ऐसा रूप बनता है जिसे साधारणीकृत रूप कह सकते हैं।

भावकत्व व्यापार के द्वारा पात्रों की भावनाओं के साथ सहृदय की भावनाओं का तादात्म्य होता है ऐसा ऊपर कहा गया है पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र पात्र के साथ तादात्म्य नहीं होता। कुछ रसों में मोटा का आत्मजन नहीं होता है जो प्राथम्य का। इस प्रकार प्राथम्य के साथ तादात्म्य सम्भव होता है पर कभी-कभी प्राथम्य ही मोटा का आत्मजन हो जाता है। जहाँ प्राथम्य के साथ मोटा या रसिक का तादात्म्य हो जाता है वहीं रस पूर्ण हो जाता है। दूसरे प्रकार के रस में अपूर्वता रहती है। यही स्थिति कबल गृहकार और बीर इन दो रसों में ही सम्भव है। ये ज्यादा भावात्मक होते हैं जबकि अन्य रस अधिकतर कल्पनात्मक होते हैं। यही कारण है कि पूर्ण रूपका में केवल दो ही रस होते हैं—बीर और गृहकार।

२५ भाव

‘भाव’ शब्द का प्रयोग भरत मुनि न भावित या बाधित करने वाले के धर्म में किया है। ‘भाव’ का अर्थ-साधन है। इसका दूसरा अर्थ है भावित या बाधित करना। लोक में भी प्रसिद्ध है कि ‘घटो एक-दूसरे के रस या मेल से सब भावित हो गया। बिभाव के द्वारा पादुत को धर्म अनुभाव से और बाधित सात्त्विक और धागिक अभिनयों से प्रतीत होता है वह भाव कहा जाता है। बाधित भागिक और मुक्तपरादि

साहित्यिक अभिनय द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावित कराते हुए होने के कारण यह भाव कहा जाता है। नागा अभिनय सम्बन्ध वाले रसों को भावित कराने के कारण ये भाव कहे जाते हैं। (नाट्य-शास्त्र ७१३) इससे जान पड़ता है कि विभाव द्वारा प्राप्त धर्म को अनुभाव द्वारा प्रतीति योग्य करने के कारण कवि के अन्तर्गत भाव को अभिनयद्वारा भावना का विषय बनाने के कारण विविध अभिनयों से सम्बन्ध रखने वाले रसों को सुवासित या रंजित करने के कारण इनका नाम भाव है। तीन स्थितियाँ हुई—(१) कवि के अन्तर्गत भाव (२) विभाव द्वारा प्राप्त धर्म और (३) अभिनयों से दर्शक के चित्त में अनुभूत होने वाला रस। एक को प्रतीति-योग्य कराने का काम भाव का है (कवि के अन्तर्गत भाव को) दूसरे को भावना का विषय बनाने का काम भाव का है (विभावद्वारा धर्म को) तीसरे का रंजित या वासित करने का काम भाव का है (अनुभूति को)। इस प्रकार भाव कवि के चित्त में स्थित भावों को प्रतीति-योग्य बनाता है विभाव द्वारा प्राप्त धर्म को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव को भावित वासित या रंजित करता है। ये केवल पात्र की मानसिक अवस्थाएँ नहीं हैं। कवि के भावों की प्रतीति के भावन अनुक्रम पात्र की मन-स्थिति के साथ सहृदय के मनोभावों का सामञ्जस्य-स्थापन और उसके अन्तःकरण में प्रसूत स्थायी भाव को बहु विविध रसों और वर्णों से रंजित-वासित करके अधिक उपभोग्य बनाने के साधन हैं। अन्तर्गत भाव में 'भाव' शब्द का प्रयोग अभिनेता को बुद्धि में रखकर किया है। उन्होंने परिभाषा देने समय अवश्य ही मानसिक भाव-अवस्थाओं के धर्म से इनका प्रयोग किया है। इनमें घाट स्थायी है घाट मत्स्य है और ३३ व्यभिचारी हैं। वैसे तो सभी व्यभिचारी हैं पर घाट अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होने के कारण स्थायी बड़े गए हैं।

कई बार हमें मनोभाव-भाव समझने का प्रयत्न किया जाता है। व्यभिचारी या संचारी बड़े बड़े भावों में कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें मानसिक

संवेग कहा जा सकता है (जैसे प्राणिय धनमर्ष धनहित्वा प्राप्त हर्ष विषाद इत्यादि) कुछ विकल्प कहे जा सकते हैं (जैसे भका स्मृति मति चिन्ता वितर्क इत्यादि) कुछ को वेगाधरोध कहा जा सकता है, (जैसे वैश्य मर मित्रा जवता भाहू आदि) और कुछ को वेग-प्रभूति कहा जा सकता है (जैसे श्रम अपस्मार इत्यादि) और कुछ ऐसे भी हैं जो विप्रकर्षी संवेग मान जा सकते हैं (जैसे भज्जा धमूया मर्ष आदि) । इसलिये जो लोग इन भावों का अध्ययन मानसिक भाव-भाव के रूप में करते हैं वे इसका साथ न्याय नहीं करते । भाव पात्र के मन में होता है कवि द्वारा निबद्ध होता है अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाया जाता है और सहृदय द्वारा रसानुभूति को बहुविधित आस्वाद के योग्य बनाने में सहायक होता है ।

कवि जैसा चाहता है वैसा शब्द विभाव के द्वारा आहूत करता है । पात्र जैसा भाव प्रकट करता है उसे ही अभिनेता प्रतीति-योग्य बनाता है अभिनेता जिस शब्द को प्रतीति योग्य बनाता है सहृदय उसीको भावना का विषय बनाता है । इस प्रकार कवि-निबद्ध पात्रों के भाव अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाए जाकर सहृदय द्वारा भावित होते हैं । इस लिये अभिनेता के द्वारा प्रतीति उत्पन्न करने के साधन भाव-मनो-विकारों को प्रतीति-योग्य बनाने के साधन हैं । इनसे सम्यमान भाव सहृदय के चित्त में गूह्य-से-गूह्यतर रूप में आबिर्भूत होता है । मीकिन मनोविकार में तीन बातें होती हैं—ज्ञान (सत्त्वगुण) इच्छा (रजामुष) क्रिया (तमोगुण) । मनुष्य कुछ जानता है कुछ चाहता है कुछ करता है । सहृदय के चित्त में घात-आटे अन्तिम बातें उत्पन्न होती हो जाते हैं । इसी को आस्वकारों ने 'सत्त्वोद्रेक' कहा है । यह सत्त्वोद्रेक भावों को विभूत जानकारी के रूप में तो नहीं लेकिन प्राग् जानकारी के रूप में नै धा देते हैं और सहृदय रसानुभूति के योग्य बनता है । विचार करके देखा जाए तो यह भारी प्रज्ञिया शब्द के अन्तरतर में व्याप्त उसके कुछ वैतन्त्र्य-रूप के उद्घाटन में समर्थ होती है । कुछ वैतन्त्र्य का

नाटकों में प्रतिभायुक्त को बरास्त होना पड़ता है। प्रतिभायुक्त महा नायक को तुलना में हीनमन विराट्चन उद्धत और शिथिल चरित्र चित्रित किया जाता है। ऐसा न किया जाए तो कर्मफल की धारणा प्रविष्टा नामे जीवन-वर्णन की नींव ही कमजोर हो जाए। नायिका के लिए समान भाव से प्रेमरागी नायक और प्रतिभायुक्त अन्तिम दुःख को मुझकर बनने में बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिए जिसे हारना है उसे शिथिल चरित्र का व्यवहार बनाना आवश्यक हो जाता है। जिसे जीतना है उस उदात्त बनाना भी उतना ही आवश्यक है। इस बात में भारतीय नाटकों में वैशिष्ट्य की कमी सा की है। फिर भी भारतीय कवियों ने बहुत उत्तम रमण्य नाटक-साहित्य का निर्माण किया है। नसार के मनीषियों ने मुक्त कण्ठ से इस साहित्य की प्रशंसा की है। प्रयोग-सौख्य की सीमा में नाटककारों को अव्यक्त वेगवती और बम्भीर रसमयना की सर्जना में सहायता पहुँचाई है। जो बात नाटकों-नाटिकाओं और प्रकरणों के बारे में सत्य है वह अमर्य रूपकों के बारे में सत्य नहीं है। भारत के अपसाङ्गत समनामयिक नाटककार भाव में नाटक और प्रकरण के अतिरिक्त अन्य रूपकों की रचना की है पर परवर्ती उच्चकोटि के नाटककारों का मन उत्तम कोटि के नाटकों के निर्माण में ही रमा है। बहुत बार ने कुछ नाटककारों ने नाटक-नशाओं के अनुसार अन्य रूपका की रचना का बीज रखा भी तो वह बहुत साहसिय नहीं हो सका।

ऊपर दिनाया गया है कि गृह्यार और और य दा रम ऐसे हैं जहाँ महदय का चित्त धाधय के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाता है। वरुण में भी वह स्थिति पा सकती है पर अवीरुप में वरुण को भारतीय जीवन-दर्शन के कारण स्थान नहीं मिल गया। बाकी रसों में महदय का धाधय के साथ तादात्म्य नहीं हो पाता और धाधय धविष-से-अधिक, महदय का धाधय बन जाता है। जिस माधारीकरण से महदय के चित्त में सामान्य मनुष्यत्व के साथ एतात्म्यता का बोध होता है वही

वास्तविक ध्यानत्व का हेतु है। शास्त्रकारों ने भगवान् श्रीभारत इस धारि को भी रस की मर्यादा दी है पर वास्तव में ये भावकोटि तक पहुँचकर रह जाते हैं। एक और रस बिसे भरत मुनि ने नाट्य-रस की मर्यादा नहीं दी है भक्ति स्थायी भाव वाला रस है जिसमें आश्रय के साथ तादात्म्य की सम्भावना है। किसी किसी आचार्य ने रसों की संख्या परिमित करने को केवल मुनि के प्रति आदर-अवर्धन के लिये माना है। वे रसों और भावों की संख्या अधिक मानने के पक्ष में हैं। यदि हास बुगुप्ता श्लेष आदि स्थायी भाव हैं तो इन्हीं के समान भव्य मनोभाव भी स्थायी हो सकते हैं, ऐसा नाट्यदर्शनकार का मत है। उन्होंने लिखा है कि 'विशेष रूप से रचनाकारक होने के कारण और पुस्तार्थों के लिये अधिक उपयोगी होने के कारण शृंगारारि भी रस (धाम्नि के सहित) ही पुगने सहाचार्यों के द्वारा उपदिष्ट है। किन्तु इनस भिन्न और रस भी हो सकते हैं, जैसे वृष्णुता या लास्य स्थायीभाव वाला लीस्य रस आत्र ता स्थायी भाववाला वास्तव्य रस आसक्ति स्थायी भाव वाला व्यसन रस शक्ति या शैवीनी स्थायीभाव वाला दुस्त रस शन्तोप स्थायीभाव वाला सुधरस इत्यादि। परन्तु कुछ आचार्य पूर्वोक्त भी रसों में ही इनका अन्तर्भाव कर लेते हैं।' ('नाट्यदर्शन' १११)।

भारतीय नाट्य-परम्परा बहुत पुरानी है। कई बार इसके साथ साधनी नाट्य-परम्परा की तुलना करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इसका अनुक धारा मिलता जुलता होने से नहीं (यवन-परम्परा) से लिया गया है। परन्तु यह बात उचित नहीं है। इसका स्वतन्त्र विकास हुआ है और कर्मफल की अवश्यभावी प्राप्ति के प्रति तीव्र भारतीय उत्सव-दर्शन के अनुकूल हुआ है। आधुनिक दृष्टि से इसमें कमियाँ मान्य पड़ सकती हैं, पर आधुनिक दृष्टि सम्पूर्ण रूप से भिन्न जीवन-दर्शन का परिणाम है।

६ नाट्य-शास्त्र और यावनी परम्परा

१९वीं सताब्दी में कई यूरोपियन पण्डितों ने यह बिंदु करने का प्रयत्न किया कि भारतीय नाटकों के विकास में भारत के साथ चीन के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक *Indian Literature* में तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि वैश्विद्या पंजाब और गुजरात में चीन छात्रों के दरबार में चीन नाटकों के प्रतिनय होते थे। उनसे भारतीय नाटक और नाटकीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा सब प्राप्त हुआ जिससे 'रामायण-महाभारत' आदि के प्रतिनय की परम्परा पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई, तो वेबर ने अपने मत में जोड़ा मुबार कर लिया। वे इतना कहकर समुप्त हो गए कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ चीन-प्रभाव जरूर पड़ा होगा।

विदेश नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा जोरदार पंढन किया जिसका प्रत्यास्वादन सन् १८८२ में बिंडिच नामक जर्मन पण्डित ने किया। बिंडिच यह तो मानते हैं कि भारतवर्ष में स्वतन्त्र भारतीय नाटक के विकास के लक्ष्य पूरा माना है जिसमान थे। परन्तु 'महाभाष्य' में उल्लिखित रामायण-महाभारत की लीलाओं से परबर्ती काल के छात्रकीय-सिद्धान्त-अर्थात् नाटकों को भिन्न समझते हैं उनका कहना है कि परबर्ती काल के नाटकों की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया जो पौराणिक पात्र थे वे मुख्य हैं दैनन्दिन जीवन के लीले में जाने गए, नाटकों की प्रपात काव्य-वस्तु सामग्री देव बन गया। कथावस्तु का उत्सारमय विकास हुआ जिसमें सभी और दृश्यों में उनका बिभाजन किया गया पात्रों के लीले में विकास हुआ नाट्यांग के विकास के सामने महाकाव्यात्मक लक्ष्य पीछे रह गए, पलों के मात्र साथ गय का विषय हुआ और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों में अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब सही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्व नया पाया होगा। बिंडिच का यही

प्रनुमान है कि यह मया सर्व ग्रीक लोगों के साथ भारतीयों का सम्पर्क हो है। बिबिण के इस मत की बड़ी चर्चा हुई। उसके बाद भारतीय कला और चित्र के ग्रन्थालय क्षेत्रों में ग्रीक-प्रभाव की काफ़ी चर्चा हुई। मूर्ति कला के क्षेत्रों में आम्हार की मूर्तियों का ग्रीक-मूर्तिकला की हेम बठामा मया और परवर्ती काल में एक नवीन स्वतन्त्र भारतीय कला के बिकास में उस प्ररव-सर्व समग्र गया। प्रो० सिस्वाँ सेवी ने बिबिण के नाटक सम्बन्धी मत का तो बड़ा जोन्दार खण्डन किया किन्तु उन्होंने स्वयं ही स्वाक्षर किया कि प्ररवचोप के माध्यम से बौद्ध धर्म में भी नवीन प्राणों का स्पन्दन दिखाई देता है। उसका कारण पश्चिम से आई हुई नातिक विचार-धारा थी। इस प्रकार बिबिण ने जिस ग्रीक प्रभाव को भारतीय नाटकों का प्रेरक तत्व बताना चाहा था उसका अस्तित्व चित्र और नम के दूसरे क्षेत्रों में भी स्थापित कर्न का प्रयत्न हुआ। जब प्ररुन यह है कि क्या सचमुच ग्रीक-शासकों के बरवार में ग्रीक नाटकों का अमिनव हुआ करता था? कुर्माय्यवश इसक पक्ष या विपक्ष में कहने योग्य प्रमाण कम हैं। सन् १९६६ में 'रायल एसियाटिक सोसायटी' की पत्रिका में सुप्रसिद्ध पुणतत्त्वज्ञ जॉन मार्शल ने पेसावर में प्राप्त एक बरतन पर ग्रीक नाटक 'एष्टिमोन' के एक अमिप्राय का अकन बताना चाहा परन्तु प्रायः सभी विद्वानों ने उसे सन्देहास्पद और कष्ट-वस्वित माना। अम शोम्न के बारे में अवश्य कहा जाता है कि वह नाटक रिसन का बड़ा खोजीन था और यह भी सुना जाता है कि प्रवेसे एकबताना (Ekbatana) में ही तीन हजार ग्रीक-कलाकार थे। परवर्ती ग्रीक लेखकों ने यह भी मिला है कि ईरानी जेद्रोसियन (Gedrosians) कीर सूखा (Susa) क मोन गुरीपाइड स्मिन् ओओमिसस क नाटकों क पीठ गाया करते थे। और परवर्ती ग्रीक लेखक 'फिलोस्ट्रेटस' (Philostratos) ने तो एक ब्राह्मण की चर्चा की है जिसे धर्म था कि उसने गुरीपाइड का नाटक 'हिराणीवर्द' (Hirakledai) पूरा पढ़ लिया है। प्रो० सिस्वाँ सेवी इन बरतनों की अतिरंजित और सन्देहास्पद मानते हैं। जो ही वह मान

मिया जा सकता है कि भारतवर्ष में जो ग्रीक लोग आए होंगे वे कुछ-न-कुछ अपने देश के नृत्य गान नाटक आदि का अभिनय भी कराते होंगे। बिना साधकों के ग्रीक नर्ताकारों को बुलाकर सुन्दर सिनर बन जाये उनसे उतने नर्ता प्रेम की भाषा ता की ही जा सकती है परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि सन्तुष्ट हल नाटकों ने भारतीय नाटकों को प्रभावित किया होगा ? बिडिश का कहना है कि इसकी पूर्व १४ और २६ के बीच जो ग्रीस में नयी ऐक्टिक कामेडियाँ लिखी गईं वे ही भारतीय नाटकों को प्रभावित करने वाले प्रथम स्रोत मानी जा सकती हैं परन्तु जैसा कि पी ए बी कीप ने अपने 'संस्कृत नाटक नामक' ग्रन्थ में बताया है "संस्कृत नाटक और कामेडियों में जो सम्बन्ध है वह बहुत ही दौरे है। पी ए बी कीप ने और भी कहा है कि बिडिश का यह कहना कि ग्रीक (रोमन) और भारतीय दोनों नाटकों में अर्धों और दृश्यों का विभाजन होता है दोनों में समीप प्रत्येक दृश्य के अन्त में रंगमंच छोड़ देते हैं अर्धों की संख्या साधारणतः पाँच होती है (भारतीय नाटकों में यह संख्या प्रायः अधिक होती है) कोई बहुत महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं है क्योंकि यह न्यायव्यवस्था साम्य भी हो सकता है। संस्कृत-नाटकों का अंग-विभाजन एक्शन के विश्लेषण (Analysis of action) पर आधारित होगा है जो ग्रीस और रोम में कहीं भी अनु-लिखित नहीं है। इसी प्रकार कुरव-सम्बन्धी कहियों में जो समानता है, अनास्तिक और अपवाय भाषण की कहियों में जो एकदमता है और किसी पात्र के प्रवेश के समय रंगमंच पर उपस्थित किसी अन्य पात्र से उतरे सम्बन्ध में परिचयात्मक वाक्य कहलाने की समान प्रथाएँ हैं, वे भी ऐसी हैं जो एक ही परिस्थिति में होने वाले वाले नाटकों में अवरुध्ति निवारण हैं उनकी समानता में ग्रीक या रोमन प्रभाव की स्थापना नहीं की जा सकती। (संस्कृत इमार में ए बी कीप पृ २८ २९) आख्यान के वैज्ञानिक युग में भी नवाचन पात्र के परिचय कराने की आवश्यकता अनुभव की ही जाती है।

हैं। राष्ट्रबन्ध ने संस्कृत-नाटकों के वस्तु-विषय का बहुत सुझाव देना से बताया है—संस्कृत में नाटक प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है जिसमें मुख्यतः धीरे उसका कोई सहयोगी सम्भाषण करते हैं धीरे कवि (नाटककार) तथा नाटक का परिचय प्रस्तुत करते हैं। कथावस्तु का प्राधान्य परिच्छेदों में किया जाता है जिन्हें अंक कहते हैं धीरे जिसकी सीमा चार से अधिक रह सकती होती है। अंक में दृश्य-परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उसमें दृश्यों के विभाजन का संकेत नहीं किया जाता। अंकों में एक नैरन्तरिक कार्य-कलाप होता है जो एक दिन की अवधि का नहीं होता। अंकों में उच्चतर प्रकृति निम्नतर चरित्रों का एक प्रस्तावना तक दृश्य हो सकता है। इसका प्रयोजन कथावस्तु में एकसूत्रता प्रकृति नैरन्तर्य की स्थापना करना अंकों को कथा-वस्तु का बोध कराना धीरे इन बातों के विषय में सूचना देना प्रकृति वास्तविकता करना होता है जो रंगमंच पर प्रमुख अंकों में प्रकृति न किये जा सकते हैं। पूर्व-निर्देश के अभाव में कोई पात्र मंच पर प्रकृति नहीं हो सकता। नाटक की मूल वस्तु में अंक एक पद्य-शैलियों का मिश्रण होता है। पद्य का प्रयोग उच्च स्थान पर होता है जब किसी आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति प्रकृति उच्च प्रभाव की सृष्टि की आवश्यकता होती है। अंक धीरे पद्य का मिश्रण की शक्ति ही साहित्यिक तथा मौखिक भाषाओं का भी मिश्रण होता है। उच्चवर्णीय तथा सिद्धि पुरुष-गान संस्कृत शैली है धीरे निम्नतर धनी के पास स्त्री-गान तथा माधुर्य समाप्त प्राकृत शैली है जो निम्न श्रेणी के पात्रों की संख्या तथा प्रकृति के अनुसार कभी-कभी विभिन्न प्रकार की होती है। कार्य संक्षिप्त अवधि का भी हो सकता है प्रकृति कभी तक फैला हुआ भी हो सकता है धीरे इसी प्रकार एक विशिष्ट स्थान पर भी प्रकृति हो सकता है प्रकृति विभिन्न स्थानों तक भी उसका विस्तार हो सकता है। कथावस्तु प्रसिद्ध महाकाव्यों से भी हो सकती है प्रकृति कल्पित या मिश्र भी हो सकती है। कथावस्तु के प्रकाश होने पर भी नाटककार उच्च धारणा नाटक के भाव तथा प्रयोजन

के उपबुद्ध नया रूप दे सकता है, क्योंकि संस्कृत-नाटककार उसे अपने नाटक में उदात्त परिणों तथा दर्शकों के समस्तसत्त पर उदात्त भावों का प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया करता है। नाटक का समस्त मुख्यमय होना चाहिए। (संस्कृत मक्षण-ग्रन्थों के अनुसार नाटक एक विधेय याति का अभिनेय रूपक है। परन्तु यहाँ इन गद्य का प्रयास व्यापक क्यों न किया गया है।)

इन दृष्टियों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी कुछ वस्तु के अवयवों कथावस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वस्तुगत रस ही संस्कृत के सभी काव्य-नाटकों का मध्य है। रस तक न जाने के कारण ही नायक (सि जाने बाबा) नायिका (सि जाने बानी) अभिनय (सि जाने का पूर्ण साधन) आदि दृष्ट्यों की रचना हुई है। वह कथा की उन घटनाओं को जो उसके कथानक के सिधे आवश्यक होती थी अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थीं परि त्यक्त अथवा पुनर्निमित्त करता था। यही वह अपने स्वयं के चरित्रों की मूर्ति बन सिता था। कथावस्तु तथा चरित्र-विशेष जो परिचयी नाटकों के संबंध होते हैं भारतीय नाट्य-कला में रस के सावक होते हैं। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र-विनय उपेक्षित थे। भारत का कथानक-निर्माण की प्रक्रिया का नियमपूर्ण बर्णनकर हम प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

'यवनिका' ग्रन्थ में भी अनेक प्रकार की उदाहरणों की उल्लेखना की है परन्तु बिना और किसी न इन गद्य से उत्पन्न भाव्य धारणाओं का निरूपण कर दिया है। वस्तुगत यवनिका या 'यवनिका' संस्कृत के 'यम' निजा दृष्ट के प्राकृत रूप हैं जिनका अर्थ होता है संयमन की जाने वाली वही (जु अपटीक्षेय प्रथम) या वरदा। यदि यह सत्य किसी प्रकार 'यवन' शब्द से सम्बन्धित मान भी लिया जाए तो भी इनका अर्थ केवल विदेशी के आधी हुई वस्तु ही होगा। भारतीयों का प्रथम परिचय आयोनिन (London) लोगों से हुआ था—भीसे संस्कृत का 'यवन'

और पालि का 'योग' राज्य बना है। बाद में इस राज्य का धर्म-विस्तार हुआ और हेरेनिक परसियन साम्राज्य के सभी देशों के निवासियों के लिए इनका प्रयोग हुआ है। मिस्र (Egypt) ईरान (Persia) सीरिया बाबिलोन (Babylon) आदि सभी देशों के निवासी यमन बहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विधेयक से समर्थ की जाती थीं। मेसी ने ईरान के बने परदों को यवनिका कहा है। वस्तुतः ऐसा कीज ने कहा है ग्रीक नाटकों में परदे होते ही नहीं थे। स्वयं बिबिथ ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते हैं कि ग्रीक रंगमंच के पीछे जो विभिन्न वृत्तावली होती थी उसे ही भारतीय रंगमंच में परदे से मूकित किया जाता होना। इसलिए उसको 'यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपियन पण्डितों ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है। फिर भी 'यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यञ्जना-कारी है कि हमसे उत्पन्न भ्रान्त बारम्बार इस देश में बनी हुई है और आप-दिन धन्धे-धन्धे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को अमान्य भाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. रायबन् न ग्रीक और संस्कृत रंगमंचों की तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि "भारतीय रंगमंच पर नाट्य-क्यों की विविधता पहले से ही थी जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'तर्बरी' यूनानी नाटकों का सर्वोत्कृष्ट रूप था और संस्कृत रंगमंच पर यूनानी तर्बरी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नहीं हुआ। वस्तुतः इसके सिद्धान्त रंगमंच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत रंगमंच में यूनानी रंगमंच के समान कोई गायक-वृन्द नहीं होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य संकसन वय के सिद्धान्त से देश-काल के संकसन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निविद्यन्त होकर छोड़ दिए गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विज्ञान प्री था। यूनानी रंगमंच का भारतीय रंगमंच के विविध रूपों से—

जिनका भरत ने कुछ विरासत से वर्णन किया है—कोई साम्य नहीं है। भरत क—जिनका ग्रन्थ धारस्तू के पोयटिक्स तथा रिटारिक्स के सम्मिश्रित रूप से भी अधिक पूर्ण है—यूय रम-सिद्धान्त के समस्त भाग कदाता तथा विवेचन के यूनानी सिद्धान्त द्वय-से हैं। परदे के सिद्धे प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द रंमयं पर आने वाले राजकीय धनुषों में यवन स्थियों की उपस्थिति आदि तथ्यों में भी यवन-सम्पर्क के कुछ प्रमाण लगे हुए हैं। (इनमें से) यन्त्रित तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास परदे के लिए 'पटी' तिरस्करणी 'प्रतिधिरा' तथा वहाँ तक कि 'यवनिका' आदि शब्द देशीय तथा युक्तिबुद्ध न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन रूपों की प्रेरणा भारतीय नाटक के अधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर्यवेक्ष्य है। जिनका यूनानी नाटकों में प्रमाण है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय साम्य। सिमर्वा लेखी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में चकों के प्रभाव से विकसित हुए हैं। उनके आधार भूत प्रमाण नितान्त तारक्य है। कौट के अनुसार संस्कृत-नाटकों का उद्भव तथा विचार स्वदेशीय ही है। निस्तन्नेह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

'यवनिका' की ही भाँति संस्कृत-नाटका में राजा की प्रगल्भता के रूप में वाचनी भाषाओं की उपस्थिति को भी शीघ्र रमयं के प्रमाण का निदर्शक बताया जाता है। पर जैसा कि श्री नील ने कहा है कि श्री नाटकों में प्रगल्भताओं का कोई अस्तित्व नहीं है यह अधिक-से अधिक शोक रमणियों के प्रति भारतीय राजाओं का अनुभव ही मित्र करता है। कौटिक के प्रवर्धन^३ तथा यौग्यनीय आदि के लेखों में इनका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

विदित है नाटिकाओं के साथ कई नामधियों का पारस्परिक

साहित्य दिया जाया है और इनमें तथा अन्य संस्कृत-भाषाओं में जो अभिज्ञान या सहिदानी का अभिप्राय आया है उसे प्रोक प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीम ने कहा है अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयों को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिये प्रेरित जाना पड़ा कुछ मुश्किल की बात नहीं है। यह और बात है कि दिन कथाया और काव्यों में इस प्रकार के अभिप्रायों का प्रयोग है उनकी स्थिति संबंधी सम्बन्धिता बतार्ह जाती है। मूल्य श्रद्धा आदि विचारों ने भारतीय कथानक-कहियों का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके प्रयत्नों से इस कवि की प्राचीनता निस्सन्देह रूप से प्रमाणित हो गई है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु, नाम आदि को लेकर बिहारी ने अपने सिद्धान्त स्मर किए थे पर मास के 'वासवत' नामक नाटक के मिलने से जो 'मृच्छकटिक' का मूल रूप है, अब उसका भी बदन कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' में कुछ समापन है अवश्य और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। राजनीतिक उलटफेरों से यणिका वसन्तसेना का राजी की मर्मादा या सेना नहीं-सी बात है पर उसका पहली राजी के साथ-साथ बिबाहित पत्नी के रूप में रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बातें कही गई हैं वे निराधार और कष्ट कल्पित हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि पीढ़ों-जैसी सन्निधानी जाति के सम्पर्क में आने के बाद भारतीयों-जैसी अशुभ कल्पनाधीन जाति के विचारों और कल्पना-मय में कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा पर जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्तों का प्रश्न है उसकी बहुत ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश में विद्यमान थी। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यावनी साहित्य और विचार-धारा भारतीय सम्पर्क में आकर कुछ लेने में हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों जातियों में कुछ ऐसा आदान-प्रदान हुआ अवश्य होगा पर उसे

नाट्य-शास्त्र के निष्ठाओं को ग्रीक-साहित्य की देन कहना सम्भव-
विशाम-साध है ।

कई यूरोपियन पण्डितों ने केवल बाह्यी प्रमाणों पर निर्भर न रह
कर विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक-
रोमन नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में
जो 'टाइप' की प्रधानता है वह सिद्ध करती है कि पाश्चात्य में वे अनु-
करणमूलक रहे होंगे और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से बना
रूप ग्रहण किया होगा । पुराने टाइपों का यह ज्ञान उनके मत से रोमन
कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही प्रमाण है क्योंकि यह सिद्ध
करता है कि कुछ मया तो था क्या पर पुराना मया नहीं । यह बात
कितनी निराकार है यह भी कीच के इस कारण से स्पष्ट हो जाता है

*"The similarity of types is not at all convincing, the
borrowing of the idea of using different dialects from the
mimes is really absurd and the large number of actors is
equally natural in either case."*

अर्थात् टाइपों की समानता बिल्कुल मानने योग्य बात नहीं है और
विभिन्न बोमियों के प्रयोग-सम्बन्ध में मादम से उधार लने वाला विचार
बहुधा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों देशों
के नाटकों में समान रूप से सम्भव है ।

आ कीच ने जोर देकर कहा है कि ग्रीक-रोमन कामदियों में टाइप
की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिचित पात्र की वैयक्तिक
विशेषताओं के कारण कथावस्तु में जो विचलन हो जाता है वह उसमें
अदृश्य नहीं मिलता ।

अगर संक्षेप में प्राच्य विज्ञानों की कुछ ऊँचाईयों की चर्चा की
गई है । इस चर्चा का उद्देश्य केवल पाठकों की नये विचारों से परि-
चित कर देना था । हम संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि
भारतीय नाटकों के विचार में बाह्यी प्रमाण की बातें विगुह घटव

पर आवागति है और नाट्य-शास्त्र के विकास में तो किसी बिदेसी परम्परा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता । नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी—हजारों ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है ।

—हजारप्रसाद त्रिवेदी

दशरूपक

प्रथम प्रकाश

ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण महापुरुष करते पाए हैं। अतः मंगल करना परम कर्तव्य है, इस बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार निम्निष्ठ ग्रन्थ की समाप्ति के लिए प्रकट धीर अभिमत देवताओं की स्तुति दो स्तोत्रों से कर रहे हैं—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ड पुच्छराम्यते ।

महामोगयनध्यानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥१॥

मयूर के मृत्यु के समय यैशों की यक्षपक्षादृष्ट असे मृग्य का नाम देती है वैसे ही यलेश्वरी का मुख जयवान् शकर के मृत्यु-काल में सब के विस्तार से निबिड़ध्वनि करने वाले मृग्य का आचरण करता है [मृग्य की कन्नी को पूरा करता है] उस यलेश्वरी को नमस्कार है ॥१॥

इस श्लोक में 'महामोगयनध्यान' इस श्लोकांश में 'नमध्यान' इस आधे अंश के शेषवर्ग होने के कारण उपमा नामक सत्कार ध्वनि दृष्टिपोषक होती है। यहाँ पर 'नमध्यान' में श्लेष होने से मयूरपक्ष में भी अन्वय (अर्थ) बैठ जाता है। यही पर श्लेष के बिना उपमा की निष्पत्ति असम्भव है। अतः श्लेष द्वारा यहाँ पर उपमा का आशेष कर लिया जाता है।

(‘उपमाञ्छाया’ जो कहा गया है उसका अर्थ है उपमा का घट्टा रहता क्योंकि मुख पदार्थ जो मेघध्वनि है उसका इय्य पदार्थ जो मृग्य मुख के सद्गुण आचरण करना है वह असम्भव है।)

इन्द्रायामुकारेण यस्य मादन्ति भावना ।

नमः सर्वविदे तस्म विष्णवे भरताय च ॥२॥

सर्वविद् भगवान् विष्णु धीर आचार्य भरत को नमस्कार है, जिनके भक्त इस रूपों के ध्यान धीर अनुकरण आदि के द्वारा प्रसन्न हुए करते हैं ॥२॥

विष्णु के भक्त भगवान् के कल्प कूर्म बराह आदि दत्त अवतारों की प्रतिमा बना-बनाकर तथा पूजन आदि के द्वारा प्रसन्न होते हैं तथा आचार्य भरत की सिष्य परम्परा उनके द्वारा प्रचारित इन रूपों अर्थात् रूपों के अभिप्रेत के द्वारा प्रसन्न होती है । ऐसे भगवान् विष्णु धीर आचार्य भरत को नमस्कार है ।

इस शब्द का पठन धीर सुनने से सोम कित प्रयोजन की प्राप्ति के निय प्रवृत्त होंगे इस बात का ग्रन्थकार बताते हैं—

कस्यचिदेव कथाचिद्वयया विषय सरस्वती विदुष ।

घटयति कमपि तमन्यो यजति जनो येन वैदग्ध्यम् ॥३॥

सरस्वती हृष्टा करके ग्रन्थ में प्रतिपादन करने के योग्य कोई बात कवि के मन में कथाचिद्वय कभी ला देती है जिसका प्रतिपादन वह अपने ग्रन्थ में करता है धीर उत्तम अध्ययन करके हमारे सोम उत्त विषय में पारिग्रह प्राप्त करते हैं ॥३॥

यह ग्रन्थकार इस ग्रन्थ की रचना में भगने प्रवृत्त होने का कारण बताते हैं—

उद्धत्यादुरप सारं यमग्निनिगमाग्नाद्ययश्च विरिञ्चि

ध्वजे यस्य प्रयोग मुनिरपि भरतरताम्यस्य सोमरश्मः ।

शर्वाणी सात्यमस्य प्रतिपदमपरं तदम काः कतु भीष्टे

मादयानां किंतु निविटग्रुणरधमया सज्जण सशिपामि ॥४॥

कहना मैं वेदों से सारभाग को लेकर जित मादयवेद की रचना

को श्रीर धार्या मरत ने सांसारिक बातगाधों से मुक्त मुनि होते हुए भी जिस नाट्यवेद को प्रवीणत्व में प्रस्तुत किया (साया) जगज्जननी पावती ने जिसके लिये सास्य श्रीर जपत्-पिता भगवान् अंकर ने जिसके लिये ताण्ड्य प्रदान किया उस लोकोत्तर नाट्यवेद के जग-महापुरुषों के निष्कर्ष में कौन समझ हो सकती है ? फिर भी मैं अपनी प्रवृत्ति प्रति-पादन रीति के द्वारा उनके लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥१॥

कहीं कोई यह न समझ बैठ कि भरत नाट्य-शास्त्र की ही बातों का इसमें प्रदर्शन बचन किया गया है अतएव इसमें पुनरुक्त दोष व्यवस्थित होना इस बात का निराकरण अन्वकार इस प्रकार से कर रहे हैं—

व्याकीर्णं मन्त्रबुद्धीनां जायते मतिबिभ्रम ।

तत्पार्यस्तस्यस्तेन समिप्य क्रियतेऽन्वयता ॥२॥

मरत मुनि द्वारा प्रलीत नाट्य-शास्त्र विस्तार के साथ लिखा गया है । उसमें बपक रचना-सम्बन्धी बातें यथ-सम विचारो हुई हैं । अतः मन्त्र बुद्धि वाले लोगों के लिये मतिभ्रम होने की सम्भावना बनी हुई है । इदमित् साधारण बुद्धि वालों के समझने के लिये इसी नाट्यवेद के सस्य श्रीर अर्थों को लेकर संक्षेप में सरल रीति से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ ॥३॥

इस ग्रन्थ का फल बखवकों का ज्ञान है पर बखवकों का फल मानम्ब देना है इस बात को निम्नलिखित प्रकार से बताया जा रहा है—

ग्रामम्बमिस्पन्त्रिपु र्ग्यकेपु ब्युत्पत्तिमात्रं फलमस्पबुद्धि ।

येऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्म जम स्वाधुपराह्मुदाय ॥४॥

जिनसे ग्रामम्ब भट्ठा रहता है ऐसे व्यक्तियों का फल मन्त्र बुद्धि वाले लोग इतिहास-पुराण की तरह त्रिवर्ग (धर्म धर्म काम) की प्राप्ति-भाष्य बतलाते हैं । ऐसे स्वाध से ग्रामम्ब लोगों को मन्त्रकार है ॥५॥

रजत्पानुकारेण यस्य भासन्ति भावकाः ।

नमः सर्वविदे नमः विष्णवे भरताय च ॥२॥

सर्वविद् भगवान् विष्णु धीर आचार्य भरत को नमस्कार है, जिनके भक्त इस वर्षों के ध्यान धीर अनुकरण धारि के द्वारा प्रसन्न हुआ करते हैं ॥२॥

विष्णु के भक्त भगवान् के यस्य कर्म बराब्र धारि इस भक्तियों की प्रतिमा बना-बनाकर तथा पुष्प धारि के द्वारा प्रसन्न होने हैं तथा आचार्य भरत की शिष्य परम्परा उनके द्वारा प्रचारित इन सभी धर्मों को अपना के धर्मियों के द्वारा प्रसन्न होती है । ऐसे भगवान् विष्णु धीर आचार्य भरत को नमस्कार है ।

इस धर्म को पढ़ने धीर मुने के लोग किस प्रयोजन की प्राप्ति के निम्न प्रवृत्त होये इस बात को ध्यानपूर्वक बताते हैं—

नमः सर्वविदे कदाचित्कदा विषय सरस्वती विदुषः ।

पठति कर्मणि तमस्यी व्रजति ज्ञानो येन वैदिकीम् ॥३॥

सरस्वती हुआ करके धर्म में प्रतिपादन करने के योग्य कोई धर्म कवि के मन में कदाचित् कभी ना होती है जिसका प्रतिपादन वह अपने धर्म में करता है और उसका अध्ययन करके दूसरे लोग उस विषय में पान्थिय प्राप्त करते हैं ॥३॥

जब धर्मकार इन धर्म की रचना के अपने प्रवृत्त होने का कारण बताते हैं—

उद्भास्योद्भास्य सारं यमगितनिगमाग्नाद्यवेद विरिञ्चि

ध्वने यस्य प्रयोग मुनिरपि भरतस्ताच्छ्र मोसकृत् ।

दादाणी साहय्यस्य प्रतिपद्यपर सदस्य न कतु मोदते

मादयानां किन्तु विचित्रगुणरक्षणया लक्षण सदिपामि ॥४॥

जब मैं यहाँ से सारभाष को लेकर जिस भाष्यवेद की रचना

को श्रीरामाचार्य भारत में सांसारिक बातनाथों से मुक्त मुनि होते हुए भी त्रिन नाट्यवेद को प्रयोगरूप में प्रस्तुत किया (साया) जयजयगनी शर्माजी ने जिसके लिये सायब और जगत्-पिता जयबाम् दाशर ने जिसके लिये सायब प्रदान किया उस लोकोत्तर नाट्यवेद के अर्थ-प्रयत्नों के निष्कर्ष में कौन समर्थ हो सकता है ? फिर भी मैं अपनी प्रकृष्ट प्रति पारवर्ती के द्वारा उसके लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥३॥

कहीं कोई बहु न समझ बैठ कि भारत नाट्य-शास्त्र की ही बातों का इसमें प्रच्छाद ज्ञान किया गया है। प्रत्यक्ष इसमें पुनर्नित दोष पकार होया इस बात का निराकरण अन्वकार इस प्रकार से कर रहे हैं—

व्याकीर्णं महबुद्धीनां जायते मतिविभ्रम ।

तत्पार्थस्तत्पवस्तेन सतिप्य क्रियतेऽन्वयसा ॥४॥

मत्त मुनि द्वारा प्रणीत नाट्य शास्त्र विस्तार के साथ लिखा गया है। उसमें एक रचना-सम्बन्धी बातें पद्य-राज लिखी हुई हैं। इस तरह बुद्धि वाले लोगों के लिये मतिभ्रम होने की संभावना बनी हुई है। इसलिये आपारत बुद्धि वालों के समझने के लिये कहीं नाट्यवेद के अर्थ और धर्मों को लेकर संक्षेप में तरल रोति से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ ॥४॥

इस ग्रन्थ का फल दशरूपकों का ज्ञान है पर दशरूपकों का फल मान्य वेना है इस बात को निम्नलिखित प्रकार से बताया जा रहा है—

प्राप्तमन्तिस्पर्शेषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्र फलमल्पबुद्धि ।

योऽपीतिहासाविषयाह साधुस्तस्म मम स्वातुपराह मुखाय ॥५॥

जिनके प्राप्ति करता रहता है ऐसे रूपकों का फल मन्त्र बुद्धि वाले लोग इतिहास-पुराण की तरह जिन (धर्म धर्म काय) की प्राप्ति-आज बतलाते हैं। ऐसे स्वाद से अलभिज लोगों को नमस्कार है ॥५॥

नामह धादि प्राचीन धातुओं का ऐसा मत है कि धातु काव्यों के ऐक्य से धर्म धर्म काम मोक्ष और कलाओं में प्रवीणता आती है और कीर्ति तथा प्रीति की प्राप्ति होती है (नामह १२)। इस प्रकार ये तीन विषयों की प्राप्ति काव्य का फल है ऐसा मानते हैं। इस बात का अर्थ यह करने हुए धातुकार बताते हैं कि स्व-सर्वेष्ट परम आनन्दरूप रम के आस्वाद्य की प्राप्ति ही रघुपञ्चकों का फल है इति हाम धादि की तरह विचारों की प्राप्ति-आश ही नहीं। ऊपर जो 'स्वाद' में अमिश्र लोचों को समझा है ऐसा कहा गया है वह उपहास के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पहले धातुकार कुछ धातु हैं कि नादय के लक्षणों को मध्ये में प्रस्तुत कर रहा है। धातु के सर्वप्रथम नादय विभे कहते हैं इसी बात को बताते हैं—

अवस्थानुवृत्तिर्नादय

“अवस्था के अनुकरण को नादय कहते हैं।”

काव्य में वर्णित या वीरोन्मत्त धादि नादयों की (और अन्य धातु की) अवस्थाएँ हैं उनका अनुकरण के द्वारा बार-बार प्रकार के धर्मियों से ऐसा अनुकरण जो राम-मुष्मन्त धादि धातुओं को अर्थ-कारणों उपस्थित कर वही और वही में उनके राम-मुष्मन्त धादि होने की प्रतीति उत्पन्न कर वही (वादात्मकता) उसे नादय कहते हैं।

रूप इत्यस्योच्यते ।

हरय धर्मात् विद्याई देने योग्य होने के कारण उसे ही रूप को कहते हैं उसी प्रकार विल प्रकार मौल धादि को विद्याई देने के कारण रूप कहते हैं।

रूपकं तत्समारोपाद्

(मर में राम धादि की अवस्था धादि का) आरोप कर लिया जाता है। अतः नादय को रूप या रूपक भी कहते हैं।

एक ही वस्तु के नादय रूप रूपक ये तीन नाम वैसे ही प्रयुक्त

क कारण व्यवहार में घात है जैसे इन्द्र पुरम्बर, सक्, ये तीनों माम
एक ही दबता की प्रकृति के निमित्त में व्यवहृत होते हैं।

वशाधय रसाभयम् ॥७॥

(रस को घाधय के रसवर्तमान रहने वाले) ये क्यक इस प्रकार के
ही होते हैं।

'इस ही प्रकार के' कहने का तात्पर्य यह है कि बिना मिले हुए
मुक्त रूप में ही इस प्रकार के क्यक रस को घाधय करके रहने वाले
हैं अन्य नहीं। नाटिका भी रस को घाधय करके रहती है पर इसमें
मिश्रण (संकीर्णता) होने के कारण वह मुक्त रूप से रस का घाधय नहीं
हाती इस बात का ध्यान बठाएंगे।

नाट्य के दम मेद के हैं—

नाटकं सप्रकरण भास्यं प्रहसनं हिमं ।

व्यायोगसमवकारी बोध्यङ्गहास्यमा इति ॥ ८ ॥

१ नाटक २ प्रकरण ३ भास्य ४ प्रहसन ५ हिम ६ व्यायोग
७ समवकारी ८ बोधी ९ अंक १ हास्य (य क्यक के दम मेद
हैं) ॥८॥

कुछ लोगों का कहना है कि नृत्य के सात भेदों—गम्भी धोन्ड
भास भाषी प्रख्यात पसक गीर काव्य—में से भास की रस भास्य
के दस भेदों में गिनाया गया है जैसे ही धेप कहीं की भी क्यक के
भेदों में गिनाता उचित है। इस प्रकार इस ही क्यक के भेद होने हैं
कचन ठीक नहीं है क्योंकि उपर्युक्त कारण के द्वारा धीरे भी भास के
भेदों की उपलब्धि हाती है।

इसका उत्तर पञ्चकार निम्नलिखित रंग से देते हैं —

अन्यद्वाभाधय नृत्यं—

(नृत्य के भेदों की क्यक के कारण नहीं रख सकते क्योंकि) भास
के घाधय करके रहने वाला नृत्य रस को घाधय करके रहने वाले भास

ले निम्न प्रकार का ही होता है। (इस प्रकार नाच के आभय करके रहने वाले नृत्य से रस को आभय करके रहने वाला नाट्य का विषय स्पष्ट ही भिन्न है)।

नृत्य—यह शब्द नृत् पातु से जिसका प्रमाण पात्र के विशेष करने के अर्थ में होता है बना है। इसमें आभिक अर्थात् अर्थ से सम्बन्धित भावों की बहुलता रहती है। इसीलिए इसके करने वाले को नर्तक कहते हैं। लोक में भी यह देखने लायक है ऐसा व्यवहार नृत्य के लिए होता है। इस प्रकार नृत्य नि नाट्य भिन्न वस्तु है यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। नृत्य के अर्थ होने के कारण अंगवित्त आदि का नृत्य शब्द से बोध होता है।

नाटक आदि अथक क जितन भी भेद है वे सभी रस के विषय हैं। पदार्थों के ससंग से वाक्यार्थ का बोध होता है और विभावाविकों द्वारा रस व्यञ्जित होता है। पदार्थ अथ भावों का जो अभिनय है वह तो नृत्य में रहता है और रस को आभय करके रहने वाला वाक्यार्थ स्वामीय जो अभिनय है वह नाट्य में रहता है। यही इन दोनों का भेद है।

नृत्य जहाँ नाच विशेष करने वाले नाच नृत् पातु से बना है वहाँ पर 'नाट्य शब्द व्यवस्थान' अर्थ वाला नातु से बना है। नाट्य में बोड़ी-नी आदिक क्रिया भी रहती अवश्य है पर नाट्यिक भावों का ही आभाव रहता है। इसीलिए इन क्रिया के करने वाले को 'नट' कहते हैं।

जैसे नृत्य और नृत् दोनों में नाच-विशेष समान रूप से रहता है पर नृत्य में अनुकरण के भी हाथ के कारण वह नृत् से कुछ भिन्न बना है जैसे ही वाक्यार्थ-रूप अभिनय वाला नाट्य-पदार्थ स्वामीय अभिनय का आभय करके रहने वाले नृत्य से भिन्न ही होता है।

प्रथम या द्विती ने यही नृत्त की व्याख्या भी किया है—

नृत्त तात्तमयाभयम् ।

नृत्त तात्त और तत्त्व को आभय करके रहता है अर्थात् होता है।

(ताल घीर तय के आश्रय करके इसमें अय-विलोप (अंग-सञ्चालन) होता है । इसमें अभिनय एकत्रय नहीं रहता है) ।

प्राद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो वेशी तथा परम् ॥ ९ ॥

पदार्थ स्थानीय अभिनय को आश्रय करके होने वाली नृत्य को 'मार्ग' कहते हैं और नृत्य को 'वेशी' ॥९॥

मधुरोद्धतमेवेनत इत्ययं द्विविध पुन ।

सास्यताञ्चक्येण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

ये दोनों ही अर्थात् नृत्य (मार्ग) और नृत्य (वेशी) मधुर और उद्धत मेव से दो प्रकार के होते हैं । दोनों में मधुरता से युक्त होने वाली क्रिया को सास्य तथा उद्धतपना से युक्त होने वाली क्रिया को 'ताञ्चक' कहते हैं । ये नृत्य और नृत्य नाटक आदि कर्मों के उपकारक होते हैं । कर्मों में नृत्य का उपयोग दूसरे पदार्थों के अभिनय के लिए तथा नृत्य का प्रयोग घोना चढ़ाने के लिए होता है ॥१०॥

अनुकरक तो प्रत्येक रूपक में होता है पर इनके भीतर कौन-कौन सी ऐसी सामग्रियाँ हैं जिनके रहने-न रहने से इनका आपस में एक-दूसरे से भेद होता है इस बात को बतला रहे हैं—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको वस्तु च द्विधा ।

वस्तु नेता और रस इन तीनों के भेद से ही रूपक एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं ।

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्ग प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ११ ॥

वस्तु दो प्रकार का होता है—आधिकारिक और प्रासंगिक । प्रधान कथावस्तु को आधिकारिक तथा उसके अङ्गभूत जो कथावस्तु होती है उसे प्रासंगिक कहते हैं ॥११॥

जैसे रामायण में राम-नीता की कथा आधिकारिक तथा और उसकी अङ्गभूत कथा जो विभीषण सुग्रीव आदि की है उसे प्रासंगिक कहते हैं ।

प्राधिकारिक कथावस्तु

अधिकार एतस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः ।

तस्मिन्बर्त्स्यमभिध्यापि धृतं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

एत का स्वानित्य अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता अधिकार कहलता है और उस एत का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारी की एत प्राप्ति-वर्त्यन्त चलने वाली कथा को प्राधिकारिक कथावस्तु कहते हैं ॥ १२॥

प्रासंगिक कथावस्तु

प्रासङ्गिक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

दूसरे (प्राधिकारिक कथा के नायक धारि) के प्रयोजन की तिष्ठि के उद्देश्य की प्रमाणता के रहते वह जहाँ अपनी भी प्रसंगवत् स्वार्थसिद्धि हो जाए, ऐसी कथा को प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं।

सामुख्यं पताकास्य प्रकारो च प्रवेशभाक ॥ १३ ॥

प्रासंगिक कथा भी पताका और प्रकारों में से दो प्रकार की होती है। जो कथा दूर तक चलती रहे ऐसी कथा को पताका कहते हैं।

इसका पताका नामकरण इनमिल किया गया है कि जैसे पताका नायक का समाधारण बिना छोट हुए उपकारक रहती है वैसे ही यह भी उमी क समाज नायक में सम्मिश्रित कथा की उपकारिका होती है। इसका उदाहरण रामायण के भीतर घाने वाला सुधीर धारिका वृत्तान्त है। और जो प्रासंगिक कथा कुछ मोड़ी ही दूर तक चल उसको प्रकार कहते हैं, जैसे रामायण के भीतर घाने वाला भवणशुमार का वृत्तान्त ॥ १३॥

पताका स्थानक

प्रस्तुतामनुभाषस्य यस्तुतोऽभ्यासिभूजवम् ।

पताकास्थानक सुस्पष्टविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

जिस कथा का प्रकरण चल रहा हो उसमें घाये जाने वाली बात को सूचना मिलती है उसे पताकास्वानक कहते हैं। यह पताका के समान ही होती है अतः इसे पताका स्वानक कहते हैं। (यह 'तुल्य इति-युत' और 'तुल्य विशेषण' — भेद से दो प्रकार की होती है। अर्थात् समासोक्ति और अम्योक्ति (अप्रस्तुत प्रशंसा) भेद से दो प्रकार की होती है) १ ॥१७॥

वही रत्नाबली नाटिका से अम्योक्ति भेद का उदाहरण दिया जा रहा है—

अस्तावसगामी मूर्ख अपनी प्रेयसी कमलिनी को सम्बोधित कर रहा है—'हे कमलनयने मैं जा रहा हूँ क्योंकि यह मेरे जाने का समय है तुम (माय) मेरे ही द्वारा मुझाई भी जा रही हो और कम (प्रातःकाल) मेरे ही द्वारा उठाई भी जाओगी अतः थोका थोका करो। इस प्रकार कमलिनी को सात्वना देता हुआ मूर्ख अस्तावस में अपनी किरणों को निविष्ट कर रहा है।

समासोक्ति नामे पताका स्वानक का उदाहरण भी उसी नाटिका (रत्नाबली) से दिया जा रहा है—

(नायक राजा उदयन और उसकी रानी वासवदत्ता में होड़ लगी १ तुल्य विभेदस समासोक्ति में ही रहता है अतः तुल्य विशेषण से समासोक्ति अमकार समझना चाहिए। अप्रस्तुत प्रशंसा को ही तुल्य भोप अम्योक्ति नाम से पुकारते हैं।

अमकार के अनुसार पताकास्वानक का पहला उदाहरण अम्योक्ति का और दूसरा समासोक्ति का है। पर अम्योक्ति भोप दोनों अर्थ समासोक्ति ही मानते हैं। अमकार के वक्त के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिसको प्रकरण का पता नहीं है उसे उदाहृत पद्य में पहले प्रस्तुत नायिका-यक्ष का ज्ञान होना उसके बाद अप्रस्तुत कमलिनी के वक्त का अतः प्रस्तुत से अप्रस्तुत का ज्ञान हो जाने पर अप्रस्तुत प्रशंसा (अम्योक्ति) मानने में कोई बाधा नहीं होगी।

है कि कौन अपनी उद्यानमता को पहले पुष्पित कर देता है। चिड़ की सहायता से राधा की लता पहले फूल उठती है। उसी को देखकर राधा कह रहा है। वह ऐसे विशेषज्ञों का व्यवहार कर रहा है जो मठा के लिए तो प्रयुक्त होते ही हैं किसी अन्य प्रेमातुरा नायिका के पक्ष भी देते हैं। बलोक का चमत्कार इन विशेषज्ञों के कारण ही है।)

आज इस उदाहरणकालिका [(१) लता के पक्ष में चटखती कमियाँ वाली (२) धम्म स्त्री के पक्ष में अत्यन्त उत्कृष्टावुष) विपाण्डुर कथा [(१) पीली कान्तिवाली (२) पीली पड़ गई] प्रारम्भ प्रुम्मा [(१) विकसित होन वाली (२) बम्हाई जेठी हुई] निरन्तर बेग के कारण अपने-आप को विद्याल बनाती हुई [(१) पैसती हुई, (२) बीर्ष निश्वास के कारण व्याकुल] समझना [(१) मदन नायक वृक्ष के पास वाली (२) कामा लुप] उद्यानमता को दूसरी स्त्री के समान निहार निहारकर मैं रानी का मुल जोष से धम्म ही नाम कर चुँवा।

इस प्रकार

प्रख्यातोत्पाद्यनिभस्वभेदात् ज्ञेयापि तत्प्रिया ।

प्रख्यातमितिहासादेरन्याद्यं कविकल्पितम् ।

मिथं च संहराताम्यां दिव्यमर्त्यादिभेदत ॥ १५ ॥

वस्तु के प्राधिकारिक यताका और प्रकरी के तीन भेद होते हैं।

किर ये तीनों भी प्रख्यात उत्पाद्य और मिथ इन चैदों के कारण तीन-तीन प्रकार के होते हैं—(१) इतिहास आदि में जाने वाली कथा वस्तु की प्रख्यात कहते हैं। (२) कवि की प्रतिभा द्वारा निर्मित कथा-वस्तु को उत्पाद्य कहते हैं ॥ १५ ॥ तथा (३) प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों के मिश्रण को मिथ कहते हैं। अर्थात् जिनमें का कुछ भंश इतिहास आदि के द्वारा अतिथि प्राप्त हो तथा कुछ भंश कवि की प्रतिभा से उद्भूत हो उसे मिथ कहते हैं।

कषायस्तु की फल

काय त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुवन्धि च ॥ १६ ॥

धर्म धर्म धीर काय इन तीनों की प्राप्ति कषायस्तु का फल है। इन तीनों में से कहीं तीनों कहीं दो धीर कहीं एक ही स्वतन्त्र रूप से जल होते हैं ॥१६॥

इन फलों की प्राप्ति के माघन

स्वत्पोद्भिष्टु तद्वतुर्वीज विस्तार्यनेकधा ।

बीज—कार्य (मुक्त जल) का सावक हेतु विशेष को बीज कहते हैं। इसका पहले सूक्ष्म कषण होते हुए धीरे धीरे चलकर अनेक प्रकार का विस्तारपुस्त रूप विकार्य देता है।

यह बीज के समान ही देखने में छोटा पर धीरे धीरे चलकर छाया पत्र तथा धादि से युक्त विद्यान बुद्ध के समान विस्तृत रूप को धारण कर लेता है। अतः बीज के समान होने के कारण इसे भी बीज ही कहते हैं। इसका उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका में विष्णुधर्म में पड़ा हुआ रत्नावली की प्राप्ति का कारण अनुकूल रीति धीरे धीरे धीरे धीरे का उद्योग है। इस नाटिका में सूत्रधार की बात को बोधराते हुए वीर धारण कहता है— 'इसमें क्या सम्यक् है अनुकूल विधि विद्याओं की धीरे-धीरे से धीरे धीरे से समुद्र के मध्य से मगधाही वस्तु को धारण कर लाकर मिला देता है। यही है धारण करके 'स्वामी की वृद्धि के लिए मैंने जो कार्य धारण किया है उसकी सिद्धि के लिए रीति भी अनुकूल है। मेरे द्वारा धारण किया गए इस कार्य में सफलता प्राप्त होगी इसमें शरा भी सम्यक् की गमाया नहीं है पर इन सब बातों के होने हुए भी मेरे मन में भय ने यह मोक्ष-मोक्षकर स्थापन कर दिया है कि यह सारा कार्य मेरे द्वारा महाराज से बिना पूछे ही धारण ही मन से किया जा रहा है इसीलिए महाराज में भय सामूह्य हो रहा है। यही एक (बीज है)।

न्ती प्रकार 'बही गंहा' नाटक में वीपदी के केत-मयमन के मित्र भीम के क्रोध से बड़ा दुःख मुषिष्टिर का उत्साह बीज-रूप से प्रकट है। यह महाकाव्य और अवांतर काव्य के भेद से अनेक प्रकार का होता है।

अवांतरार्यविच्छेदे विदुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥

विदुः—अवांतर कथा की समाप्ति के अवसर पर प्रधान कथा के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न होने देने वाली वस्तु को 'विदुः' कहते हैं ॥१७॥

जब मैं तैल विदुः जिस प्रकार फेंक जाता है उसी प्रकार यह भी फेंकता है। ऐसा होने के कारण ही इसे 'विदुः' कहल है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में कामदेव की पूजा अवांतर कथा है। पूजकथा से उमका विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस अवांतर प्रयोजन-रूप कामदेव की पूजा की समाप्ति के अवसर पर कर्णार्थ के विच्छेद की स्थिति या जाती है पर वही हमारे काम का कारण बन जाने से ऐसा नहीं हो पाता—
“महागज उद्यम चन्द्रमा के समान घूमित हो रहे हैं। यह सुनकर तामरिका कह उठती है कि 'क्या य व ही महाराज उद्यम हैं दिन के लिए पिलाजी ने मुझे भेजा था ?' इत्यादि और इस प्रकार इस अवांतर समय का मूल क्या से सम्बन्ध जुट जाता है।

ऊपर बीज विदुः आदि सर्वप्रकृतियाँ की बिना 'जम' के प्रमाणानुसार कह पाए हैं। अब उन्हें मञ्जकर जम की ध्यान में रखकर बताने हैं—

दीयविदुःपताकाग्यप्रकरीशार्थतत्त्वणा ।

अपप्रकृतयः पञ्च ता एता परिकीर्तिता ॥ १८ ॥

(प्रयोजन की निष्ठि के कारण) पाँच सर्वप्रकृतियाँ होती हैं। वे हैं—१ बीज २ विदुः ३ बहारा ४ प्रकरी और ५ कार्य ॥१८॥

अब पाँच अग्न्यागों का बताने हैं—

अपस्या पञ्च पायस्य प्रारम्भस्य पत्न्यादिभिः ।

प्रारम्भपर्यन्तप्राप्त्याप्तानियतातिपत्तागमाः ॥ १९ ॥

फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति द्वारा जो कार्य प्रारम्भ किया गया रहता है उसकी पाँच व्यवस्था होती है—१ प्रारम्भ २ मत ३ प्राप्त्यप्ता ४ नियताधि और ५ फलागम ॥१६॥

औस्तुबयमात्रमारम्भ पलसाभाय भूयसे ।

प्रारम्भ—प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्पन्न उत्सुकता को प्रारम्भ कहते हैं ।

पर्याप्त 'इत कार्य को मैं कर रहा हूँ' इस प्रकार के अध्यवसाय को प्रारम्भ कहते हैं । जैसे 'रत्नावली' के प्रथम अंक में योगेश्वररायण कहता है कि स्वामी की बुद्धि के लिए जो कार्य देने प्रारम्भ किया और भ्रातृ ने भी जिसमें सहारा दिया इत्यादि । यहाँ से बलराज उदयन के काम का प्रारम्भ योगेश्वररायण के मुख से दिखाया गया है क्योंकि उदयन 'मन्त्रिवायल-मिडि' राजा है अर्थात् ऐसा राजा है जिसकी मिडि लक्षिक के भराये होती है ।

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतिस्वराम्भितः ॥ २० ॥

प्रयत्न—जब अत्यन्त फल की तीव्र प्राप्ति के लिए उत्पन्न धादि रूप चेष्टा-विशेष के करने को प्रयत्न कहते हैं ॥२०॥

जैसे 'रत्नावली' में धामेक (विभाकुल) धादि द्वारा बलराज उदयन से मित्र के उपाय का वर्णन ।^१

सागरिका मन-ही-मन सोचती है—'तो फिर महाराज के दर्शन प्राप्त करने के लिए अब कोई उपाय नहीं दीज सकता । अब जैसे-जैसे उनके चित्र की धाँकड़ ही अपना मनोकामना पूर्ण करे । इस प्रकार है 'रत्नावली' में प्रयत्न दिखाया गया है ।

उपायापाप्यशङ्काभ्यां प्राप्त्यादा प्राप्तिः स भव ।

प्राप्त्यादा—फल की प्राप्ति में ऐसे व्यापार का होना जिसमें किञ्च

१ सागरिका (रत्नावली) महाराज उदयन से चित्राङ्गन द्वारा जैसे-जैसे मिलने के लिए जो कार्य करती है वह प्रयत्न है अतएव प्राप्ता है ।

पहुँचे की सम्भावना है। फल की प्राप्ति अनिश्चित रहती है। प्राप्त्याभा कहलाता है।

इसमें कार्यसिद्धि के लक्षण बीच पड़ते हैं। पर उसमें विघ्न की प्राप्ति से फल की प्राप्ति में अनिश्चितता आ जाती है। जैसे 'रत्नावली' के तृतीय अंक में सागरिका का बेप-परिवर्तन कर उदयन के पास अभिसरण करने में कार्यसिद्धि का लक्षण दिखाई देता है पर कहीं महारानी वासवदत्ता बेच न ले इस प्रकार विघ्न की प्राप्ति बनी रहती है। इसी प्रसंग में बिदूषक कहता है— 'इस प्रकार के कार्य करते समय कहीं अकाल में उठे हुए बेच के समान वासवदत्ता न आ पहुँचे अन्यथा सारा काय ही चौपट हो जाएगा। इस प्रकार यहाँ महारानी से समागम की प्राप्ति अनिश्चित-ही है।

अप्राप्त्याभास्त प्राप्तिनियताप्ति सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

नियताप्ति—विघ्नों के घनाब में लक्ष्यता के निश्चित हो जाने की अवस्था को नियताप्ति कहते हैं ॥२१॥

जैसे रत्नावली नाटिका में—“बिदूषक—‘सागरिका का बीधित रहना बड़ा ही कठिन है। यहाँ से आरम्भ कर फिर कौनसा उपाय सोच रहे हो ? इसको सुनकर वासुदेव बिदूषक से कहते हैं—“मित्र देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा और कोई भी उपाय नहीं सूझ रहा है। इन प्रकार में देवी द्वारा जो विघ्न की प्राप्ति भी वह उन्हीं को प्रसन्न करने के निश्चय में सागरिका-अप फल की प्राप्ति एक तरह से निश्चित-आ जाय।

समप्रकससपति कसयोगो यथोदित ।

कलापम—कार्य में लक्ष्यता के साथ-साथ अन्य समस्त बाधों की प्राप्ति को कलापम कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में उदयन को रत्नावली की प्राप्ति के साथ-साथ अकालित्व की प्राप्ति भी हो जाती है।

अर्धप्रकृतय पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता ॥ २२ ॥

यथासक्येन जायते मुखाद्या पञ्च सन्धि ।

सन्धि—(ऊपर कहे हुए) पाँच अर्धप्रकृतियों और काय को पाँचों अवस्थाओं के क्रमशः एक-दूसरे से मिलने से पाँच सन्धियों की उत्पत्ति होती है ॥२२॥

अन्तरेकार्धसम्बन्ध सधिरैकान्धये सति ॥ २३ ॥

सन्धि का साधारण अर्थ—एक प्रयोजन से सम्बन्धित कथा का दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्धित हो जाने को सन्धि कहते हैं ॥२३॥

निम्नलिखित पाँच सन्धियाँ हैं—

मुखप्रतिमुखे गर्भ सावमर्शोपसङ्गति ।

मुख बीजसमुत्पत्तिर्नार्थरससमवा ॥ २४ ॥

अङ्गानि द्वारगतस्य बीजारम्भसमन्वासात् ।

१ मुख सन्धि २ प्रतिमुख सन्धि ३ गर्भसन्धि ४ अवमर्श सन्धि और ५ उपसङ्गति या उपसंहार सन्धि ।

अब इनका अर्थ समझ लिया जाता है ।

मुख सन्धि

यह सन्धि बीज नामक अर्धप्रकृति और धारम्भ नामक अवस्था के संयोग से पैदा होती है । इसमें धारम्भ नामक अवस्था के योग से अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों की प्रकट करने वाली बीज (अर्धप्रकृति) की उत्पत्ति होती है । इसके १२ अंग होते हैं ।

मुखसन्धि में अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों को प्रकट करने वाले बीज की उत्पत्ति होती है । यहाँ पर 'अनेक प्रकार के प्रयोजन' यह रस का विशेषण है । यदि इसे विशेषण न मानें तो फिर शास्त्र रस में जहाँ विषय में से किसी प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होती मुखसन्धि का होना असम्भव हो जायगा । रस के विशेषण रूप में 'अनेक प्रकार के प्रयोजन

बड़ने की सम्भावना से फल की प्राप्ति अनिश्चित रहती है। प्राप्त्यासा कहलाता है।

इसमें कार्यसिद्धि के संशय हील पड़ते हैं। पर उसमें विघ्न की घाघका सं फल की प्राप्ति में अनिश्चितता या बाध है। जैसे 'रत्नावली' के तृतीय अंक में सामरिका का वेप-परिवर्तन कर उद्यम के पास अभिसरण करने में कार्यसिद्धि का संशय दिखाई देता है पर कहीं महारानी वासवदत्ता वेप न ले इस प्रकार विघ्न की घाघका बनी रहती है। इसी प्रसंग में बिदूषक कहता है— 'इस प्रकार के कार्य करते समय कहीं प्रकाल में ठठे हुए मेव के समान वासवदत्ता न धा पहुँचे घम्यवा साथ काय ही चौपट हो जाएगा।' इस प्रकार यही महाराज से समा गम की प्राप्ति अनिश्चित-सी है।

अपामाभायतः प्राप्तिर्नियतापि सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

नियतापि—विघ्नों के अभाव में लक्ष्यता के निश्चित हो जाने की प्रवस्था को नियतापि कहते हैं ॥२१॥

जैसे रत्नावली नाटिका में—'बिदूषक—'सामरिका का जीवित रहना बड़ा ही कठिन है। यहाँ से प्रारम्भ कर फिर कौनसा उपाय सोच रहे हो ? इसकी सुनकर बलराम बिदूषक से कहता है— 'मित्र देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा और कोई भी उपाय नहीं मूम रहा है। इस प्रकार से देवी हाग जो विघ्न की घाघका भी वह उन्ही को प्रसन्न करने के निश्चय से सामरिका-रूप फल की प्राप्ति एक तरह से निश्चित-ही हो गई।

समप्रफलसंपत्ति फलयोगो यथोचितः ।

फलयोग—कार्य में लक्ष्यता के साथ-साथ अन्य समस्त परिधि कलों की प्राप्ति को फलयोग कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में उद्यम को रत्नावली की प्राप्ति के साथ-साथ चक्रवर्तिन्य की प्राप्ति भी हो जाती है।

अर्धप्रकृतयः पञ्च पञ्चाङ्गस्यासम्बिता ॥ २२ ॥

यथासंख्येन चाप्यस्ते मुक्ताद्याः पञ्च सम्यग् ।

सन्धि—(ऊपर कहे हुए) पाँच अर्धप्रकृतियों और चाप को पाँचों अक्षरवालों के समस्त एक-दूसरे से मिलने से पाँच सन्धियों की उत्पत्ति होती है ॥२१॥

अन्तरेकार्यसम्बन्ध सविरेकान्धये सति ॥ २२ ॥

सन्धि का सामान्य लक्षण—एक प्रयोजन से सम्बन्धित कहा या दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्धित हो जाने को सन्धि कहते हैं ॥२३॥

निम्नलिखित पाँच सन्धियाँ हैं—

मुक्तप्रतिमुखे यत्र साधमर्शोपसङ्गतिः ।

मुक्त बीजसमुत्पत्तिर्नाभाभरसंसम्बन्धः ॥ २४ ॥

अङ्गानि द्वादसीतस्य बीजारम्भसमन्वयान् ।

१ मुक्त सन्धि २ प्रतिमुख सन्धि ३ गर्भसन्धि ४ अक्षमज्ञ सन्धि
और ५ उपसङ्गति या उपसंहार सन्धि ।

यत्र इतका कर्मणः सङ्गम विद्या जाता है ।

मुक्त सन्धि

यह सन्धि बीज नामक अक्षरप्रकृति और प्राग्जन नामक अक्षरवा क लक्षण से पैदा होती है । इसमें प्राग्जन नामक अक्षरवा क लक्षण से अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों को प्रकट करने वाला बीज (अर्धप्रकृति) की उत्पत्ति होती है । इसके १२ अक्षर होने हैं ।

मुक्तसन्धि में अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों का प्रकट करने का बीज की उत्पत्ति होती है । यही वह 'अनेक प्रकार के प्रयोजन' वह रस का विशेषण है । यदि इस विशेषण में कार्य का किन्हीं रूप में के अक्षर विवरण में से किसी प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होना मुक्तसन्धि का ही अक्षरवा हो जाएगा । रस का विशेषण का में अनेक प्रकार के प्रयोजन

इसकी गलन से हास्यरस में भी भुलगमि का बोध नहीं हो पाता है ।

इस गमि के बीज और धारम्भ के योग से निम्नलिखित १० धन होते हैं ।

उपश्लेष परिवार परिभ्यासो वित्तोभनम् ॥ २५ ॥

पुत्ति प्राप्ति समाधान विधान परिभाषणा ।

उद्धूरेभेदकरणाभ्यन्वयान्यय सकारणम् ॥ २६ ॥

१ उपश्लेष २ परिवार, ३ परिभ्यास ४ वित्तोभन ५ पुत्ति
६ प्राप्ति ७ समाधान ८ विधान ९ परिभाषणा १० उद्धूरे
११ भेद और १२ करण ॥ २५ २६ ॥

इन सबका मतलब आसानी से समझ में आ जाय एतदर्थ इन्हें उदाहरण के साथ दिया जा रहा है—

बीजभ्यास उपश्लेष

१ उपश्लेष—बीज के भ्यास (रखना) को उपश्लेष कहते हैं ।

जैसे निपट्य में बीजम्बरायण का प्रह्व कचन 'हीपादग्यस्मादपि—
अग्य हीपा से बिछाघी की छोर छोर से (पृ० ८७ के) आदि । इस दलीक
से योग्यगयण द्वारा बलराज का रत्नावली की प्राप्ति के लिए अनुक्रम
हैव और अयम ध्यापान का कचन बीजभ्य में रत्ना गया है ।

सन्धाहुस्यं परिक्रिया ।

२ परिवार—बीज की बुद्धि को परिवार कहते हैं ।

जैसे 'हीपादग्यस्मादपि' उनके आगे योग्यगयण का यह कचन—
'यदि ऐसी बात न होती तो फिर भला गिर्जों के कचन पर दिखान
करके उदयन के लिए सीपी गई निहमरर की कय्या का समुद्र में बीजा
के भ्रम हो जान पर दूबने समय बहना हुपा बात का क्या धारमशा
के लिए कैम प्राप्ति हो जाता ?' यही में धारम्भ करके 'स्वामी की
उम्मीद अकर्म्यमायी है । यही तक बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार से
की गई है, मत यह परिवार का उदाहरण है ।

तस्मिन्प्राप्तिः परिम्यासो

३ परिम्यास—बीज की निष्पत्ति अर्थात् उत्तका निश्चित रूप में प्रकट होना परिम्यास कहलाता है।

जैसे वही रत्नावली नाटिका में—‘प्रारम्भस्मिन्’ भावि श्लोक से।

गुणाख्यानाद् विसोभनम् ॥ २७ ॥

४ विसोभन—मुख कथन को विसोभन कहते हैं।

जैसे रत्नावली नाटिका में वीतांतिका के द्वारा चन्द्रसदृश वस्त्ररान के मुखवर्जन से सारिका के समागम का कारण अनुगम-रूप बीज की अनुकूलता का बचन। यथा—

‘सूर्य भगुनी समस्त किरणों के साथ प्रस्तावमगामी हो गए। मेन चारियों को आनन्द प्रदान करने वाले महाराज उदयन चन्द्रा के समान उज्ज्वल हो रहे हैं। इस सन्ध्याकाल में समामन्त्रण में आसीन नृपबन्धु कमलों की झुल्लुकी को हृद्य करन वाले उनके चरकसेवन के लिए उत्सुक बने हुए हैं।

और जैसे बेनीसंहार का यह श्लोक—‘भीमसेन, (प्रसन्न होकर) शीपरी से कहते हैं कि बेनि यह क्या? मन्वन बन्ध (मंदराचल) से प्रसिद्ध समुद्र-जल से पूर्ण कंदरा-सहित मंदराचल की तरह गम्भीर चोपकारी कोमावात होने पर प्रलयकाल से गरजते हुए मेघों की घटाघों के परस्पर टक्कर धामे से भीषण घम्भकारी प्रलय रात्रि के भगवत के समान कीरवों के अधिपति (दुर्धौबन) के नाद्यमुख उद्घाट से उदित मन्मथात की भांति तथा हम लोगों के सिंहनाद के सदृश इस नपाड़े को किसने ताड़ित किया है। वहाँ से आरम्भ करके ‘यदा दुन्दुभि — यदा की दुन्दुभि बार-बार बज रही है। यही ठक का धंघ शीपरी के जुमाने के प्रयत्न का कारण विसोभन है ॥ २७ ॥

संप्रसारणमर्थात् युक्तिः

युक्ति—प्रयोजन के सम्यक् निरूप को युक्ति कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में चौगन्धराज का यह कथन— मैंने भी उस कम्पा को बड़े धावर के साथ रानी को सौंपा है। यह बात धन्धी ही हुई। अब मुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कबुकी बाभ्रव्य भीर सिंहमेस्वर का मन्त्री मधुभूति भी जो राजकम्पा के साथ चले वे किसी प्रकार इतने उत्तरात किनारे गये हैं। अब वे सेनापति सम्मान से जो कोयलपुर को पीतने गया था मिलकर यहाँ पहुँचे हैं।”

इसके द्वारा अन्तपुर में निवास करने वाली नागरिका से बलराज का सुलपूर्वक दर्शन आदि कार्य हो सकेगा तथा बाभ्रव्य भीर सिंह मेस्वर के प्रसाद का अपने नायक के साथ मिलन हो सकेगा इस बात के निश्चय हो जाने से यहाँ सुख है।

प्राप्ति-सुखागम ।

प्राप्ति—सुख के प्राप्त होने को प्राप्ति कहते हैं।

जैसे 'बनो महार' में—बेटी कह रही है कि 'महारानी सुन राज कुट्ट-से प्रतीत हो रहे हैं। हमने बाद भीम का इस कथन से प्रारम्भ कर—“क्या मैं संसार में जोष से भी कीरकों का भर्जन नहीं कर डालूँगा ? क्या तु दासता के हृदय-ग्रंथ का रक्तगम नहीं करूँगा ? क्या मैं क्या से बुद्धिधन के जोष को पूर्ण न बना डालूँगा ? तुम लोगों के राजा (मुनिष्ठिर) इस विनिमय पर सन्धि करें। यह सुनकर भीरवी कहती है—(प्रसन्नता के साथ) स्वामिन् आपके ये वचन अत्युत्तम हैं ऐसा कभी भी पृथि गोचर नहीं हुआ था। अच्छा एक बार हमें फिर मैं कहने की इजाजत करें। यहाँ तक भीम का जोष-व्यंज जो बीज है उसमें भीरवी को सुख प्राप्त होगा 'प्राप्ति' है।

इसी प्रकार रत्नावली नाटिका में—नागरिका उदयम का नाम सुनकर हर्षपूर्वक भूमवर स्तूति के साथ बैलती हुई कहती है—“क्या मैं ही महाराज बरयन हैं जिनका पिताजी ने मुझे समर्पित किया था ? हाँ फिर हमारे क योग्य मैं दूगित हुआ मरा शरीर इनके दर्शन में पवित्र हो गया।” इस प्रकार नागरिका (रत्नावली) के सुख प्राप्त हो जाने में यहाँ 'प्राप्ति' है।

बीजागम समाधान

समाधान—बीज के प्रागम को समाधान कहते हैं। समाधान का अर्थ है युक्ति के साथ बीज को रखना।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में 'वासवदत्ता—यही तो वह साज मधोब' है तो फिर मेरी पूजा की सामग्री को लाओ।

सागरिका—भीखिए, महाराजी ये सारी वस्तुएँ सुसज्जित हैं।

वासवदत्ता—(घपने घाप सोचती है) देखो न लीवर-बाकरों की प्रसाधमानता जिसकी धाँकों से बचाए रखने का मैंने सदा सावधानी पूर्वक ध्यान किया है आज उमीकी दृष्टि में यह (सागरिका) पड़ना चाहती है। और तो फिर ऐसा बक (कहती है)—'घरी सागरिका आज घर के सब लोग जब मदन महोत्सव में व्यस्त हैं तो फिर तू सारिका को छोड़कर यहाँ क्यों आ गई? तू बस्ती नहीं आ और पूजा की सामग्री काबलमाना तो दे दे। यहाँ से लेकर 'सामरिका (घापने-घाप कुछ चलकर)—सारिका को तो मैंने सुमंगला को सौंप ही दिया है मेरे मन में मदन-महोत्सव देखने की कामना है तो मैं यही से छिपकर देखती हूँ। यहाँ पर वामवदत्ता यह चाहती है कि महाराज और सागरिका का परस्पर अनसोकन-कभी कार्य न हो इसी लिए वह सारिका को बैल माल के बहाने सागरिका को लौटा देती है पर सुमंगला के हाथ सारिका को पहले ही समर्पित कर चुकने के कारण वह महाराज को छिपकर देखती है। इस प्रकार महाराज उद्यम और सामरिका के समाधम-रूप बीज को युक्ति के साथ रखने से यह समाधान का उदाहरण हो जाता है। धपवा जैसे मेनीसहार में—“भीम (प्याथुमता के साथ उठते हुए) कहता है—“पाण्ड्यामराजपुत्र अधिक मैं क्या कहूँ जो मैं बहुत सीम करले जा रहा हूँ उसे मुनो—

भीम घपने चपस भुजटण्डो से चुमाए हुए भीषण यवा के प्रहार से सुयोधन के जंघा को रौबवर निकाले गए बूब गाड़े रक्त का घपने हाथों में पातकर तुम्हारे केसकसाप को संभारैगा।” इस प्रकार से

यहाँ पर बेबी के महार (गैभारना) का कारण आ फोव-करी बीर है
उमका फिर से रखना समाधान है ।

विधानं मुखदुःखम् ॥ २८ ॥

विधान—मुख दुःख के कारण को विधान कहते हैं ॥२८॥

जैत 'मासती माधव के प्रथम पंक्त में माधव का बहु कथन—

(१) 'निज जात सम बहु फेरि कष्ट मुठि

बीर को बोली लगी भव मोर ।

मुत्र पूर्वमुखी क समान मस्थो

विमस्थो छवि भारत मनु पनोर ॥

मुन मैन पडाई मनेहु शरी

जिन बार बने बस्तीन के छोर ।

बन मानो बुझाई मुवा विप मे शिव

बासल कीन्हो कटाच्छ की कोर ॥

[१ ३२]

(२) ईस्वी मन जाइ प्रेम के कर

तब तो निह छवि लनि रचिर भुस्थो सबको ध्यान ।

विमम मोहित मुचित मनु करत प्रविष-स्नान ॥

पना केमो धाया धानम्

ईस्वी मन जाइ प्रेम के कर ॥

पव बाक दन बिना बाहु विधि बन नाहि ।

लोटे बारहिबार मर मनी धवारनु बाहि ॥

कष्ट बाहु विधि ना नाहि मर ।

ईस्वी मन जाइ प्रेम के कर ॥

मासती माधव (१ ३२)

धनुरामका मासती का दण्डन ग माधव मुन-दुःख का भाजन बन
जाता है । मासती पीर माधव के समामम-रूप आ बीर है उसके धनु
मुन माधव का मुन-दुःख भागी होना विधान है । यद्यपि बेबी महार

में नी—श्रीपदी कहती है कि 'नाथ आप रणभूमि से आकर फिर मुझे आश्वसित करें।' "

इस पर भीम उत्तर देता है—

'पाम्बाभी आज इस बलाकरी आश्वामन से क्या ? निरंतर आप मान घोर उससे उत्पन्न कुछ भीर मग्ना से ममान मुक्त बात भीम को सब तक नहीं देखोपी जब तक वह कीरकों को नष्ट न कर दे। इस प्रकार संग्राम के कुछ-कुछ के कारण होने के कारण 'विमान' है।

परिभाषा—कुतावेस

परिभाषा—आश्वामनक बात को देखकर कुतूहलपुस्तक बातों के कथन को परिभाषा या परिमल कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका में 'सागरिका (आश्वामन के साथ मन्त्र पूजा में उदयन को देख) —क्या प्रत्यक्ष ही कामदेव पूजा ग्रहण कर रहे हैं ?" यहाँ पर बत्सराज उदयन को कामदेव समझकर प्रत्यक्ष कामदेव का पूजा ग्रहण करना का लाकोत्तर कार्य है उससे उत्पन्न अदभुत आनन्द के आश्वामन को कथन है वह परिभाषा है। अथवा जैसे 'बिबीसंहार' में 'श्रीपदी—नाथ इस समय भीमन निर्बोध क कारण अथवा प्रत्यक्षसिद्ध भेष की गड़गड़ाहट के ममान आश्वामन करने वाली यह रमनेयी (नगाड़ा) प्रतिध्वनि क्यों बजाई जा रही है ?" यहाँ पर लाकोत्तर समर-कुतूहल की ध्वनि में श्रीपदी का विस्मयपुस्तक रम का आश्वामन होने के कारण परिभाषा है।

उद्मेदो गूढभेषमम् ।

उद्मेद—जिसे हुई बात को छोल देने को उद्मेद कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में कामदेव के रूप में समझे गए बत्सराज का "अस्तापास्त" आदि से आरम्भ कर उसी में उदयनस्य इनक द्वारा भीम के अनुकूल उस (बत्सराज की) प्रकट कर देम से उद्मेद है। इसी प्रकार 'बिबीसंहार' में भी भीम कहता है "आप अब महापरा

क्या करना चाहते हैं ? इसी समय मेघध्व से आवाज आती है कि जिस क्रोध की ज्वाला को सत्यव्रतपरायण ने अपने व्रत मर्म की आशंका से बड़े परिश्रम के साथ मन्द कर रखा था जिसको सन्धि के पुत्रापी ने क्रोध के कल्याण की कामना से भूल जाने का निश्चय कर लिया था वह प्रसङ्गी धरणी में अन्तर्हित मृगिष्ठिर की कोष की ज्योति हीपरी के वैद्य और बहनों के पीछे जाने से कीरबचन में प्रदीर्घाई हो रही है ।" इस पर भीम उत्साहपूर्वक कहता है "भड़क उठे भड़क उठे, महापद्म के क्रोध की ज्वाला । बिना किसी अवरोध के भसी भाँति बड़े ।"

करण प्रकृतारम्भो

करण—प्रस्तुत काम के प्रारम्भ कर देने को करण कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका—'अपमान् कामदेव तुम्ह प्रणाम है । तुम्हाप्य बध्नेन क्रम्याचम्र हो । जो देखने योग्य था उसे मैंने दृष्ट किया । अब मेरा मनोरथ सफल हो गया । अतएव अब तक धीर कोई मुझे इस रूप में न देखे उसे उसके पहले ही यहाँ से चली जाऊँ ।" इस प्रकार पहले से निश्चिन्त बर्तन की जो योजना थी उसका प्रारम्भ यहाँ से होता है अब यह करण है । इसी प्रकार 'बेनीसंहार' में भी भीम कहते हैं "पाञ्चालि हम लोग कीरबी को मष्ट करने जा रहे हैं । महर्षि—हम लोग मुद्गलों की आत्मा न अपना पुरपार्य दिखाने जा रहे हैं ।"

इस प्रकार से यहाँ पहले थक के भीतर आये हुए सन्नाह प्रमाण की तैयारी का प्रारम्भ हो जाने से करण है ।

भेद प्रोत्साहना मता ॥ २६ ॥

॥ भेद—उत्साहपुस्तक बचनों के बचन को भेद कहते हैं ॥२६॥

॥ 'त्रैन बेनीसंहार' में 'नाथ मेरे अपमान में अतिवृद्ध होकर बिना अवनम्यारी का ध्यान रत ब्रह्मचर्य न प्रदर्शित कीजिएगा क्योंकि ऐसा

मुना जाता है कि सन्तुष्टों की सेना में बड़ी सावधानी के साथ जाना चाहिए ।

भीम—ऐ कीरो जिस समरांगण-सन्धि समुद्र के घग्गीर जल में परस्पर अभिहत हाथियों के फूटे हुए मस्तक से निकलत हुए रक्त भाँस जबी तथा मस्तिष्क के कीपड़ बीच बँसि हुए रक्तों पर रँर रखकर पीसत घोड़ा भाकमल कर रहे हों घोर बिभुस रक्त के प्रीति-सहस्रोन्नत में आत्मादन करके अमंगल सम्ब करती हुई भुगासियों के सङ्ग को तुरही मान कलम नृत्य कर रहे हों ऐसे रजस्यस में विचार न करने में पाण्डव दल हैं ।

इस वाक्य से विपण्ण द्रौपदी का उत्साह बढ़ता है अतएव यहाँ भेद है ।

मुक्त-सन्धि के ये बारह घंग हैं । ये बीच घीर आरम्भ के मेम से उत्पन्न होते हैं । ये आपस में कहीं सायात् सम्बन्ध से घीर कहीं उसके अभाव में परस्पर-सम्बन्ध ॥ छोटक होते हैं ।

इनमें से उपलोप परिकर परिग्यास मुक्ति उद्भेद घीर समाधान इन छहों का ता हरेक रूपकों में रहना आवश्यक है, पर छेप नाट्य प्रणैता की इच्छा पर आधारित हैं अर्थात् वे चाहें तो छेप का भी अपने रूपकों में स्थान ले सकते हैं और यदि न चाहें तो कोई आपत्ति नहीं ।

प्रतिमुख सन्धि

प्रथम घंगों के साथ प्रतिमुख सन्धि का निरूपण किया जा रहा है—

प्रतिमुख सन्धि—इसमें मुख सन्धि में दिखाये गए बीच का किञ्चित् लक्ष्य और किञ्चित् अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है । यह बिन्दु नामक अवप्रकृति और बल नामक अवस्था के योग से पैदा होती है । इससे तेरह घंग होते हैं । जैसे 'रत्नावली नाटिका के द्वितीय घंक में बन्धराज घीर सापरिका के समागम के हेतु इनके पारस्परिक अनुरण को आ प्रथम घंक में बढ़ाया जा चुका था सुमंगता और निरूपक द्वारा

बिदित हो जाने से किञ्चित् सख्य होता हुआ फिर वासवदत्ता द्वारा विजय को देन इस चक्षुस्म को जान देने से धीरे उसके द्वारा प्रेम-व्यापार में बाधा पहुँचाने की सम्भावना के होने ॥ अन्तर्गत अवस्था को प्राप्त हुआ प्रतिमुख सखि का उदाहरण बन जाता है ।

‘वेणीसंहार’ के द्वितीय अंक में भी भीष्मादि के बच से विजय प्राप्ति के लिए जोर रूप को बीज है उसका किञ्चित् सख्य होना धीरे बन सादि धूरवीरों के बच न होने से उसकी किञ्चित् अन्तर्गता प्रकट होगी है । ‘पाण्डुपुत्र अपने पण्डित से भाई, बन्धु पुत्र मित्र तथा मौदर आकरों समस्त दुर्योधन का बच करेंगे ।’ इत्यादि से लेकर दुर्योधन को अपनी पत्नी के साथ किये गए वार्तालाप-वस्तु—दुर्योधन भावमति से कहता है—बुद्ध में बुद्धासन का हृदय विविध करके दधिरूपान करने के विषय में धीरे मुक्त दुर्योधन के अर्थों को पता से तोड़ देने के विषय में की गई परम प्रतापशाली पाण्डवों की प्रतिज्ञा जैसी भी वैरी ही अग्रज के विषय में पाण्डवों द्वारा की गई प्रतिज्ञा को भी समझना चाहिए ।

अर्थात् जैसे पाण्डवों द्वारा की गई वरसे की प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी वैसी ही उनकी अग्रज-वय की भी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो पाणी ।

सख्यासख्यतायाऽङ्गोऽस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।

बिम्बुप्रयत्नानुगमाद्भ्रान्त्यस्य प्रयोजन ॥ ३० ॥

यह सखि बिम्बु नामक अर्धवृद्धि धीरे प्रयत्न नामक अवस्था के निमित्त से पदा होता है । इसके १३ अंग होते हैं ॥३॥

विनाश परिसपदस्य पिप्लुत दामनर्मणी ।

नमस्तुति प्रगमन निरोध पयुपासनम् ॥ ३१ ॥

यय पुष्पमुपग्यासो यणसहार इत्यपि ।

१ विनाश, २ परिसर्प ३ बिम्बु ४ दाम ५ नम ६ नमस्तुति
७ प्रगमन ८ निरोध ९ पयुपासन १० यय ११ पुष्प
१२ उदग्याग धीरे १३ अग्रज-वय ॥३१॥

मीने उदाहरण के साथ इनके सखण किए जाते हैं—

रत्यर्थेहा बिलास' स्थाब्

बिलास—सुरत की कामना को बिलास कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली माटिका' में सागरिका—हृदय प्रसन्न होघो प्रसन्न होघो जिनका पाना सहज नहीं है उसको प्राप्त करने के लिए इतना पायस क्यों करता है ? यहाँ से आरम्भ कर 'यद्यपि भय से मेरा हाथ काँपता है तो भी उनका जैसे-तैसे विनाश कर मनोवांछा करि तार्क कर' इसक अन्वय उनके दर्शन के लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है ।" यहाँ पर बत्सरज के समायन के लिए विनाश करने में जो सागरिका द्वारा बेव्या भारि प्रयत्न होते हैं वे अनुराग-क्रीडा की के अनुकूल होने के कारण बिलास के उदाहरण हैं ।

हृष्टानष्टानुसपरणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्प—वहूँ विद्यमान पशचात् नष्ट हर्ष या हृष्ट नष्ट वस्तु को जोड़ करने को परिसर्प कहते हैं ॥ ३२ ॥

परिसर्पों

जैसे 'बेबीसंहार' में—'जबकी वन्य पतिव्रतपरामर्शे वन्य प्राप्त स्त्री होकर भी वन्य हैं पर महाराज नहीं क्योंकि इनक सख पाण्डव गिर पर पड़े हैं बाह के प्रबल हों या निबल पर हैं तो वे खजु ही इस पर भी उनकी सहायता बामुदेव कर रहे हैं । ऐसी हासत में भी महाराज रनिवास के सुख को ही भोग रहे हैं । (सोचकर) और भी एक अनुचित कार्य है जिसे महाराज कर रहे हैं क्योंकि परगुराम जैसा शत्रुभी भ्रष्ट जिनका कुठार कभी कुष्ठित नहीं हो पाया था उन पर विजय प्राप्त करने का भी भीष्मपितामह को पाण्डवों ने बाणवर्षा कर पराजयी बना दिया । इतना होत हुए भी महाराज के मन में उनिक भी शोक पैदा नहीं हो रहा है । साथ ही असहाय बालक अभिमन्यु, जिनके धनुष को राजपूतों ने नाट टासा था और अनेक योद्धाओं पर

विदित हो जाने से विभिन्न मन्त्र होता हुआ फिर ब्रह्मण्य हो
 चित्र को देग इस रहस्य को जान लन से घोर उमके द्वारा ब्रह्मण्य
 में बाधा पहुँचने की सम्भावना के होने ॥ अतः ब्रह्मण्य को ब्रह्मण्य
 हुआ प्रतिपन्न सन्धि का उद्धारण बन जाता है ।

‘ब्रह्मण्य’ के प्रतीय ब्रह्मण्य की प्रीति के बच से विद्वान्
 के लिए ब्रह्मण्य को ब्रह्मण्य है अतः विभिन्न मन्त्र होता घोर ब्रह्मण्य
 घाति घोरघोरों के बच न होने से उमकी विभिन्न ब्रह्मण्य ब्रह्मण्य
 है । ‘ब्रह्मण्य’ करने पराक्रम से घाति ब्रह्मण्य घोर घोर
 बाधों समेत दुर्लभ का बच करे ।” इत्यादि से लेकर दुर्लभ को
 घपनी घोरों के साथ विद्वान् बाधित पद—दुर्लभ नादुर्लभ
 कहता है—ब्रह्मण्य म दुर्लभ का दृष्टि विधीय करके ब्रह्मण्य करने के
 विषय में घोर दुर्लभ दुर्लभ के बचों का घरा से लोह देने के विषय
 की घरी परम ब्रह्मण्य घोर घोरों की प्रतिज्ञा ब्रह्मण्य की ब्रह्मण्य ही ब्रह्मण्य
 के विषय में घोरों द्वारा की घरी प्रतिज्ञा की घी सम्पन्ना बाधित ।

घरात् ब्रह्मण्य घोरों द्वारा की घरी घरे की प्रतिज्ञा घरी न हो
 लगी ब्रह्मण्य ही उमकी ब्रह्मण्य-ब्रह्मण्य की घी प्रतिज्ञा घरी नहीं हो घरा ।

मन्त्रासम्पत्तौ ब्रह्मण्य प्रतिपन्न मन्त्रे ।

ब्रह्मण्यमन्त्रानुयन्तारं ब्रह्मण्यमन्त्रे ॥ १० ॥

यह सन्धि विद्वान् नादक ब्रह्मण्य घोर ब्रह्मण्य मन्त्र ब्रह्मण्य के
 मितन से घरा होता है । इसके ॥ अथ होने हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मण्य परितर्पण ब्रह्मण्य मन्त्रमन्त्रे ।

नमस्तुति मन्त्रमन्त्र निरोध पदुपासनम् ॥ २१ ॥

यत् पुष्पनुपन्यासो ब्रह्मण्यहार इत्यपि ।

१ ब्रह्मण्य २ परितर्पण ३ ब्रह्मण्य ४ अथ ५ मन्त्र ६ मन्त्रमन्त्र
 ७ मन्त्रमन्त्र ८ निरोध ९ पदुपासन १० यत् ११ पुष्प
 १२ उपन्यास घोर १३ ब्रह्मण्यहार ॥ ११ ॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में राजा—“हि मित्र इस रमणी न
(अपने हाथों) मेरा बिज साका है, इससे मेरे मन में अपने स्वरूप के
प्रति अधिक आदर हुआ है। अब मना अपने को क्यों मही इर्लूंगा ?
यहाँ से प्रारम्भ करके 'सागरिका—(अपने-आप) मन भीरव भर,
बचन मत हो तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था।
इस प्रकार यहाँ भरति के घान्त हो जाने से धम है।

परिहासवचन नम

नर्म—परिहासयुक्त वचन को नर्म कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सुसंवता—“सखि जिसके लिए आई
हो वह सामने लड़ा है।

सागरिका (कुछ क्रोध के साथ)—“मैं जिसके लिए आई हूँ ?

सुसंवता (हँसकर)—“अरी अपने पर भी धंका करने वाली बिज
धतक के लिए ही तो आई हो तो उसे से तो।”

यहाँ पर सुममता महाराज को भय कर मारी बातें परिहास के
रूप में सागरिका से कह रही है। बिजकसक के ग्रहण का तात्पर्य भी
महाराज से ही है। इस प्रकार बीच से युक्त यह परिहास-वचन नम
का उदाहरण है। जैसे 'बिनीसहार' में भी— (दुर्योधन बेटी के हाथ
से धर्मपात्र माँह लेकर रानी भानुमती को देता ॥ इसके बाद) भानु
मती—(अप्य लेकर) सखि पुण्यो की हो ताकि बीर भी देवों का पूजन
सम्पन्न कर दूँ। इसके बाद भानुमती हाथ कँभाती है दुर्योधन उसके
हाथों में पुण्यो को देता है। दुर्योधन के हाथों के स्पर्श से भानुमति के
हाथों में कंपकंपी आ जाती है निदान हाथ से पुण्य गिर पड़ते हैं।

भानुमती बिज की शक्ति के लिए पूजन कर रही थी पर दुर्योधन
झग उठने किन्तु झग देने से पूजन सम्पन्नता सम्पन्न न हो सका।
इस प्रकार की बात का होना बीच आदि धन-पक्ष के लिए धन्य है
हुआ। इसके द्वारा भावक पक्ष की विजय की संभावना का होना परि
हास के साथ ही हुआ। अतः इसे (परिहास को) प्रतिमुख मग्नि का

विषय प्राप्त करने-करते भान हो गया था उस वाक्य अभिमन्यु के वचन से महाराज प्रगल्भ हैं।

इत्यादि के द्वारा मीमांसा के वचन में दृष्ट (देखा गया) किन्तु अभिमन्यु के वचन से मष्ट ब्रह्मवासी पाण्डवों के शिष्य सहायक स्वयं भगवान् इत्यादि, नाना लक्षण विष्णु का बीज के प्रसरण के समुत्पन्न होने से कच्छुकी के पुत्र से बीज का जो अनुसरण किया जाता है परिवर्ण का उदाहरण है। 'रत्नावली नाटिका' में भी—सागरिका के वचन के सुनने और शिष्य-दर्शन से सागरिका के अनुसरण बीज के दृष्ट मष्ट होने पर महाराज उदयन के द्वारा—“कहाँ है वह ? कहाँ है वह ? इत्यादि के वचन से ब्रह्मवासी के द्वारा अनुसरण विष्णु जाने से परिवर्ण वही होता है।

विष्णुत्वं स्थावरत्तिस्

विष्णुत्वं—ब्रह्मवासी वस्तुओं में धरति धरति स्थिराकार की भावना उत्पन्न होने को कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में सागरिका के वचन—‘सबि धीर मरा संताप बड़ा ही जाता है।’

(सुसंगता ठामाव से कमल के पत्ते धीर मृन्मालों को नाकर सागरिका के धर्मों को डंक देती है) सागरिका—(सबको चँकटी हुई) सबि इत्यादि इन पदमयों धीर मृन्मालों को। इनसे क्या होगा ? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो ? मैं तुम्हें बताती हूँ सुनो—

मेरा मन दुर्लभ जन में भावना हो गया है पर धरति में अपार ब्रह्मा ने धर कर लिया है अतः मेरी दृष्टि में तो ऐस विषय प्रेम को निवाहने के लिए मरणा ही एकमात्र सहाय है।”

यहाँ पर सागरिका के ज्ञेयवशी बीज से धरित होने से शीतोपचार के लिए रखी गई सामर्थियों के विष्णु करने से विष्णुन या विष्णु है।

तच्छब्दमं धाम् ।

धाम—धरति के दूर हो जाने को धाम कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में राजा—'हे मित्र इस रमणी में (अपने हाथों) मेरा बिज धाँका है, इससे मेरे मन में अपने स्वरूप के प्रति अनिष्ट आदर हुआ है। अब क्या अपने को क्यों नहीं देखूंगा ? यहाँ से आरम्भ करके 'सागरिका—(अपने-आप) मम धीरे धीरे बचल मत हो तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था। इस प्रकार यहाँ अरति के आनंद हो जाने से राम है।

परिहासबचन नर्म

नर्म—परिहासपूरव बचन को नर्म कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सुसंगता—"सखि जिसके लिए भाई हो वह सामने कहा है।"

सागरिका (कुछ क्रोध के साथ)—"मैं किसके लिए भाई हूँ ?

सुसंगता (हँसकर)—"भरी अपने पर भी संका करने वाली बिज फलक के लिए ही तो भाई हो तो उसे मे सो।

यहाँ पर सुसंगता महाराज को नम्र कर सारी बातें परिहास के रूप में सागरिका से कह रही है। बिजफलक के ग्रहण का तात्पर्य भी महाराज से ही है। इस प्रकार बीच से मुक्त यह परिहास-बचन नर्म का उदाहरण है। जैसे 'बिणीसंहार' में भी— (दुर्गोपन बेटी क हाथ से धर्मपात्र भाँति लेकर खनी मानुमती को देता है, इसके बाद) मानु मती—(धर्म देकर) सखि पुण्यों को दो ताकि धीरे भी देखों का पूजन सम्पन्न कर दूँ।' इसके बाद मानुमती हाथ फैलाती ॥ दुर्गोपन उसके हाथों में पुण्यों का देता है। दुर्गोपन के हाथों के स्पर्श से मानुमती के हाथों में कैपकैपी का जाती है निदान हाथ से पुण्य गिर पड़ते हैं।

मानुमती बिज की आन्ति के लिए पूजन कर रही थी, पर दुर्गोपन द्वारा उसमें बिज का देने से पूजन सम्पन्नता सम्पन्न न हो सका। इस प्रकार की बात का होना भीम आदि राज-पक्ष के लिए अच्छा ही हुआ। इसके द्वारा नायक पक्ष की विजय की संभावना का होना परि हास के साथ ही हुआ। अतः इसे (परिहास की) प्रतिमुक्त शक्ति का

भय मानना मुक्तिप्राप्तन ही है ।

युतिस्तज्जा युतिमता ॥ ३३ ॥

नर्मयुति—परिहास ॥ उत्पन्न आनन्द प्रपञ्च विकार के क्षिपाने को नर्मयुति कहते हैं ॥ ३३ ॥

जैसे 'रत्नावली' में "सुर्मयता—जबि तू बड़ी भिष्टुर है तो महा राज से इतना आदर पाने पर भी कोप को नहीं छोड़ती । सामरिका (नौह बड़ाकर)—यह भी तू चुप नहीं रहती सुर्मयता ।" उपर्युक्त बातों द्वारा प्रेमरूपी बीज के प्रकट होने पर परिहास से उत्पन्न बात को क्षिपान के कारण यही नर्मयुति है ।

उत्तरा वाक्प्रगमन

प्रपन्न—बीज के अनुकूल उत्तर प्रत्युत्तरयुक्त वचन को प्रपन्न कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में बिज मिलने पर राजा और विद्वपक की यह बातचीत— 'हू बिज तूम बड़े भाग्यशाली हो । राजा—बिज यह क्या ? विद्वपक—यह वही है जिसकी भर्मा बर्मा जसी थी बिजपट मे साथ ही संकट है नहीं तो भत्ता कामदेव के बहाने और किसका बिज बीजा ना सकता है । इत्यादि से आरम्भ कर राजा के इस कथन तक— "माई मुजाल हार प्याही के घटस्तन के सम्पर्क से व्युत् हाकर क्यों मूख रहे हा ? भरे माई, तूम निरे बुझू मानूम हो रह हो भत्ता बठाघो तो सही ससके घटस्तनों के बीच में भति मूदम तनु के रखने भर वा तो स्थान ही नहीं है, फिर तेरे-ऐसे मुगरचण्ड के लिए वहाँ स्थान ही नहीं है ?

इस प्रकार राजा और विद्वपक तथा सुर्मयता और सामरिका की प्रापसी बातों से उत्तरोत्तर अनुराग-बीज प्रकटित हो रहा है । अतः यह प्रगमन का उदाहरण हुआ ।

हितरोधो निरोधनम् ।

निरोध—हितकर वस्तु की प्राप्ति में बाधापद पड़ जाने को निरोध कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में 'राजा—विष्णुमूर्ति संयोग से किसी प्रकार यह (जिसके धम्बर मेरे विषय में अनुराग प्रकट हो रहा था) मिली भी तो तूने मेरे हाथ में धापी हुई उस 'रत्नावली' मामूली धागा को रत्नावली की भासा की तरह व्युत्पन्न कर दिया। धागी में उस कण्ठ में लगाया ही चाहता था कि तूने उसमें व्यवधान साकर मुझे धपना अभीष्टित पूरा करने में बाधा पहुँचा दी।" यही पर बलराज के मन में सागरिका से समामम की ओर इच्छा रही उसमें 'वासवदत्ता भा रही है' ऐसे कथन से रोक (व्यवधान) पड़ गया। धनु' यह निरोध हुआ।

पयु पास्तिरमुनय

पयु पास्तन—कह व्यक्त को रुद्ध करने के लिए प्राचना करने को पयु पास्तन कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में महाराज वासवदत्ता को मनाते समय कह रहे हैं— 'राजा—देखि यदि मैं तुम्हें प्रसन्न होने को कहूँ तो यह बात अश्वस्त अथवा बाली ठेरे लिए युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। यदि मैं ऐसा कहूँ कि धात्र से फिर ऐसा काम नहीं करूँगा तो भी ठीक नहीं होगा क्योंकि इससे तो उमटे यही बात प्रमाणित होने लगेगी कि मैंने सबकुछ इस काम को किया है। यदि मैं यह कहूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है तो तुम इसे मिथ्या ही मानोगी। सो हे भिये इन सब कहा जाहिए यह भरी समझ में नहीं आता। धनु' फिर ऊपर कृपा करके धमा प्रणम करो। इसके द्वारा चित्रकण्ठ में एक बार सागरिका और महाराज का देन कुपित वासवदत्ता के लिए प्रणम करने के लिए किए गए प्रयत्न सागरिका और बलराज के अनुराग में प्रकट होने से पर्यवसित हुआ।

पुण्य वाच्यं विशेषतः ॥ ३४ ॥

पुण्य—विशेषतायुक्त कथन के कथन को पुण्य कहते हैं ॥ ३४ ॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में राजा का नागरिका के हाथों के स्पष्ट मुक्त से पुनर्कृत हो विदूषक से निम्ननिष्ठित वचन का कथन—विदूषक राजा से कहता है—“मित्र तूने अपूर्ण सटमी तो प्राप्त कर ली ।” विदूषक के वचन को सुनकर महाराज कहते हैं—

‘महाराज! सत्यमुच साक्षात् सटमी है और इसकी इज्जती निरवध ही पारिजात के नूतन पस्तक हैं नहीं तो यत्ना पत्तीने के बहाने समूह इसमें से कहीं से डकते ।”

इस प्रकार नायक और नायिका के एक-दूसरे से देखने काटि से मुक्त (विशेषता लिए-विए) अनुपम के प्रकट होने से यह पुनः है ।

उपस्थासस्तु सोपायं

उपस्थास—पुनर्पुनः वचन के कथन की उपस्थास करते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सुसज्जता का राजा के प्रति यह वचन—‘महाराज आप मुझ पर प्रसन्न हैं वही क्या वचन है ? आप किसी प्रकार की शंका न करें मैंने ही यह खेल किया है चातुपथ मुझे नहीं चाहिए । मेरी सखी मुझ पर इतनी प्रसन्न है कि मैंने इसका बिज इस बिजपट पर क्यों शंका । वो महाराज चलकर बराब उठे मना दीविए । इससे बढ़कर मेरे लिए और कीतनी बख्शीय (पुरस्कार) हो सकता है !”

यहाँ पर सुसज्जता ने नागरिका मेरे द्वारा तथा आप उसके द्वारा विहित किये गए हैं । इस बात को महामन्त्रेण राजा से कहकर उसको प्रसन्न करने के लिए वो निवेदन किया इन सब बातों से अनुराग भीज ललित हो रहा है, अतः यही उपस्थास है ।

अमूर्त प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

वचन—सम्मुख किपुर् वचन के कथन को वचन करते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में वासवदत्ता बिजपट की ओर निर्देश करके कहती है—“आर्यपुत्र यह मूर्ति जो आपके पास मौजूद है यह

भी क्या वसन्तक के ही पाण्डित्य की खोशिका है ? फिर कहती है—
'मायपुत्र इस बिज को देख मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हो गई है।

यही पर वासवदत्ता द्वारा सागरिका और वासवराज का अनुसृत प्रकट किया जाता है जिसका वासवदत्ता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से बच के समुद्र दुःखदायी होने के कारण 'बच' है।

सातुवर्षोपगमन वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

वर्णसंहार—बारों बरों के सम्मिलन को वर्णसंहार कहते हैं ॥ ३५ ॥

जैसे 'महावीरचरित' के तृतीय अंश में—'यह ऋषियों की समा है ये वीर युवाविराट हैं ये मन्त्रियों के साथ राजा रोमपाद है। और यह सब सब करने वाले जनक कुल के स्वामी होते हुए भी सब अज्ञान की भावना रखने वाले बड़ावारी महाराज जनक हैं।'

इस श्लोक में ऋषि तपिय घमास्य वाणि का एकत्र होना वर्णित है। इसमें राम की विजय की सूचना मिलती है। साथ ही परशुराम का उच्छिद्धता का पता जनक द्वारा अज्ञान की भावना के रूप से होता है। अतः यह वर्णसंहार है।

ये उपर्युक्त १३ प्रतिमुख सन्धि क अंश हैं। इसमें मुख्यसन्धि में पड़ा हुआ अन्तर्बीज और महाबीज को प्रयत्न (अवस्था) के अनुकूल रहना चाहिए। इन तरङ्गों में से परिसर प्रथम बच उपन्यास और पुनः इनको रूपकों में स्थान देना आवश्यक है, वेप का प्रयोग बच सम्भव होना चाहिए।

गर्म सन्धि

गर्मस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहु ।

द्राविशान्द्र पताका स्यान्मया स्यात्प्रसिद्धसम्ब ॥ ३६ ॥

इस तृतीय सन्धि परमसन्धि का अन्त तिष्ठान्तानुसार पताका नामक अवस्था और प्रत्यक्षा नामक अवस्था के उपयोग से होना स्वतन्त्र

है पर (प्रबन्धकार का) इसके विषय में यह कहना है कि श्रीर संधियों के लिए तो पूर्वनिर्णय ठीक लागू होता है पर इसमें कुछ विशेषता रहती है। वह यह है कि इसमें प्राप्त्याग्रा नामक अवस्था का रहना तो आवश्यक है पर पताका नामक अर्धप्रकृति का रहना उतना आवश्यक नहीं है। अर्धान् पताका नामक अर्धप्रकृति रह भी सकती है, नहीं भी रह सकती है पर प्राप्त्याग्रा नामक अवस्था का रहना तो नितान्त आवश्यक है ॥३६॥

प्रतिमुर सन्धि में किञ्चि प्रकाशित हुए बीज का बार-बार धारि भाव विद्येमान तथा ध्वेषण होना रहता है। इसमें कभी तो विघ्न के कारण ऐसा लगता है कि काय नष्टम नहीं हो पाया। फिर विघ्न के हट जाने से काय की सफलता निर्धारित होती है फिर विघ्न के आ जाने से कामसिद्धि में सम्बेह पैदा हो जाना है फिर प्राप्ति की प्राप्ति दृढ़ हो जाती है। इस प्रकार की व्यापार गृन्तना चलती रहती है। इस प्रकार यह धर्मसन्धि क्रम की प्राप्ति में अनिश्चितता से भरी रहती है।

‘ग्लान्ती नाटिका’ के तृतीय अंक में यह बात देखने को मिलती है। बरसदास को सागरिका के साथ समापन करने में बाधबधता-टपी विघ्न की घना घाघका बनी रहती है किन्तु विरूपक के इस वचन से कि “सागरिका महाशयनी बाधबधता क क्षेप में ही आपसे मिलन प्राप्त वाली है” इससे सागरिका में मिलने की प्राप्ति र्थ हो जाती है। इसके बाद इस प्रेम-व्यापार में बाधबधता के द्वारा बाधात पहुँचता है निदान एक तरह से मिलने की प्राप्ति प्रेम-व्यापार में हो जाता है। इसके बाद फिर बाधा र्थ हो जाती है फिर विरूपक हो जाता है फिर विघ्नो के दूर करने में सक्ते होना पड़ता है श्रीर धर्म में कहना पड़ जाता है कि सागरिका की प्राप्ति के लिए सभी बाधबधता को प्रसंग करने के प्रस्ताव दूसरा कोई उपाय दिखाई नहीं देता।

इस सन्धि के १२ अंश होते हैं—

धर्मताहरण मार्गो अप्योदाहरणो क्लमः ।

संप्रहृष्टानुमानं च तोटकाधिवसे तथा ॥ ३७ ॥

उद्यमसध्रमाशेषा सक्षरा च प्रसीयते ।

१ धमुताहरण, २ मार्ग १ क्य, ४ उदाहरण, ५ कम, ६ सप्रह, ७ धनुमान, ८ तोठक, ९ अधिवल, १० उद्यम ११ सध्रम और १२ धामेव ॥३७॥

अब हमका काल के साथ उदाहरण दिया जाता है ।

धमुताहरण उद्यम

धमुताहरण—कष्टपुत्र बचन के काल को धमुताहरण कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में काचनमासा विदूषक से कहती है—

"साधु रे अमात्य नमस्तक धामु, इस प्रकार की सम्बन्ध-विग्रह म तो तुने अमारय धीमन्धारयण से भी बाजी मार ली । इस प्रकार से प्रबन्धक के द्वारा दुसमंठा और विदूषक के सिलाने-बढ़ाने से वासवदत्ता क वेप में अभिरक्षण करनेवाली सागरिका के छपकार्य को काचनमासा ने व्यक्त कर दिया ।

मागस्तस्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

मार्ग—सखी तत्त्वपरित जात के काल को मार्ग कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में विदूषक—'मित्र आपकी जम हो आप बड़े माम्मणसी हैं आपकी अभिसाया पूरी हुई ।

राजा—मित्र मेरी प्रिया सागरिका सकुशल तो हैं न ?

विदूषक—अब दूर नहीं है आप स्वयं उस देल इस बात का निगम कर लेंगे कि समुद्रता है धनका नहीं ।

राजा—क्या उसके दर्शन का भी सीमाव्य प्राप्त होगा ?

विदूषक—(गवपूषक) अपनी बुद्धि से बृहस्पति को भी माठ कर देने वाला बसन्तक जब आपका अमात्य है तो फिर दखन होना कीनसी बड़ी बात है जो न हो सकया ?

राजा—मैं जानम के लिए उत्सुक हूँ कि वह कैसे सम्पन्न होगा ?

विदूषक—(राजा के कान में कहता है) ऐसे ।

यहाँ पर विद्वत्पक्ष के द्वारा सामरिका के समानमरूप तत्त्व की बात मध्य और निश्चय के साथ कही गई है अतः यह भाव वा उक्त हरण हुआ ।

हर्षं विसृज्य ब्रह्मसूत्रं

उप—चित्तवृत्तियुक्त वात के कथन को हर्ष कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में 'उजा—चित्तनी धारण की बात है कि कामी जनों को अपनी स्त्री की अपेक्षा परस्त्री में अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है । और यद्यपि (परस्त्री) नबोढ़ा प्रणय से मात्र अपनी दृष्टि को मोहक्य आदि क कारण नायक के मुख पर लम्कत लपटी भी नहीं । प्रेम के आकाश में कंठसिगम करते समय मनबोर स्तनासिगम से भी संबंधित ही रहती है प्रयासपूर्वक प्रहस किए जाने पर भी 'मैं जा रही हूँ' 'मैं जा रही हूँ' इस बात को बार-बार कहा करती है फिर भी संकेत-स्पर्श में बैठकर इस प्रकार की रमणी की प्रतीक्षा करने में कामी जनों को अपूर्व ही आनन्द की प्राप्ति होती है ।

'क्या कारण है कि वसन्तक क्षत्री तक नहीं पाया ?' कहीं इस बात का पता वासवदत्ता को तो नहीं लग गया । इत्यादि के द्वारा सामरिका के समानम की प्राप्ति की आकांक्ष की अनुकूलता में वासवदत्ता द्वारा विध्य पद जाने की बात का सोचना विचर्क है ।

सोत्कथं स्वाकुब्राह्मति ।

उद्वाहति वा उद्वाहरण—उत्कर्षयुक्त वचन के कथन को उद्वाहति वा उद्वाहरण कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में विद्वत्पक्ष का यह कथन—(हर्ष के साथ) "महाराज को भरे प्रिय वचन को सुनकर इतना अधिक आनन्द होगा जितना कौशाम्बी राज्य के विजय के समय में भी नहीं हो पाया था ।"

रत्नावली की प्राप्ति की बात कौशाम्बी राज्य की प्राप्ति से भी

बढ़कर होयी इस प्रकार यहाँ उत्कण्ठ का कयन हुआ है अतः यह उबा हरम हुआ ।

काम- सचिस्त्वमानासिर्

कथ-प्रमितवित्त वस्तु की प्राप्ति को काम कहते हैं ।

‘रत्नावली नाटिका’ में राजा उत्कण्ठा के साथ कहता है— प्रियतमा के मिलने का समय अति सन्निकट होते हुए भी न जाने क्यों किन्तु अन्य बिक उत्कण्ठित हो रहा है ।

प्रथमा—

ठीक कामदेव का सताप इच्छित वस्तु के दूर रहने पर उतना कष्ट कर नहीं होता जितना सन्निकट रहने पर । यरमी का वह दिन जो बर्पा कास से दूर रहता है उतना कष्टप्रद नहीं होता जितना बर्पा के सन्निकट वाले दिन कष्टकर होते हैं ।

विदूषक—(धुनकर) सामरिका देख महापुत्र उत्कण्ठित होकर तुम्हारे ही विषय में सोचते हुए बीरे-बीरे कुछ बोस रह हैं, सो मैं भाग बचकर तेरे भागे की सूचना उन्हें दे दूँ ।”

इस प्रकार यहाँ सामरिका के समागम की अपेक्षाया वाले वस्तु राज को भ्रान्त सामरिका (वासवदत्ता सामरिका रूप में) की प्राप्ति काम है ।

भावज्ञानमयापरे ॥ ३६ ॥

काम की परिभाषा दूसरे लोगों के मत से भाव के ज्ञान का होना है ॥३६॥

जैसे ‘रत्नावली’ में राजा—“प्रिय सामरिका तब मुझ अग्रमा के समान भाङ्गावधारक है नेन जीसकमल की घोषा बारण करते हैं कबसी के अग्रमाय (भीतरी हिस्से) के सपुत्रा गुम्बर तेर जने है तेरे हाव रक्तकमल की घोषा बारण करते हैं और मुझाएँ मृणास की घोषा को बारण किये हुए हैं इस प्रकार से सम्पूर्ण रसों में भाङ्गाव

कता को चारण करल वाली तू मित्रांक होकर कामदेव के मंठाप से व्याकुल मेरे प्रणों को बेग के साथ धातियन कर मेरे प्रणों के मंठाप का दूर कर ।”

यहाँ से लेकर कि पदस्य रवि न हस्ति तपस्यस्त्वय किम्बाधरे ।

यहाँ तक की बातों से बासबदता को बरसराज उदयन का भाव ग्रहण हो जाता है यद्यपि यह प्रण्य लोवा की दृष्टि से कम का उदाहरण हुआ ।

संग्रह सामवानोक्तिरू

संग्रह—सामवानपुष्प उक्ति को संग्रह कहते हैं ।

रत्नावली नाटिका में सागरिका के से जाने पर विरूपक को बग्न बाव को साथ पारितोषिक देना—‘मित्र तुम्हें बग्नबाव है मैं पारितोषिक स्वयं यह कटक तुम्हें देता हूँ ।’ इस प्रकार साम वाम प्रादि के द्वारा विरूपक का सागरिका के साथ बरसराज को मिला देना प्रादि बातों का संग्रह ‘संग्रह’ का उदाहरण है ।

अभ्युहो निङ्गस्तोऽनुमा ।

अनुमान—निङ्ग-विशेष के द्वारा किसी बात का अनुमान करना अनुमान कहलाता है ।

जैसे ‘रत्नावली’ में बरसराज का विरूपक से यह कहना—‘मूल कहो क्या तुम्हारे ही द्वारा मुझे इस अनर्थ का सामना करना पड़ा ।’

धनेक विनों के प्रेम-व्यापार के द्वारा भी प्रेम उत्कृष्टता प्राप्त कर गया था वह धाव मेरे ऐसे निमित्त कार्य के द्वारा जैसा कि धाव तक कभी भी नहीं किया था मष्ट कर जाता गया । अपमान के ग्रहण करने की लभता न रखने वाली मेरी प्राणप्रिया बासबदता निरवय ही धाव इस प्रकार के कारण अपने प्राणों को काड़ देगी क्योंकि प्रकृत प्रेम का पुटिठ हो जाना निश्चय ही असह्य होता है ।” राजा इस बात को सुनकर विरूपक कहता है—‘मित्र बासबदता क्या करगी यह तो मैं नहीं जानता पर मुझे तो सागरिका का ही जीवन बुझकर प्रतीय हो

“हा है।”

यहाँ पर राजा का सागरिका में धनुषधर है इस बात को बामबदता जान गई है। अतः इस बटमा में अचानक हो जाने के कारण वह धनुष धरन प्राणों का छोड़ देगी इस बात का अनुमान किया जाता है, अतः यह धनुषधर है।

अधिवसमभिसंवि

अधिवस—संयम होने को अधिवस कहते हैं।

जैसे ‘रत्नावली’ में काचनमासा बासबदता से कहती है—महारानी यही चित्रछाया है अतः अब बमनरु को बुलाती हूँ (चिट्ठी बजाती है) इस प्रकार सागरिका और मुन्यता में वेप बारण की हुई बामबदता और काचनमासा में राजा और विदुषक का मेल होना है अतः यह अधिवस हुआ।

संरक्ष्यं सोढव बख ॥ ४० ॥

सोढव—कोषपुत्र बचन को सोढव कहते हैं ॥ ४० ॥

जैसे ‘रत्नावली’ भाटिका में बासबदता राजा से कहती है—(पाम जाकर) धार्यपुत्र धारका यह काम आपके नाम और यह क धनुषधर है। (फिर बियवकर)

काचनमासे इस पुष्ट बाह्यता का इस सत्ता से बौधकर में बम तथा इस पुष्ट सड़की की भी धार कर में।

इस प्रकार के बामबदता के कोषित बाक्या से सागरिका के सम्बन्ध में विष्णु पद जाने में अनिमित्त प्राप्ति के कारण छोटक हुआ।

‘बनीमहार’ में श्री अक्षयधामा सुयोधन में कहता है—‘यदि मैं मैत्रापति बना दिया जाऊँ तो आपके सारे धनुषों को गष्ट कर दानूंगा। धनुषों के अभाव में यन्त्रियों के संगमपाठ ठाग बहुत परिश्रम में निराभय किए जाने पर आज आप निशापाम-पर्यन्त (सान्त्व) उपन करेंगे। यहाँ मैं लेकर कर्ण का अक्षयधामा के प्रति यह कहना कि मैं यह जब तक मेरे हाथों में अस्त्र है तब तक अन्य धनुषधरियों की

नवा घावस्पन्दना ? यदि यही एक ।

अपने पथ की सजा में फूट आया नामा कम और घावतहामा का नाम्नुद पाण्डुरों की विषय प्राप्ति के अनुरूप होने का कारण तो एक है ।

दूधरे प्रणकारों के अनुसार तो एक का उभरा अभिमान होता है । यदि मोक्षयुक्त बचन तो एक में होता है यद्यपि इसमें विनययुक्त बचन रहता है । जैसे 'रत्नावली' नाटिका में राजा नामवदता से कहता है—'प्राप्य अपराध के दोषों का पर भी आपन निवेदन यह है कि 'विधि' केसारम होकर मानवत् में रहे हुए तेरे चरित्र की भाविता को अपने मस्तक से रगड़कर साँक कर देने में तू भी समर्थ है । वर तुम्हारे मुखमण्डल पर छापी हुई कोप की धमलाई को दूर करने में तू भी तब तक समर्थ नहीं हो सकता जब तक आपके कृपाकटाक्ष का विशेष मेरे ऊपर न हो ।

तोटकस्याम्यनामाय भुवतेऽभिमान सुधा ।

सरस्वतीबचन यत् तोटकं तद्बुद्धाहतम् ॥ ४१ ॥

तोटक—उद्दिष्टपुस्तकबचन को तोटक कहते हैं ॥ ४१ ॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में 'राजा—प्रिये वासववत् प्रसन्न होयो प्रसन्न होयो ।

वासववत्ता (माँकों में माँतू भरकर)—मायपुत्र मुझे प्रिया कहके मत पुकारिए, क्योंकि वह विशेषण आपके हाथ दूसरे नाम (सागरिका) के साथ जोड़ा जा चुका है । सागरिका हम जल (प्रिया धर) की भावन सम चुकी है ।

और 'विभीषण' में भी—'राजा—सुन्दरक अक्षराय कम मनुमत तो है न ? पुण्य—महाराज विभीषित हैं इतना ही कुशल समझिए ।

सुयोधन—(व्याकुलता के साथ) सुन्दरक क्या प्रश्न ने उसके मोड़ें और भावों को तो नहीं मार डाला ? और क्या उसने उनके मन को भी तो नहीं भग्न कर डाला ?

गुप्तरक—महाराज कबल रख ही नहीं मग किया किन्तु साथ साथ उनके मनारख (पुत्र) को भी ।

दुर्पोषण—कैसे ? यहाँ पर उड़ गपुस्त बचन कहोमे स मोटक है ।

उद्देगोर्जरकृता भीति

उड़ ग—शत्रु से उत्पन्न भय को उड़ ग कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'साधिका (घपने घाप साजसी है) मैं ऐसी पापिनी हूँ कि घपनी इच्छा स मग भी नहीं सकती । यहाँ पर बासबदता से उत्पन्न साधिका का भय उद्देग का उदाहरण है ।

बेभीमहार में भी—घर, कोरब-नरख व पुत्र क्या बिनाम बन का निर्मूल करने में भयकर भीभी के समान यह दुष्ट भीमसन मनीष में ही विद्यमान है महाराज को घभी चतना नहीं पार् है । जा हा मैं यथाभीम रख को दूर भगा ल जम्, क्योंकि दुष्टामन ही की तरह हम पर भी कदाचित् यह भीम घपनी नीचता न करे । यहाँ पर शत्रु द्वारा भय हान के कारण उड़ ग है ।

शत्रुप्राप्ति से सञ्भ्रम ।

संभ्रम—शत्रु की घोर बाध के होने को सञ्भ्रम कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में 'बिदूषण—यह बोन-सा रमणी है ? गमम के साथ मित्र बचायो बचायो बासबदता प्रीति मना रही है ।"

यहाँ पर साधिका का बासबदता समझकर मरण की शका से सञ्भ्रम पैदा हुआ है । "मा प्रवार बेभीमहार" में भी—"(नपत्य में कपलम गम होता है) मामा मामा बने दुष्ट की बात है । यह प्रजन घपन भाई के प्रतिज्ञा मंग हा जाने के भय से घमोष शरों की बर्दा करत हुए दुर्पोषण घोर कप की घोर रोक रहा है । हाय दुष्ट की बात है—भीम मे दुनासन का रक्तपात कर लिया ।" यहाँ तक ना गंसा है घोर प्रहार से संभ्रान्त मृत का घरवन्ध्या के प्रति यह बचन—

कुमार बचाओ बचाओ यह बात है। इस प्रकार से यहाँ पर बुद्धासन और श्रोत्र के बस की मूषणा देने वाले इस बात और संकट में मुक्त बचन द्वारा विजय-प्राप्ति की धारणा से मुक्त यह संभव है।

गर्भबीजसमुद्भूतबाधोप-परिशीतितः ॥ ४२ ॥

घासेप—गर्भ में रहने वाले बीज के स्पष्ट होने को घासेप कहते हैं ॥४२॥

जैसे राजा द्वारा यह कथन—मित्र देवी को बहुत करन के सिवा और कोई उपाय विचार्य नहीं देता। पर देवी को प्रसन्न करने में मैं हर तरह से निराशित हो गया हूँ। फिर यहाँ रहने से क्या लाभ बसकर देवी को ही प्रसन्न करूँ।” इस कथन का उत्तर्य यही निकलना है कि देवी के प्रसन्न करने से ही सामरिका भिन्न भवती है। इस प्रकार यहाँ पर गर्भ में पड़े हुए बीज के प्रकटित होने से यह घासेप हुआ।

जैसे 'बेनीनहार' में भी—“सुन्दरक बचवा इसमें माध्य को क्यों छोड़ दूँ—क्योंकि विदुर के बचनों की अवहेलना जिस वृक्ष का बीज है भीष्म पितामह के उपदेश की अवज्ञा जिसका धँकुर है बर्बर समुद्रों द्वारा किया गया प्रोत्साहन जिसका मुदूक मूल है। साक्षात् यह सब और विष प्रदान भावि जिसके आलबान है। चिरकाल की उन्मुक्तता शोषरो के केशों का बीजना जिसका पुष्प है ऐसे वृक्ष का फल है कीरव-मूल का बिनाश जोकि फल रहा है। यहाँ बीज ही फल के उन्मुख होकर घासेप कर लिया जाता है। अतः यह घासेप हुआ। इन बारह अंगों में है १ समुत्ताहरण २ मार्ग ३ रूप ४ उष्माहरण ५ टोटक ६ अधिवस ७ आवाप इनका रचना आवश्यक होता है। देव के लिए फल है। नाट्य-अर्थना उन्हें रखना चाहें तो रत्नों और न चाहें न रहे।

प्रथमदर्श सन्धि

कोपेनावमुन्नेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभमात् ।

गर्भनिभिन्नबीजार्थं सोऽवमर्शोऽङ्गुस्तग्रहः ॥ ४३ ॥

कोप व्यसन विलोभन आदि द्वारा गर्भसन्धि में पड़ा हुआ बीज फल की तरफ अग्रसर होता हुआ जब अधिक विस्तृत रूप धारण कर लेता है उसको प्रथमदर्श सन्धि कहते हैं ॥४३॥

प्रथमदर्श का अर्थ होता है पर्यालोचन करना । वह व्यसन विलोकन आदि कारणों से होता है । ऐसा करने से यह होगा । इस प्रकार निश्चित फल की प्राप्ति होगी । इस प्रकार का समझकर किया गया प्रयत्न इसमें पाया जाता है । 'रत्नावली' नाटिका के बीजे एक में जहाँ अग्नि के कारण गड़बड़ी मचती है वहाँ तक यह सन्धि है । इस धंक में वासुदेवता की प्रसूति ॥ विष्णुरहित रत्नावली की प्राप्ति में लभ जाना कार्य-विमर्श विस्तारित किया है । 'बेबीसहार' में भी दुर्योधन के रथ से लपपच भीमसेन के आगमन-पर्यन्त इसी विमर्श-सन्धि का चित्रण कराया गया है ।

युधिष्ठिर—(सोचकर दीर्घ स्वास लत हुए) भीष्मरूप समुद्र पार कर पए, दायरूप प्राय भी बुझ गई कर्णरूप महा विपत्ति सर्प भी नष्ट कर डाला गया धृष्ट भी स्वयं क पबिक बन अतः विजय-नाम अति सन्निवृत्त है । तो भी धृति साहसी भीमसेन की प्रतिज्ञा ने हम लोगों के जीवन का संकट में डाल दिया है ।

यहाँ पर "विजय-नाम धृति सन्निवृत्त होते हुए भी युधिष्ठिर माथ रहे हैं कि भीष्म आदि के मारे जाने से विजय निश्चित रही पर भीम ने हम बीच प्रतिज्ञा कर हम लोगों के जीवन को कतरे में डाल दिया । इस प्रकार जो विचार करना है वह विमर्श सन्धि के भीतर पाता है ।

प्रथमस्य मंत्रि के तरह घम हान है—

तथापचावसकेटी बिह्वद्वयगतम् ।

धृति प्रसङ्गद्वयसन व्यवसायो विरोधमम् ॥ ४४ ॥

प्ररोचना विषयनमाह्वानं च प्रयोक्तव्यम् ।

१ अपवाद २ संकेत, ३ विप्रव ४ द्वय ५ पुनः तिरस्कार,
६ प्रसंग ७ धृति ८ व्यवसाय ९ विरोध १० विरोधन
११ प्ररोचना १२ विषयन और १३ आह्वान ।

अपवाद—शोक के कथन को अपवाद कहते हैं । शोक-कथन का तात्पर्य है किसी के शोक का प्रचार करना ॥४४॥

जैसे रत्नावली नाटिका में मुमयता—देवी उसे उम्बयिनी ल
वई इस बात को प्रचारित कर न जान वह बेचारी कहाँ भेज दी गई ।

विप्लवक—“देवी मैं यह प्रति निष्पूर कर्म किया । फिर “और मित्र
चिन्ता न करो निदिधित देवी ने उसे उम्बयिनी बना है, इसलिए मैं
अभियोग का प्रयोग किया है और कोई बात नहीं है । इस प्रकार
वही पर वास्तविकता के शोक के फैलाने या कथन के कारण यह अपवाद
है । ‘बेबीसंहार’ में श्री— ‘दुर्मोहन—औरतों में नीच उस दुष्ट दुर्मोहन
का कुछ पता बना ?

शोकप्रख्यापवादः स्यात्

पाञ्चालक—महाराज न कनक उसका पता ही मान बना है
अपिनु देवी शीपकी के कथापात्र के स्वर्ग-रूपी महापुरुष का प्रदान
कारण दुःखमा प्राप्त भी हुआ गया है । वही पर दुर्मोहन की निन्दा होने
से अपवाद है ।

संकेतो रोधभाषणम् ।

संकेत—शोक से भरे हुए कथनोपकथन को संकेत कहते हैं ।

जैसे ‘बेबीसंहार’ में— ‘दुर्मोहन भाइयों के मष्ट हो जाने से अब
राश्री मत इस बात की चिन्ता मत करो कि पाञ्च पाँच है और मैं

पकसा घसहाय हूँ। अतः हम पाँचों में से जिनके साथ युद्ध करने की इच्छा हो कबल पहन हाथ में अस्त्र से उससे युद्ध करो। इस बात को सुनकर दुर्योधन दोनों कुमारों भीम और धर्म्युज को धृष्ट की दृष्टि से देखता हुआ बोला—

‘कर्म और वृत्तांतन क बल से यद्यपि तुम दोनों मेरे भिन्न समान हो तथापि धनु होते हुए भी तुम लोग साहसी हो अतः तुम दोनों के साथ ही युद्ध करना मैं उचित समझता हूँ।

यह कहकर एक-दूसरे को आग्रहपूर्वक निराशुस्त कट्ट बचनों के साथ बिकट मुद्र का प्रस्ताव करके’ इत्यादि।

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति रोष से भरे हुए कथन के होने से यह संकेत का उदाहरण हुआ। यह संकेत विजय कपी बीच से प्रकट हो रहा है।

विशेषो वधवन्धादि

विशेष—यह अन्वय प्राप्ति वाला जिसमें पाई जाती हो उसे विशेष कहते हैं।

जैसे ‘अमित राम नाटक’ में लक्ष के बाँधे जाने पर ऋषिगणों का उठे देव उसका प्रति दुःखोद्धार प्रकट करना—

जिसके मुख ने सामवेद का पाठ करने में अत्यन्त कष्ट उठया था वास्तविकता में जो हम लोगों के हाथ से असहजता को लेकर ब्रीड़ा किया करता था वह हम लोगों का हृदयस्वरूप जब प्रायः बाँधों के समये से कंधे के भर जाने से बाधित होकर मूर्छित अवस्था में वैदिकों द्वारा पकड़कर ले जाया जा रहा है। ऐसे ही ‘रत्नावली नाटिका में भी—

‘अन्तःपुर में अग्नि अश्रमात् धनकटी हुई दीप पकटी है। इससे अमनचुम्बी अट्टासिकाओं का जमाने हुए स्वर्ण की छोटी वा-सा रूप धारण कर लिया है। इनके गीर्वाणों के धाँदलियों को भी जलाकर अत्यन्त तीव्र ताप को पैदा कर दिया है तथा अपनी भूम से ब्रीड़ा-वर्धन को जल से भरे हुए आदम वा-सा रूप बना टाला है। इसके मारे महिलाएँ

ममस्त हो गई हैं ।” इत्यादि

फिर इसके बाद वाचस्पति महाशय से कहती है—प्रियतम मैं आपने भिए नहीं कहा रही हूँ बल्कि मुझ क्रूरहृदया के हाथ बाँधी गई मायारिका कष्ट पा रही है । उसी की रक्षा के लिए निवेदन कर रही हूँ । यही पर सागरिका के बचन की बात पाई जाती है अतः विग्रह हुआ ।

इति मुचस्तिरस्तुति ॥ ४२ ॥

इति—मुचस्ती के अपमान करने को इति कहते हैं ॥ ४२ ॥

जैसे ‘उत्तर रामचरित’ में सब वस्तुकेन से कहा है—

मुचस्ती के बारे में कुछ न कहना ही उचित है । मुचस्ती की स्त्री ताड़का के बच करने पर भी अप्रतिहत यश बाने से लोक में श्रेष्ठ ही है । घर के साथ युद्ध करने में तीन पय पीछे बिनकी हटना बड़ा या मीर बानी के बच से जिन्होंने मुचस्ती युद्ध-कौशल प्रदर्शित किया था वससे जो साथ परिचित ही हैं अतः मुचस्ती के चरित की आलोचना न करना ही ठीक है ।

यही सब में मुचस्ती का तिरस्कार किया है अतः इति है ।

बिबीसंसार में भी—“मुचिष्ठिर—मुचस्ती के बड़े प्रेमा वसरायसी सम्बन्धियों के प्रति किए जाने वाली वदम्बवहार के प्रति आपने जरा भी ध्यान नहीं दिया साथ ही आपने क्षत्रिय वर्ग का भी डीक से पालन नहीं किया । इसके अलावा आपने लघु भ्राता कृष्णबन्ध के साथ धर्चून की सैरी मिथता है हम बात को आपने लूट के समान भी महत्व नहीं दिया । आपको भीम धीर बुद्धिमान दोनों सिद्धों में समान ही समता होनी चाहिए थी । पर न मातृम यह कौनता मार्ग आपने अपनाया है का मुझ अभागे से आप इस प्रकार रण्ट हो गए !”

यही पर मुचिष्ठिर द्वारा मुचस्ती वसरायसी का तिरस्कार हुआ है अतः इति है ।

विरोधक्षमर्त सतिस्त्

सतिस्त्—विरोध के अन्त हो जाने को सतिस्त् कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में राजा कहते हैं—

मैंने अपनी प्रियतमा वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए बार्ते बना-बनाकर छापन खाई, भीठी-से-भीठी आदृकारिता-यरी बार्ते नही निर्जन्म हो उसके पीरों पड़ा उसकी सलियों ने भी उसका क्रोध का दूर करने के लिए एक न उठा रखी पर उसमें बरा भी नरमाहट नहीं आई। धारण्य तो इस बात से होता है कि मेरे द्वारा किये गए इतने उपचार के बाव भी उसके क्रोध के दूर करने में वही सफलता प्राप्त न कर सके जैसा स्वयं उसका रत्न आसुषा के द्वारा प्रशालन करने में समर्थ हो सका।

सामरिका की प्राप्ति का विरोधी वासवदत्ता के कोप का शांत हो जाना इस है। जैसे 'उत्तर रामचरित' में भी लव का यह कथन—

'बैर घान्त हो गया भविष्य सुख से बाढ़ धनुषाग फैल रहा है। ऐसा मयता है कि वह मेरे धनुष का रथ कही जाता गया है। मज्जता मुझे झुकने के लिए बाध्य कर रही है। इनके (राम के) देखने पर न जाने क्यों पराधीन-ता हो गया है। समता है पवित्र स्वार्थों की तरह महापुरुषों का कोई बहुमुख उत्कर्ष होता है।

तर्जनीठेजने धृति ।

धृति—तर्जन और जड़जन को धृति कहते हैं।

जैसे 'बिभी संहार' में—

'वनराम के आई कृष्णचक्र के इस वाक्य को सुनकर भीमसेन ने उस कासार के बल को धातुद्वित कर दिया। धातुद्वित करने हैं उसका बल चारों दिशाओं को पूरित करके वह जमा। सम्पूर्ण वनचर विकस हो गए, मगर भीर पक्षिमात्र व्यथ हो उठे।

इसके बाद भीमसेन न भीषण यजन के साम पुन कहा— मेरे रे मिथ्याबल और पराक्रम का अभिमान करने बाल तथा दीपही के मेरा भीर कथ के धाकपन करने वाले महापातकी बुयोधन ।

मुम अपना जन्म विजल अश्वबंध से बताते हो और सब भी हाथ

तेरे धर्म के मूल उस राजा बुद्धिधर गुरु सद्गुरु और समस्त सामर्थ्य मण्डलों के देखते-देखते तेरी भागी दीपदी दिव्य के प्रति पति मेरी आज्ञा है साक्षात् की गई । दस स्रुता के बचते में बटाघो तो सही उस राजाओं ने क्या बियाड़ा या जिनका सहार कर तुम लोग यंत्र से फूल गए हो । तुम लोगों का सारा गर्व मुझ परमात्मज्ञानी पर निरुपवाण बाण बिना ध्वज है ।" भीम यह सुनकर भीम प्रसन्न करने लगे हैं । भीम को अत्यन्त बड़ा धर्म उनसे बहुत है—

'आज ज्ञान की विलक्षण बात करने से क्या लाभ है ? यह ज्ञान से हमारा ग्रहित कर रहा है कम से ग्रहित करने में यह समर्थ नहीं है । तो माइनों के मन से दुःखी इसके बड़बड़ाने से कष्ट क्या ?

भीम—धरे दे प्रसन्न बच के कर्मक—(दुर्बोधन के प्रति) ।

भूरभाषी यदि कुछ (बृत्तान्त) विष्णुस्वरूप उपस्थित न होत तो अपनी वद की ओट से तेरी वसतियों को तोड़कर तुम्हें दुःसासन के बच का अधिक बना देता । और फिर, दे मुक्त

कौरवकुल कथन के लिए हाथी के समान आचरण करने वाले मुझ भीमसेन के छूटने को तू अभी तक बच पाया है इसका कारण यह है कि ऐसी मेरी इच्छा रही कि दिव्यों के समान दयाते हुए तेरे देखते-देखते तेरे कनिष्ठ भ्राता दुःसासन का बच बच ।

दुर्बोधन—दुष्ट भगवत्पद में भीम पाण्डव पण्डु, तुम्हारी तरह मैं भीम नहीं होऊँगा किन्तु—

समस्तभूमि के भीम भीम ही तुम्हारे भाई-बन्धु मेरी वद से मिल बस स्वतन्त्र की वसतियों की लुगड़ी रूप आभूषण से मूर्च्छित तुम्हें देखेंगे ।

इत्यादि द्वारा भीम-दुर्बोधन का आपत्त र्थ और-भाव से अपनी-अपनी शक्ति का कथन विरोध है ।

सिद्धामन्त्रणस्तो माविर्बहिष्का स्यात्प्रराजना ॥ ४७ ॥

प्ररोचना—कितनी सिद्ध पुरुष द्वारा होने वाली कार्य के विषय में इस प्रकार के कथन से कि वह तो सिद्ध ही है, यद्यपि वह कार्य तो हुआ ही

है, घाये होने वाले कार्य को सिद्ध हुए के समान बिप्लवतारा प्ररोचना कहलाता है ॥४०॥

जैसे 'बिभीसंहार' में "पाञ्चालक—मैं भक्तवारी भयवान् वासुदेव द्वारा प्राप (मुक्तिष्टिर) के समीप भेजा गया हूँ।" यहाँ से आरम्भ करके 'सन्देश' करना ध्येय है—आपके धर्मप्रेम के लिए मणिमय कलस पुनः करके रखे जाएँ। शीघ्र ही चिरकाल से जोते हुए अपने कैशिकनाप को शीघ्र शीघ्र ही हाथ में पशु धारण करने वाले परचुराम और श्रीयोगेश्वर श्रीमसेन के समरभूमि में उठर पड़ने पर विजय प्राप्ति में सन्देह कैसा ?

यहाँ से लेकर "महाराज मुक्तिष्टिर मंगल करने की आज्ञा देते हैं। यहाँ तक माग प्ररोचना का है क्योंकि मित्र पुरव कृष्णचन्द्र के आदेश को अनुसर द्वारा पाकर 'विजययी हाथ लपने ही जाती है' अतः ममल प्रादि का अनुष्ठान शीघ्र करें" यह मुक्तिष्टिर द्वारा विरचास कर बैसा करने का आदेश देना पड़ रहा है।

विजययना विजयनम्

विजयन—आमन्त्रणा करने को विजयन कहते हैं।

जैसे 'बिभीसंहार' में—'मीम—तात आम्ब आपके पुत्र जिसके वन पर ममल सन्तुष्टों पर विजय प्राप्त करने की आज्ञा लपाये हुए थे और जिसके अहंकार से धारा संसार तिनके के सुख तिरस्त्रत हुआ था उसी रथकार के पुत्र कर्ण की मारने वाला यह मैमना पाण्डव धर्मन प्राप लोगों को प्रणाम करता है।

मीम—सम्पूर्ण कौरवों का मर्दनकारी बुधासन के स्वतन्त्र से मस्त यह भीम जो दुर्योधन के जेपाओं का भंग करने वाला है गिर झुकाकर प्राप लोगों को प्रणाम करता है।

"इस प्रकार विजयययी विजय के अनुकूल अपने पुत्र के प्रकट करने के कारण विजयन है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में भी—पौर्य-परायण—मैंने देवी वासुदेवता के पास सामन्तों को बो रखा उससे

अप्यय इन्ने मसल दिने जाते हैं—

सधिवीजोपगमन

१ सन्धि—बीज की उद्भावना को सन्धि कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में समुद्रमूर्ति सागरिका को देखकर कह उठता है कि "यह सबकी तो टीक रामकुमारी ही नहीं बन रही है ।

बाह्य—मुझे भी तो ऐसी ही बन रही है ।"

यहाँ पर नाटिकावली बीज की उद्भावना होती है अतएव यह सन्धि है । इसी प्रकार 'बिबीसंहार' में भी—
 "बीज—सौभाग्य रामभुवि ।
 क्या तुम्हें बड़ बात याद है जो मैंने तुमसे कही थी—

हे देवि यह भीम अपनी चपल मुखाधो ने घुमाए हुए अपनी भीषण यदा के प्रहार से सुयोधन के जघन को रौंदकर निकले हुए कूब बाढ़े रक्त से निरबल हाथों को रपटा हुआ मुझारे केसकलापी का सभारेया ।"

यहाँ पर सन्धि में रहे हुए बीज की पुन उद्भावना करने से सन्धि है ।

विशेष- कार्यमार्यसुम् ।

विशेष—कार्य-अन्वेषण को विशेष कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—
 "समुद्रमूर्ति—(विचारकर) महाराज !
 यह सबकी आपकी कहीं से प्राप्त हुई ?

राजा—महाराजी जानती हैं ।

बाह्यवर्तता—आर्यपुत्र । अर्थात् बीजवरायण ने बताया था कि यह सबकी सागर से प्राप्त हुई है और मुझे सौंपा था । इसीसे हम सोच इसे सागरिका कहकर पुकारते हैं ।

राजा—(अपने-आप सोचता है) अर्थात् बीजवरायण ने मुझसे बिना बताया ही इसे महाराजी को सौंपा है, समझ में नहीं आता क्या बात है ? यहाँ पर रत्नावली द्वारा उपस्थित कार्य के अन्वेषण से 'विशेष' है । इसी प्रकार 'बिबीसंहार' में भी भीम मुद्रिष्ठान के कहने

है—घायं लक्ष भर के लिए मुझे छोड़ दीजिए ।

मुचिष्ठिर—क्या धमी धीर कोई कार्य सेप रह गया है ?

भीम—धमी धमी तो बड़े महत्त्व का कार्य बाकी ही रह गया है ।

मुनिए—मैं बुद्धासन के हाथों से लीचि गए द्रुपदराज-पुत्री के उन केयों को जो धमी तक जुने पड़े हैं उसी बुद्धासन के रक्त से सने अपने हाथों द्वारा संबाक ना ।

मुचिष्ठिर—बापों माई, वह उपस्थिती केव संवारने के मुख का अनुभव करे ।

यहाँ केव को संवारना-रूपी जो कार्य है उसके अन्वेषण से विबोध है ।

प्रथम तनुपक्षेपो

प्रथम—कार्य के उपक्षेप (उपसंहार) को प्रथम कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में—'योगेश्वरराज—महाराज आपसे बिना बताए ही मैंने जो ये सब कार्य कर वाला है एतदर्थ लक्षप्रार्थी हूँ ।

यहाँ पर बत्ताराज का 'रत्नावली'-प्राप्ति रूप जो कार्य है उसके उपसंहार होने से यहाँ प्रथम है । इसी प्रकार 'विभीषंहार' में भी—

'भीम—पाम्बाली । तुम मेरे रहते बुद्धासन के हाथों से लोभी हुई धनवी बेनी को अपने-आप संबाधे ऐसा नहीं हो सकता । स्को-स्को मैं स्वयं तुम्हारे केवकभाव को संबाकंगा ।

यहाँ पर द्रौपदी के केव-संवरण रूप काव के उपक्षेप के कारण प्रथम है ।

शुभ्रताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

निर्णय—अनुमत बात के कथन को निर्णय कहते हैं ॥ ५१ ॥

जैसे, 'रत्नावली' में योगेश्वरराज का कथन—(हाथ जोड़कर) सिंहनेश्वर की इस कन्या (रत्नावली) के विषय में एक सिद्ध पुरय ने बताया था कि जो इसका पानिग्रहण करेगा वह ब्रह्मर्षी सम्पाद होगा । इस बात पर विश्वास कर मैंने इस कन्या को सिंहनेश्वर से माया । राणी वासवदत्ता के मन में बुझ होगा—इस कारण भरोष ने देने नहीं

वायु, आकाश आदि घोर महत्त्वादिकों के शुद्ध होने से अर्थात् मूर्ति के अनुपपन्न-प्रकृति से सम्भूत मूर्ति अर्थात् अवतार धारण करने वाले बुद्धिन्—एक एक तम इन तीन प्रकार की उपायियों से विधिष्ठ सत्कार के बर घोर अथवा आधियों के जन्म पालन तथा संहार करने वाले अजन्मा अवतार घोर ध्यान में न आने वाले आत्मका स्मरण करके ही इस सत्कार में कोई दुःखी नहीं रह सकता फिर आपका दर्शन हा जाए तो बहुत ही क्या है !

वही पर बुद्धिष्ठिर के दुःख का दूर होना विनाया गया है, अतः 'समम' है।

कृतिसत्त्वार्थप्रमर्श

कृति—सत्य (प्राप्त) प्रयोजन के द्वारा उत्पन्न धान्ति को अथवा सत्य प्रयत्न के स्थिरीकरण को कृति कहते हैं।

प्रथम उदाहरण जैसे 'रत्नावली' में—राजा—देवि आपके अनुग्रह प्राप्त कर कौन अपने को बड़भागी नहीं मानेगा !

वासुदेवता—आर्यपुत्र इसके (रत्नावली के) माता-पिता आदि घर वाले दूर हैं तो आप ऐसा कार्य करें जिससे इसका चित्त बन्धु बान्धवों का स्मरण कर दुःखी न रहा करे।

वही पर वासुदेवता को 'रत्नावली' रूप प्रयोजन के प्राप्त होने से धान्ति-मुख प्राप्त होता है अतः यह कृति है।

दूसरे का उदाहरण 'विभी संहार' में है—कृष्ण—'ये मयवान् व्यास और वास्नीकि हैं। वही से आरम्भ करके 'अधियेक' का आरम्भ किया जा रहा है।

वही प्राप्त राज्य का स्थिरीकरण होने से कृति है।

मानाद्याप्तिश्च आयत्तम्।

मायत्त—प्रतिष्ठा मान वस्तु आदि की प्राप्ति को मायत्त कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में राजा भीष्मराज से कहते हैं—'धर्म

क्या इससे बढ़कर भी मरा कोई उपकार हो सकता है ?

मुझे धापक प्रयत्न से विजयबाहु-जैसे प्रतापशाली राजा का सौहार्द प्राप्त हुआ और साथ ही सम्पूर्ण विश्व के राज्य की प्राप्ति का कारण-स्वरूप पृथ्वी की एक ही सार वस्तु 'रत्नावली' नाम की प्रिया मिल गई। बहन की प्राप्ति से रानी बासबदत्ता को प्रीति प्राप्त हो गई तथा कौशल-नरेश के राज्य पर मेरी विजय-बीजन्तिका फहराई। अब धाप-जैसे अमोघ प्रवर के रहते एसी कौनसी वस्तु बच गई है जिसकी प्राप्ति के लिए मैं उत्सुकता प्रकट करूँ।

यहाँ पर काम अर्थ नाम प्राप्ति की प्राप्ति हो जाने में भाग्य है।

कायदृष्ट्यक्षुत्तप्राप्ति पूर्वभाषोपगूहने ॥ ५३ ॥

पूर्वभाव और उपगूह—कार्य के वर्णन को पुनरावृत्ति तथा अद्वितीय वस्तु की प्राप्ति को उपगूहन कहते हैं ॥ ५३ ॥

पूर्वभाव का उदाहरण जैसे 'रत्नावली' नाटिका में— 'वीरभद्रराज'—(हैनकर) महाराजा अब आपने अपनी बहन को पहचान लिया इसलिये वा उचित समझें करें।

बासबदत्ता—(मुस्कराकर) तो यही क्यों नहीं कह देते कि 'रत्नावली' महाराज को है बीबी।

यहाँ निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज को 'रत्नावली' दे बीबी। यहाँ पर मंत्री वीरभद्रराज के इस भाव को रानी बासबदत्ता ताड़ गई, अतः यह पूर्वभाव है। उपगूहन का उदाहरण 'वीरभद्रराज' में— 'वीरभद्र समराजि में जलने से बच हुए राजकुमारों का बखाना हो।

नेपथ्य में—जिसके विचार जाने से जाध्याय पाण्डुपुत्रों के द्वारा राजाओं का संहार हुआ और जिसके कारण राजरत्नियों के कुछ कलाप विम-प्रतिबिम्ब समग्र दिशाओं में बिखरते जा रहे ब (राजाओं की स्त्रियाँ समराज्य में पति के मारे जाने से वैश्य का दुःख पाती जा रही थी) वह दृष्ट होने पर समराज का मित्र कौरवों के लिए मृमकेतु के समान शीघ्र ही वा कलापाय राजा भाग्य से बच गया। अतः प्रजापति के

सत्पानामी का घब घन्त हो तथा राजकुम वा कस्याम हो ।

सुविष्टिर—देवि धाक्रास में विवरण करन नाम मित्र लोगों द्वारा भी तुम्हारे देशकसाप के सेंवारे नाम का धमिमन्तन हो रहा है ।”

यहाँ पर धम्भुत वस्तु की प्राप्ति के कारण उपगूहन है साथ ही सम्ब प्रयोजन निमित्तक धान्ति के होने से कृति भी है ।

धराति काव्यसंहार

काव्यसंहार—खेप वस्तु की प्राप्ति को काव्यसंहार कहते हैं ।

जैसे नाटकों के अन्त में प्राय यह भाव्य मिलता है— धीर मैं आपका कौनसा उपकार करूँ ?

यहाँ पर काव्य के अर्थ के संहारण (उपसंहार) होने से काव्य संहार होता है ।

प्रशस्ति शुभससनम् ।

प्रशस्ति—काम्यासुप्रव वस्तु के कचन को प्रशस्ति कहते हैं ।

जैसे ‘देवि आप बहुत ही प्रसन्न हैं तो यह हा—

सोम प्रदूषण और रोवरहित बीर्बबीबी बन जनता सबेह छोड़ कर मगबदूषित-परायण बने । राजा सोम समस्त प्रबाधा से प्रम रखते हुए धीर विद्वानों का पोषण करते हुए तथा गुणों की महत्ता पर विद्वान् ध्यान देते हुए सर्वदा समुज्ज्वल कार्य में दत्तचित्त रहे ।

यहाँ पर कस्याणकारी बात के कचन होने से प्रशस्ति है । य १८ निर्बहुन सवि के अंग है ।

यहाँ तक १४ अंगों वाली पाँच संधियों को बताया गया । अब इन सन्धियों के प्रयोजन को बताते हैं ।

सत्ताङ्गामां वस्तुः सृष्टिं पोढा चर्या प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥

ऊपर बताई हुई १४ सन्धियों के १ प्रकार के प्रयोजन होने हैं —

इष्टस्यार्पस्थ रचना गोप्यगुप्ति प्रकाशनम् ।

राग प्रयोगस्याश्चय वृत्तास्तस्यानुपमाय ॥ ५५ ॥

१ विवक्षित धर्म की रचना २ गोप्य (ज्ञियाने गोप्य) वस्तु

को पुनः ही रचना, ३ जिस बात का कहना पड़ित है उसको प्रकाश में लाना, ४ वर्णों के समुद्र नाम के विषय में शीति पैदा करना, ५ अपतकार पैदा करना ६ कथा को विस्तृत करना ॥ ५४ ५५ ॥

उपर्युक्त छ बातों के लिए रूपों में ६४ गण्यङ्गों को लाना चाहिए। इसके बाद सम्यकार फिर वस्तु का विभाग दूसरी दृष्टि से करते हैं —

द्वेधा विभाग कर्तव्यः सवस्यापीह वस्तुन ।

सूच्यमेव भवेत्त्रिहृदयव्यमथापरम् ॥ ५६ ॥

नाम में लाने वाली कथावस्तु को दो श्रेणियों में बाँट देना चाहिए। उसमें एक विभाग ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा केवल सूचना-मात्र ही जाती हो तथा दूसरा ऐसा होना चाहिए जो सबके सुनने योग्य होने से बचाया जा सके। इसमें पहले को 'सूच्य' तथा दूसरे को 'हृदय' कहते हैं ॥५६॥

नोरसोऽनुचितस्तत्र स सूच्यो वस्तुविस्तरः ।

हृदयस्तु मयुरोदात्तरसभावनिरन्तर ॥ ५७ ॥

१ सूच्य—नाम में लाने वाली ऐसी कथावस्तु को जो नीरस तथा अनुचित हो, उसकी केवल सूचना-मात्र दे देनी चाहिए।

२ हृदय—ऐसी कथावस्तु को, जिसमें मयुर और उदात्त रस तथा भाव पुनः पुनः (सबालम्) भरे हों, बिलाना चाहिए ॥५७॥

अर्थोपलक्षकं सूच्यं पञ्चमि प्रतिपादयेत् ।

विट्ठलभूमिकाङ्गास्माङ्गावतारप्रवेदाक ॥ ५८ ॥

सूच्य कथावस्तु की सूचना अथ की सूचना देने वाले विट्ठलभट्ट, भूमिका अथावतार, अंकाक्ष, प्रवेगाद इनके द्वारा देनी चाहिए ॥५८॥

वृत्तवर्तिष्यमाणामां कथादानां मिदशकः ।

सलेपार्थस्तु विट्ठलभो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

१ विट्ठलभट्ट—जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो पहले

होने वाली हो उसकी सूचना लक्ष्मण में मध्यपात्र के द्वारा भी जाती है उसे विष्कम्भक कहते हैं ॥३९॥

यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण ।

एकानेककृता शुद्ध संकीर्णो मोक्षमध्यम ।

शुद्ध विष्कम्भक—जब एक या दो मध्यम पात्रों के द्वारा सूचना भी जाती है तो शुद्ध विष्कम्भक होता है ।

संकीर्ण विष्कम्भक—जब मध्यम या अथवा पात्रों द्वारा सूचना भी जाती है तो संकीर्ण विष्कम्भक होता है ।

तद्वेवानुवात्सोक्तया मोक्षपात्रप्रयोजित ॥ ६० ॥

प्रवेशोऽङ्गुद्वयस्यास्त शेषार्थस्योपसूचकः ।

प्रवेशक—इसमें बींसी हुई तथा आगे आगे वाली बातों की सूचना भी जाती है । पर इसमें सूचक भीच पात्र ही रहते हैं । इसकी बाधा प्राकृत होती है । यह दो अंकों के बीच में आता है इसमें छुपी हुई बातों की सूचना भी जाती है ॥६०॥

अन्तर्ज्वलिकातत्पर्यङ्गुलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

३ जूलिका—नेपथ्य के पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना देने को जूलिका कहते हैं ॥६१॥

जैसे 'उत्तररामचरित' के द्वितीय अंक के आदि में—नेपथ्य में—'तपोवना का स्वागत है । इसका बाह्य तपोवना आश्रमी प्रवेश करती है । इस प्रकार यहाँ नेपथ्य पात्र के द्वारा वनदेवता वासुन्ती को आश्रमी के आगमन के विषय में सूचना दी गई है यद्यपि यहाँ जूलिका है और जैसे महावीर चरित के चतुर्थ अंक के आदि में (नेपथ्य में)—

बामुवान संभ्रमण करणे वाले सम्बन्धो । मंथन मनाई मंथन मनाई—कृष्णबलमुनि के शिष्य विश्वामित्र जिनका प्रताप सूर्यवज्र में साब भी बिछाव रहा है उसकी जय हो ! और साथ ही अश्विनी के बीरी परशुरामजी पर विजय प्राप्त करने वाले रामचन्द्र जो संसार को भ्रमण प्रदान करने का बल कारण करते हैं और जो तीनों लोकों को

रसा करने वाले तथा मृगकुस के लिए अग्रमा के समान है उनकी वय हो ।

यहाँ पर नेपथ्य में बबों द्वारा 'परमुराम पर राम न विजय प्राप्त कर सी' इस बात की सूचना दी गई है अतः यहाँ चमिका है ।

अङ्कान्तपात्ररङ्गास्थ क्षिप्त्वाङ्कुस्यार्यसूचनात् ।

अङ्कस्थ—अंक के अन्त में आने वाले पात्र के द्वारा आगते अंक के आरम्भ में आने वाले पात्रों आदि की सूचना देने की अङ्कस्थ कहते हैं ।

जैसे 'महावीर चरित' के द्वितीय अंक के अन्त में प्रविष्ट होकर मुमन्य कहते हैं— 'आप सागों को परमुराम के साथ-साथ बधिष्ठ और बिम्बामित्र बुला रहे हैं ।

अग्न्य साग—अगवान् बधिष्ठ और बिम्बामित्र कहती हैं ?

मुमन्य—महाराज बगरब के पास में बिम्बमान है ।

अग्न्य सोम—तो फिर उनकी आज्ञा चिरोचर्य कर हम साग आ रहे हैं ।

इस प्रकार द्वितीय अंक की समाप्ति हो जाती है उसका बाद तीसरे अंक के आरम्भ में बधिष्ठ परमुराम और बिम्बामित्र आसीन दिलाई देते हैं ।

अङ्कावतार—एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहे तो उसे अङ्कावतार कहते हैं । पर इस कथा में प्रवेशक और बिष्कम्भक का स्थान नहीं रहता अर्थात् यह कथा प्रवेशक-बिष्कम्भक-बिहीन होती है ।

अङ्कावतारस्यङ्कान्ते पातोऽङ्कुस्याविभागतः ॥ ६२ ॥

एभि ससूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कु प्रवक्ष्येत् ।

अङ्कावतार नामकरण का नाव यही है कि इसमें अंक के अन्त में आने वाली कथा का दूसरे अंक में अतार होता है ॥६१॥

इसमें सूच्य वस्तु की सूचना होती है तथा दृश्य वस्तु का अर्थों में दिखाया जाता है पर बिम्बपता यह गङ्गी है नि प्रवेशक और बिष्कम्भक

का प्रयोग नहीं किया जाता ।

‘मासविकल्पविभक्त’ नाटक के प्रथम अंक में विद्वत्पक्ष कहता है—
 “तो धाप होनों देखी के प्रशागृह में जाकर मंगीत का माज सबाएँ
 घोर सब ठीक हो जाने के बाद मूचिन करें । घबरा मृदय का धार
 ही इन्द्र उठा बेगा । इस प्रकार के उपक्रम के बसत रहने पर मृदय
 के धार के मुमने के अनन्तर नवी प्रथम अंक के पात्र द्वितीय अंक के
 आरम्भ में प्रथम अंक की कथा को कूटिम किए बिना ही द्वितीय अंक
 के आरम्भ में उठर पड़ते हैं । इसी को प्रच्छाद्यतार कहते हैं ।

नाटयधममपेक्ष्यतत्पुनर्बस्तु विधेयते ॥ ६३ ॥

नाट्य-धम की दृष्टि से सम्बन्धकार किए बस्तु को तीन ध्येयों में विभक्त
 करते हैं ॥ ६३ ॥

य तीन। भेद बँधे होते हैं इस बात को नीचे बताया जाता है—

सर्वेषां नियतस्यैव ध्याध्यमध्याध्ययेव च ।

सर्वध्याम्य प्रकाशं स्यादध्याम्य स्वगतं मतम् ॥ ६४ ॥

नाट्य में कुछ धंसा ऐसा होता है जिसको सब कोई सुन सकता है
 पर कुछ प्रंघ ऐसा भी होता है जो किसी किसी को या सबको सुनाने
 के योग्य नहीं होता । इसमें प्रथम को प्रकाश तथा दूसरे को स्वगत
 कहते हैं ॥ ६४ ॥

द्विधाम्यन्नाटयधमार्थ्यं जनान्तमपवारितम् ।

इसके अलावा एक नियतध्याम्य होता है । ऐसा नाटकीय दृश जो
 किसी निश्चित व्यक्ति के ही सुनने के लिए व्यवहृत होता है नियत-
 ध्याम्य कहलाता है । इसके दो भेद होते हैं—१ जनान्तिक और २ धा
 वारित ।

त्रिधयानाकरेणान्यान्पवारितान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥

अन्योन्यामन्तरं यत्स्याज्जनान्ते तन्जनान्तिकम् ।

जनान्तिक—सामानिक को छोड़ बाकी तीन ध्येयों की ओर करने

हैं। आरमियों की घुस बातचीत को अनानुचित कहते हैं ॥६५॥

रहस्य बध्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापचारितम् ॥ ६६ ॥

अपचारित—पास बिद्यमान पात्र की ओर से मुह केरकर उत्तम क्षिपाकर उसके किसी रहस्य की बात पर कटाक्ष करने को अपचारित कहते हैं ॥६६॥

नाट्यरश्मि की चर्चा छिड़ गई है। अतः इसी सिलसिले में आकाश भाषित को बताते हैं—

किं यत्कीप्येवमिह विना यात्र श्रवोति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तस्यावाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

आकाशभाषित—ऊपर देखता हुआ अकेला ही कोई पात्र बिना किसी दूसरे के कहे-मुने ही धुनन का नाट्य करता हुआ जब स्वयं प्रश्नों को पूछता है या स्वयं उसका उत्तर देता है उसे आकाशभाषित कहते हैं। बिना किसी के कुछ बोले ही क्या कह रहे हो ? इस प्रकार से प्रश्नों को करके उसका उत्तर भी कुछ मन से बमकाकर फिर कुछ बोलता है। इस प्रकार का प्रश्न इसमें जारी रहता है। इसी को आकाशभाषित कहते हैं ॥६७॥

कुछ लोगों ने ऊपर बताए हुए नाट्य-रश्मियों के साथ-साथ कुछ और भी नाट्य-रश्मियों को बताया है। पर वे हमारी दृष्टि में नाट्य-रश्मि के भीतर नहीं आ सकत क्योंकि एक तो वे अमानवीय हैं (मरत मुनि के कह हुए नहीं हैं) उनकी बेबस नामावली में ही प्रमिद्धि है। दूसरे जगमें के अविद्यामय भाषा न प्रयुक्त होने हैं। अतः इनको नाट्य का घम न मानना ही उचित समझकर उनके अलग भाषा का प्ररक्षण नहीं किया गया है।

इत्याद्यन्तेपमिह वस्तुभिरेव जासं

रामायणादि च बिभाष्य बृहत्कथां च ।

आसूत्रयेत्तदनु मैतुरसानुगुण्या

जिज्ञासां च भामुचितभाषवचःप्रपञ्च ॥ ६८ ॥

रामायण और बृहत् कथा के देखने और उसके ऊपर सूक्ष्म विचार करने से वस्तु के अनगिनत भेद बिछाई जाते हैं, अतः नाट्य-प्रणेता के लिए यह उचित है कि वह उन वस्तुओं को नेता और रस के समुत्कृत सुन्दर वचन रचना-शायरी से सजाकर विविध-विविध कथाओं का प्रत्ययन करे ॥६८॥

धर्मव्यवहृत रघुवधक का प्रथम प्रकाश समाप्त ।

वस्तु वर्णनीय विषय को कहते हैं उसके अनेक भेद होते हैं । (यह बात पहले बताई जा चुकी है) बृहत् कथा की वर्णन कारिका में पाई है यह गुणादय द्वारा निमित्त है । नाट्य-प्रणेताओं को उस बृहत् कथा और रामायण आदि का सम्यक् रूप से अध्ययन करके तब लेखनी का मन्त्रालन करना चाहिए । नेता और रस के बारे में पागे के प्रकरणों में बताया जाएगा । उसका भी समुचित ज्ञान नाटककार के लिए आवश्यक है । कथा का प्रथम प्रास्ताविका समझना चाहिए । ये प्रास्ताविकाएँ सुन्दरता और विविधता से भरी होनी चाहिए । उपयुक्त बातों को ध्यान में रखकर सुन्दर-सुन्दर वचन रचना शायरी के द्वारा कथा को विस्तार के साथ वर्णन करना चाहिए । जैसे 'मुराराजस' नाटक की मूलकथा प्रति भस्म रही पर कवि ने अपनी वचन रचना शायरी के द्वारा कथा का इतना विस्तार दिया । बृहत् कथा में मुराराजस की मूलकथा केवल इतनी ही रही— 'आश्वमेध नामक ब्राह्मण ने शकटवास के घर में कुछ गुप्त स्त्रियाँ का सम्पादन कर राजा को उसके पुत्रों के साथ मार डाला और इसके बाद जब योगार्जुन का केवल नाम मात्र ही सेप रह गया उस समय नर के पहले सड़के अन्नगुप्त को उस महापराक्रमवादी आश्वमेध ने राजा बनाया । इस प्रकार मुराराजस की कथा बृहत् कथा में केवल सूचित भर कर दी गई थी और इसी मूलनामान कथा के आधार पर 'मुराराजस' नाटक की रचना हुई । इसी प्रकार रामायण में वर्णित राम-कथा को भी जानना चाहिए ।

विष्णुपुत्र अनिककृत रघुवधकालोक' व्याख्या का प्रथम प्रकाश समाप्त ।

द्वितीय प्रकाश

अपनों का घापस में एक-दूसरे से क्या भेद है इसकी जानकारी के लिए वस्तु के भेदों का प्रतिपादन करके अब नायक के भव बतलाता है —

मेता विनीतो नयुर त्पाथी इत प्रियंवद ।

रक्तसोक शुचिर्वाग्मी रुडबवा स्विरो युवा ॥१॥

बुद्ध मुत्साहस्मृतिप्रसाकलामानसमम्बित ।

धूरो हृडइध तेजस्वी वास्त्रजकुडज धार्मिक ॥२॥

मेता विनीत नयुर त्पाथी इत प्रियंवद रक्तसोक शुचि, वाग्मी रुडबस स्विट, युवा, बुद्धिमान, प्रसावात् स्मृति-सम्पन्न उत्साही कलावान्, वास्त्रजकु प्रसन्न-सम्मानो धूर, हृड तेजस्वी धीर धार्मिक होना चाहिए ॥ १ ॥ २॥

१ मेता यर्थात् नायक विनयादि गुणों से सम्पन्न होता है। उसमें विनीत को बतलाने हैं। जैसे 'बीरचरित' नाटक में—

नयुप के दूटने से प्रकृषित परशुराम के प्रति रामचन्द्र कह रहे हैं—
“हे देव शत्रुहानियों के द्वारा जिनके पूज्य चरणों की सपासना की जाती है, ऐसे आप बिना धीर तपस्याकामी अनुष्ठानों के समुद्र तथा तपस्वियों में खेळ है। मैंने यदि अज्ञानतावश ईनात् आपका कोई अपराध भी कर दिया है तो क्षमा प्रदान करें। हे नाभ प्रसन्न होइए, अपने द्वारा किये गए अपराधों के प्रति क्षमायाचना के लिए मैं करबद्ध प्रार्थी हूँ।”

२ देखने में जो प्रिय सने उसको नयुर कहते हैं। जैसे वहीं पर—
परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—“हे राम अपने शरीर के

धनुष्म ही नर्तों की मनाहरता की धारण करने बात तथा तक धीर
 मरणा म भी न था सकने वाले ध्येष्ठ रमणीय मुर्खों से सद्योभित तुम
 सब प्रकार में मरे धम्य करण में बिद्यमान हा ।”

३ धपन सर्वस्व का बाग देने वाले को त्यागी कहत है । जैसे—

कन ने धपनी त्याग को सिनि ने धपने मास का जीभूतबाहुन
 न धपन प्राण को तथा बचीधि न धपनी धस्थियों को परोपकारार्थ दे
 दिया है । बात ठीक ही है महान् पुरणों के लिए कोई भी वस्तु अक्षेप
 नहीं हाती ।

४ धीघ्रता के साथ कार्य करने वाले को बल कहते हैं । उसे
 ‘महावीर धरित’ में—

‘जैस हाथी का बच्चा अपनी सूंड से पत्थर के टुकड़ों को प्रनामास
 ही (बिना परिश्रम के) धीघ्रता के साथ फेंक दे उसी प्रकार बल
 राम ने देवताओं के तेज से बड़े हुए, सिबबी के धनुष को बिना परिश्रम
 के ही भट से उठा लिया उठाने के साथ ही धनुष की प्रत्यक्षा ओर की
 धावाज करती हुई बह गई धीर बह धनुष टूट बना । धनुष की
 प्रत्यक्षा के बड़ने धीर धनुष के टूटने में इतनी धीघ्रता हुई कि लोगों ने
 धीर कुछ न देखकर केवल राम के सामने हथारों बण के मिरम के समान
 भस्मकर धम्य निकल रहा है इतना मात्र ही देखा ।”

५ प्रिय बोझने वाले को शिष्य कहत है । जैसे वहीं पर अर्थात्
 उसी पाठक में—

रामचन्द्र परधुराम से कह रहे हैं—हे सत्य ब्रह्मज्ञान धीर
 उपस्था के निनि भगवन् ! आपके धन्दर कौनसी ऐसी बात है जो
 लाकोतर न हा ? अर्थात् आपकी प्रत्यक्ष बात ही लोकोतर है । देखिए,
 आपका जन्म महर्षि ब्रह्मर्षि से हुआ आपके गुरु प्रसिद्ध धनुर्धारी
 मगवान् धन्दर उड़े धीर आपने जितना पराक्रम है वह बाणी का
 बिषय नहीं हा उठता अर्थात् आपने इतने अधिक धीर लोकोतर बरा
 क्रम बिद्यमान है जिनके बचन करण में कोई समर्थ नहीं हो सकता । इस

प्रकार का धर्मौक्तिक पराक्रम निश्चय ही आपके कार्यों से व्यक्त है। आपके त्याग के बारे में क्या कहना आपन सातों समुद्रों से चिरी हुई पृथ्वी को बिना किसी हिचक के बाह्यार्थों को दान दे दिया।

७ रक्तसोक—(घर्षात् सबका प्रिय होना) जैसे वहीं पर—

अयोध्या की प्रजाएँ महाराज बरारण से कह रही हैं—“हे महापुत्र बेदवयी के रक्षा करण वाले आपके पुत्र जो रामचन्द्र हैं वे आपकी कृपा से राजगद्दी पर सुशोभित हो गए, उनका ऐसा राजा का पाकर हम लोगों की सारी अभिलाषाएँ और मनोरथ पूरे हो गए, अतः हम लोग आनन्द के साथ बिचर रहे हैं।

इसी प्रकार क्षुब्ध आदि का भी उपाहरण दिया जा सकता है।

८ क्षुब्ध (खीब)—मानसिक पवित्रता से काम आदि दोषों को दबा देने का नाम क्षीब (क्षुब्ध) है। जैसे ‘रघुवंश’ महाकाव्य में—

“हे धूम तुम कौन हो तथा किसकी प्रेयसी हो ? और इत घर्षरात्रि के समय एकान्त में मेरे पास किस मनोरथ से आई हुई हो ? पर हाँ मेरे प्रस्नों का उत्तर इस बात पर ध्यान रखकर बना कि रघुवंशियों का मन पराई स्त्री से विमुख रहने वाले स्वभाव का होता है।

९ बाम्नी—घट से मुक्तिमुक्त बात करने वाला बाम्नी कहते हैं।

जैसे ‘हनुमत्काण्ड’ में रामचन्द्र परशुराम से कह रहे हैं—“ह परशु रामजी वनुष के दूतों के पहले मुझे अपनी भुजाओं का भी बल मासूम न जा। साथ ही मुझे यह भी बात नहीं जा कि भगवान् चंकर का वनुष न्तनी सविमावासा है कि छूने मात्र से टूट जाएगा। उपर्युक्त दोनों बातों के ज्ञान का न जाना ही मात्र भ्रम बाध है अतः दाप मरी चपलता को धमा करें। बामनी द्वारा किया गया अनुचित कर्म भी गुरुजनों के लिए धान्यप्रण ही होता है।”

१० रघुवंश—उज्ज्वल का उद्भव कहते हैं।

जैसे कोई राजा बरारण से कहता है—

मूर्ध्न्य बंध के राजिय कुल में संतान कपी मस्मी (बेला का फूल) पुष्प की न मुरझाई हुई मामा के समान जो आपने राम सख्यन भरत शत्रुघ्न इन चार पुत्रों को पैदा किया है उनमें प्रथम ताड़काक्षी काल रात्रि के लिए प्रभात के समान तथा सुचरित कथा कपी कहानी के मूसकंद के समान जो यं राम हैं ये आपने पुत्रों से सबसे बड़कर हैं और इनके गुणों की कोई सीमा नहीं है।”

११ स्त्रिय—बाणी मन धीर किया छारि से जो धर्चबल हो सद्य स्त्रिय कहते हैं। जैसे ‘महाधीरचरित’ नाटक में परशुराम द्वारा बिये गए वनपुत्र को बड़ाकर राघवगुरु कहते हैं—‘हे मुनि गुरुजन के मनाहर के कारण मुझे गते ही प्राचरित्त करना पड़े इसकी मुझे कोई विस्ता नहीं पर इस प्रकार से धर्चस्त्रि आप पर बसा करके वनपुत्र का बड़ाया निष्कस कर हूँ धीर सत्त्व प्रह्वरूपी महाव्रत को रूपित कर हूँ ऐसा मुझसे कशापि नहीं हो सकता। अबका जैसे ‘भर्तृहरि चरक’ में—‘कवि कहता है कि इस संसार में तीन ही प्रकार के पुत्र्य पाए जाते हैं—(१) नीच (२) मध्यम धीर (३) उत्तम। इसमें नीच या अधम पुत्र्य का यही ससन है कि वह विष्णों के भय से किसी काम को शुरू ही नहीं करता। मध्यम पुत्र्य कावों को आरम्भ तो अवश्य करता है पर विष्णों के आ जाने पर अपने कार्य को बीच में ही छोड़कर बैठ जाता है पर उत्तम पुत्र्य की वह विशेषता होती है कि वह विष्णों के बार-बार प्रहार के बावजूद भी जब तक कार्य पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो जाता तब तक करता रहता है।”

१२ पुत्रा—मुका अवस्था तो प्रसिद्ध ही है। बुद्धि ज्ञान को कहते हैं। वही बुद्धि विशेष रूप से ब्रह्म की जाने पर प्रज्ञा कहलाती है। जैसे ‘मालविकाग्निमित्र’ नाटक में—

“मैं जो-जो भाव उसे सिखसाया हूँ उन्हीं जब वह धीर सुन्दरता के साथ करके दिखाने लगती है तो ऐसा ज्ञान पकता है मानो वह सबकुछ मुझे ही सिखला रही है।” और सब तो स्पष्ट ही है।

नेता के साधारण गुणों के बतसा बुझने के बाद अब उनके विशेष

पुर्णों को बतसाया जा रहा है—

विशेष पुर्णों की हृदि से नेता के चार भेद होते हैं : १ धीरसन्नि २ धीरधाम् ३ धीरोद्गात, ४ धीरोद्गत ।

जिस क्रम से ये ऊपर के चारों भेद बताये गए हैं उसी क्रम से इनके मखन और उदाहरण भी दिए जाते हैं—

धीरसन्नि

मेव चतुर्धा सन्निधान्तोदात्तोद्गतरयम् ।

निश्चिन्तो धीरसन्नि वसातक्त मुक्षी मृदु ॥३॥

धीरसन्नि नायक निश्चिन्त होता है कलाओं में उसकी भासन्ति रहती है । वह मुक्षी तथा मृदु स्वभाव का होता है ॥३॥

धीरसन्नि नायक राज्य का सारा भार अपने योग्य मन्त्रियों को सौंपकर चिन्तारहित रहता है । किसी प्रकार की चिन्ता धारि के न रहने से नीत धारि कलाओं तथा भोवविभास में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है । समस्त गृहकार की प्रबानता रहती है । वह कोमल स्वभाव तथा उत्तम पराक्रम वाला होता है इसी से उसे मृदु अर्थात् मधुर स्वभाववाला कहते हैं । जैसे 'रत्नावली' नाटिका में महाराज सबजन अपने प्रिय मित्र विष्णुपद से प्रसन्नता के साथ कह रहे हैं—

'यन्नु मच्छी तरह से पीठे जा चुके हैं ऐसा राज्य है । राज्य-संभासन का समस्त भार योग्य सचिव को सौंप दिया गया है । मच्छी तरह से पालन होने तथा रोम धारि के समान में प्रजा-वश प्रसन्न है । महा राज प्रद्योत की पुत्री प्रियतमा वासववत्ता पाम हो है । बलन्त का उम्मादक समय है तथा प्रिय मित्र तुम भी विद्यमान ही हो । इस प्रकार चारों तरफ धामन्त ही-धामन्त है जब ऐसी परिस्थिति में मदन-महात्मन अपनी इच्छा के समुत्तम पुर्ण गति को प्राप्त करे । उपर्युक्त बातों से ऐसा भवता है माना हमारा ही महान् उन्मथ बनाया जा रहा है ।'

वीरशान्त

सामान्यगुणयुक्तस्तु वीरशान्तो द्विजादिकः ।

वीरशान्त नामक सामान्यगुणों से युक्त होता है । इसके पात्र द्विज आदि (ब्राह्मण मन्त्री वैश्य) होते हैं ।

नेता के विनीत आदि को सामान्य गुण हैं उससे युक्त होते हुए वीरशान्त द्विजादिक (ब्राह्मण मन्त्री वैश्य) ही होता है, यह जो बात बताई गई है इससे सम्भवकार को वीरशान्त नामक रूप में प्रकरण का ही नामक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है । इसी से ब्राह्मण आदि में वीरललित नामक की निश्चितता आदि गुणों के रहने की सम्भावना रहत हुए भी उसको वीरशान्त ही माना जाता है, वीरललित नहीं । जैसे मातलीमाचव वीर मृच्छकटिक आदि प्रकरणों में माचव और वास्तव आदि वीरशान्त ही माने जाते हैं । मातलीमाचव प्रकरण में कामन्दकी मातली से माचव का परिचय होती है^१ कहती है—

“जैसे सुन्दर गुण से युक्त बेबीप्यमान किरणों तथा कलाओं वाला और मन्त्रधारियों के ध्यान को बढ़ाने वाला अम्त्रमा उदयविरि पर्यंत से उदय होता है ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे हुए गुणों वाला यह माचव भी अपने श्रेष्ठ गुण से उत्पन्न हुआ है ।”

अब वा जैसे ‘मृच्छकटिक’ नाटक में मध्य स्थान में आम्त्रालों द्वारा से पाए जाते हुए वास्तव का खुशी होकर यह कथन—

‘अनेक यज्ञों से पवित्र मेरा गुण जो पहले यज्ञ प्रभृति समाधों में

१ सत्यभारथराय कविराज का पद्यानुवाद—

प्रयत्नित पुन युति सुन्दर महान
धति मनु मनोहर कलाधान ।
उदयो ह्य यह जगद्वैद्य धन्य
सिद्ध उदयान्त सौ बालकम् ॥

[मातलीमाचव २१०]

वेद-ध्वनि से प्रकाशित होता था वही मेरा कुल मेरे मरण-काल में भीष यजुषों के द्वारा निम्ननीय कर्मों से जोड़कर बोधित किया जा रहा है।

धीरोदास

महासत्त्वोऽस्तिगम्भीर क्षमावानविकल्पनः ॥४॥

स्थिरो निगूढार्हकारो धीरोदातो दृढव्रतः ।

धीरोदास नायक महापराक्रमशाली, अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान्, प्रबल प्रशंसा स्वयं न करनेवाला स्थिर, अत्यन्त अहंकारवाला दृढव्रती यदि कुछों से युक्त होता है ॥४॥

जिसका अन्तःकरण शोक बोध आदि से पराजित (बनता) नहीं होता उसे महापराक्रमशाली (महासत्त्व) कहते हैं। जिसके कार्य विनय और ममता से युक्त हुआ करते हैं उसे अत्यन्त अहंकारवाला कहा जाता है। दृढव्रत कहने का भाव यह है कि वह जिस कार्य में हाथ डाल देता है उसका अन्त तक निर्वाह करता है।

धीरोदास नायक का उदाहरण 'नामानन्द नाम की नाटिका में— (जोबमुत्तबाहन मक्क को सम्बोधित करके कहते हैं—) हे मक्क मेरे सरीर में अभी मौत विद्यमान है क्योंकि कमनियों में रक्त का संचार र्यों-का-र्यों पूर्ववत् ही है और आज अभी तृप्त नहीं हो पा रहे हैं। फिर ऐसी कौनसी बात या उपस्थित हुई है जिसके कारण तुम मौत भक्षण से विरत हो गए हो ?" और जी—(रामचन्द्र के बारे में कोई कह रहा है कि) "जब रघुकुलतिमक राम की राग्याभियन्त्र के लिए बुलाया गया तब और जब पिता द्वारा जीवह बर्ष का वनवास सुनाया गया तब इन दोनों संवादों के सुनने के समय उनके मुख पर क्या भी प्रसन्नता या दुःख के चिह्न नहीं दिखाई दिए।"

वहसे मैत्रा के सामान्य सुचों में जिन सुचों को विनाया गया। उनमें के कई-एक विशेष मैत्रों में भी था गए हैं। विषय भदों में इन

पुनः गिनाए जाने का भाव यही है कि इन युवों की धनिकता विशेष भेदों में आवश्यक है।

शास्त्रार्थ

पुर्वपक्ष—नागार्जुन के नायक भीमूतबाहुन को वीरोद्यात नायक क्यों माना जाता है ? वीरोद्यात का अर्थ सर्वोत्कृष्टत्व होता है जोकि विजय की इच्छा रखने वाले विजेता में ही पैदा होता है और रहता है। नागार्जुन में कवि ने भीमूतबाहुन को विजय की इच्छा से पराहमुख्य वृत्ति वाले कायर की तरह चित्रित किया है। अतः भीमूतबाहुन को वीरोद्यात नायक मानना ठीक नहीं है जैसे भीमूतबाहुन सोच रहे हैं—

पिताजी के सामने जमीन पर सड़े रहने में जो धान्य जाता है वैसा धान्य भसा कहीं सिंहासन पर आकर होने पर मिस सकता है ? [अर्थात् कभी नहीं मिस सकता] पिताजी की सुसुपा करते समय उनके परनों को बसाने में जिस धान्य की प्राप्ति होती है वह भसा राज्य से कहीं मिस सकती है ? उनके जूटल जाने में जो सतोष मिसता है उसके सामने तैनों ओकों का भोग किस गणना में ? अतः पिताजी से स्वयं इस राज्य का संभालन केवल आशास मान ही है। और भी—“पिताजी की सेवा करने के लिए मैं अपने बस-परम्परागत राज्य को छोड़कर जमीन बन जा रहा हूँ। इत्यादि बातों से भीमूतबाहुन वीरोद्यात नहीं अर्थात् वीरोद्यात नायक ठहरते हैं क्योंकि उनके अन्दर परम कारुणिकता और धर्म की प्रधानता कीज पड़ती है।

इस नाटिका के रचयिता ने भीमूतबाहुन को वीरोद्यात नायक चित्रित करते हुए एक बहुत बड़ा दोष जा दिया है वह यह है कि इस प्रकार के राज्य-मुख्य धारि की अभिलाषा न रखने वाले शासक-वृत्ति नायक के साथ बीच-बीच में मलयवती का माधुर्य से भरा हुआ अनुपम चित्रण प्रस्तुत करना। नाटिका में इस प्रकार के वीरोद्यात नायक के साथ मलयवती के अनुपम का वर्णन समुचित है।

पहले बताया गया है कि बीरघाँठ नायक ब्राह्मण वैश्य और मनी ही हो सकते हैं, क्षत्रिय या राजा नहीं। यह भी बताना ठीक नहीं है। किसी बीर की परिमाणा बना देने मात्र से वास्तविकता में शीख नहीं मूँदी जा सकती।

यह बात बिजयसुत ही समत है कि राजा और क्षत्रिय होने से कोई बीरघाँठ नहीं हो सकता। इसलिए कुछ युधिष्ठिर भीमूतबाहुन प्राणि का व्यवहार बन्धुता घाँतता वो ही प्रकट करता है यत इनको बीर शान मानना हो युक्तिरूपत है बीरोदात्त मानना नहीं।

उत्तर पक्ष—बीरघाँठ की परिमाणा सुबोद्धिष्ट हुआ बताकर यह जो कहा गया कि उसका मक्षण भीमूतबाहुन में नहीं जाता है तो ठीक नहीं है। विजय की इच्छा केवल एक ही प्रकार की नहीं होती। उसका अनेक भेद हात है। केवल शत्रु का जीतकर उसके जन धारि का ग्रहण करने वाला ही विजेता नहीं कहा जाता। क्योंकि केवल इस प्रकार क ही व्यक्ति को विजेता कहें तब तो इस प्रकार से सहित मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति भी विजेता कहा जान लयेगा। इसलिए विजिगीषु (विजयेच्छु) का यह मक्षण करना उचित है कि जो अपने शौर्य धारि किसी मुन से सबका अनिश्चय करके सर्वोद्दृष्ट हा उसे विजिगीषु या विजेता कहते हैं।

मर्यादापुण्यात्तम राम न रावण पर चढ़ाई की और विजय प्राप्त करने पर उन्हें ब्रह्म धारि तथा मय की प्राप्ति हुई। यत “देवकेनप्रका रेण शत्रु को परास्त कर जन प्राप्त कर लेना ही विजिगीषुता है” यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि राम न रावण पर जो चढ़ाई की और युद्ध में परास्त कर उसका धन लिया इसका मुख्य उद्देश्य विजय की रक्षा के लिए दुष्ट का दण्ड देना रहा। इसी हेतु के दम काय में प्रवृत्त हुए थे। युद्ध में विजय प्राप्त करने पर जो भूमि धारि की प्राप्ति हुई वह तो बिना किसी विघ्न-बाधा और बिना किसी प्रयत्न के यों ही मिल गई। भूमि धारि की प्राप्ति के लिए वे युद्ध में प्रवृत्त कदापि नहीं हुए थे।

प्रवृत्त शर्म में जीमूतबाहुन अपने प्राचीं तप से कुमरे के उदकार में

सम जाने के कारण बिन्दु का अतिग्रन्थ कर जाते हैं। यत वे सर्वोत्कृष्ट उदात्त गुण वाले हैं।

“विष्टम् भाति पितु पुरो भुवि यथा” “पिताजी के सामने खनीज पर खड़े रहने से जो प्रान्ध प्राता है वह सिंहासन पर प्राचीन रहने में कहीं? इत्यादि उदाहरण में विषयपराङ्मुखता देकर भीमूतबाह्य पर जो कायरता का आरोप किया जाता है तो ठीक नहीं है क्योंकि कुपकता और कायरता का कारण जो गुण की प्राप्ति रूप तृप्ता है उसके लटपट रहना उसकी इच्छा न रचना ही यद्यपि विविधीयुता की पहचान है।

विशेषता (विविधीयु) कहे हुआ करते हैं और उनका कार्य किस प्रकार का हुआ करता है इसके बारे में बताया भी गया है—

“विविधीयु मुख्य अपनी बुद्ध की अभिसारा न रखते हुए दूसरे के उपकार के लिए ही कष्ट सहते रहते हैं। [अथवा यों कह सकते हैं कि उनकी प्रतिदिन की विनम्रता ही इस प्रकार की रहती है।] बुद्ध अपने लिए पर सूर्य के तीव्र संताप को सहते हुए भी भूय-किरणों से संतप्त धर्म्य बन्ध के परिताप को जो पृथ्वी छाया का आश्रय करते हैं, निदधय ही पाँव करता रहता है।” इत्यादि उदाहरणों से विविधीयुता कितने कहते हैं वह बात साफ हो जाती है।

घात विरोधी रस का आश्रय करके रहनेवाला मत्तवर्ती का अनुपपन्न नायक में घातता का अभाव ही बतलाता है। घात का अर्थ होता है अहंकार का न रहना जो कि ब्राह्मण धारि के ही अन्तर पर्याप्त होता है। लक्षण में झूठमूठ की अवास्तविक बातें नहीं हैं बल्कि ब्राह्मण स्वभाव से ही अहंकाररहित होता है ऐसी वस्तुनिष्ठता है। बुद्ध और भीमूतबाह्य में एक ही ऐसी कायस्थिता के रहने हुए भी लक्ष्य और निष्काम होने से आपस में भेद है। यत भीमूतबाह्य को बीरो-राज नायक मानना ही सर्वथा उचित है।

अपमात्स्यभूमिष्ठो मामाध्वजपराधण ॥५॥

धीरोद्धतस्त्वहंकारी बलवज्रण्डो विकटवज्र ।

धीरोद्धत नायक—इसके अन्तर मात्स्य की प्रभुरता रहती है। माया धीर छद्म में रत रहता है। अहंकारी अंजन छोपी तथा अपनी प्रशंसा करनेवाला होता है ॥५॥

धीर्य (पराक्रम) धारि के मर को बप कहते हैं। दूसरे के पराक्रम धारि असह्यता को मात्स्य कहते हैं। मज्ज की सामर्थ्य से अविद्यमान वस्तु के अकाशन को माया कहते हैं। बचना मान को छद्म कहते हैं। बल का अर्थ है अस्विगता धीर अंजनता। जैसे परशुरामजी की उक्ति 'मैनासोद्धार' धारि। धीर जैसे राजन का यह कथन—'मैनास्य के ऐश्वर्य की लक्ष्मी को धारण करनेवाली भुजाओं वाला मैं' धारि।

जैसे बड़का वाक्मकाम में काम युवाकाम में वयम और वसती के समय में महोत्त कहलाता है। अर्थात् एक ही बल तीन अवस्थामों में क्रमशः परिणत होता है। जैसे ही अपने अपने गुणों से युक्त धीरोद्धत धारि अवस्थाओं में एक ही व्यक्ति में आ सकती है। इनकी स्थिति ब्राह्मण धारि जाति की तरह नहीं है। अगर जाति धारि की तरह इनकी स्थिति मानेंगे तो फिर महाकवियों के प्रबन्धों में धीरललित धीरोद्धत इत्यादि विरुद्ध अनेक कर्तों का प्रतिपादन सम्भव हो जाएगा क्योंकि जाति तो नष्ट होने वाली वस्तु है नहीं। वह तो अपरिवर्तनशील वस्तु है। महाकवि प्रबन्धों में भी तो एक ही परशुराम को 'राजन के प्रति लक्ष्य भेजत हुए—“आई, ब्राह्मणों का प्रतिज्वलन नहीं करोये तो तुम्हारा ही भला होगा और यदि ऐसा नहीं किया तो फिर भिन्न परशुराम से तुम्हारी भनबन हो जाएगी।” इत्यादि से राजन के प्रति धीरोद्धत रूप में धीर फिर धारि बनकर 'मैनासोद्धार' धारि के द्वारा बहम धीरोद्धत के रूप में तथा फिर "ब्राह्मण जाति लक्ष्य ही विजित होती है इत्यादि के द्वारा धीरोद्धत रूप में चित्रित किया है।

प्रश्न—क्या नायक में अवस्थांतर का जाना उचित है ?

उत्तर—प्रधान नायक को छोड़कर उसका भ्रातृभूत नायक तथा प्रतिनायकों में एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का होना अनुचित नहीं है। क्योंकि भ्रातृभूत नायकों में प्रधान नायक की तरह महापराक्रम आदि की कोई बात व्यवस्था नहीं है।

किसी एक प्रसंग में प्रधान नायक राम आदि में पूर्व-वर्णित चार अवस्थाओं में से किसी एक को लेकर कुछ दूर चलने के बाद दूसरी अवस्था का ग्रहण अनुचित है। रसकारों ने इस प्रकार का अनुचित निन्दनीय कर्म किया है। उदाहरणार्थ राम को चारोबात नायक के रूप में ग्रहण करके भी बासि का छिड़कर बय करके उन्ह बीरोदात नायक के पद पर भी प्रतिष्ठित किया गया है। छिड़कर बय करने से महापराक्रम का प्रभाव व्यक्त हो जाता है धीर मात्सर्य की प्रधानता भाजाती है जोकि बीरोदात नायक का प्रधान गुण हुआ करता है।

आगे शृंगारिक चेट्याओं को ध्यान में रखकर नायक की वक्षिण आदि चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। इनमें एक के बाद दूसरी का जाना अनुचित नहीं माना जाता क्योंकि ये अवस्थाएँ शायद सापेक्ष रहती हैं। उदाहरणार्थ पहली नायिका की अपभ्रातृसुती नायिका में नायक के चित्त के बिन्न जाने से एक अवस्था का दूसरी के प्रति सापेक्ष होने से जिस अवस्था को ग्रहण किया गया उसको छोड़ भी गिरा जाए तो कोई हर्ज नहीं है क्योंकि वे आपस में अन्वयि भाव सम्बन्ध रहने से एक-दूसरे की विरोधी नहीं हो सकती अतः इनमें कोई विराज नहीं है।

स वक्षिण्य धाठो वृष्टं पूर्वा प्रत्यग्यया हृत ॥६॥

पहली नायिका के रहते दूसरी नायिका के प्रति नायक के चित्त के बिन्न जाने से उसकी वक्षिण्य अठ वृष्ट ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं और आगे बताए जाने वाली एक अवस्था भिन्न को लेकर पुनः सरया चार हो जाती है ॥६॥

नायक की पहले चार बीरमयित्री बीरदात बीरोदात बीरोदात

य चार घण्टाएँ बटाई गई है। इनमें से प्रत्येक दक्षिण घण्टा घुट्ट और समकूल इन बलों से चार-चार प्रकार की होती हैं। इस प्रकार से नायकों की कुल संख्या १६ होती है।

दक्षिणोत्पत्त्या सहस्रवयः

दक्षिणनायक—जो पहली धर्मार्थ मिठी नायिका में हृदय के साथ व्यवहार करे उसे दक्षिण कहते हैं।

जैसे मेरा ही पद्य—(कोई नायिका अपनी मन्त्री से कहती है कि) हे कलि एक मेरा परिचित व्यक्ति है। वह प्रायः बड़े विश्वास के साथ मुझसे कहता है कि तेरा प्रियतम का प्रेम किन्हीं दूसरी नायिका में आबूझा गया है। पर उसकी बातों पर मुझे विश्वास नहीं होता क्योंकि मैं दयनी हूँ कि जब वह (मेरा पति) मुझे देखता है तो प्रसन्न हो जाता है। उसका मेरे प्रति प्रेम भी बढ़ता ही हुआ तथा प्रतिदिन की रतिश्रद्धा में अपूर्ण ही विषय के साथ भिन्ना हुआ बीज पड़ता है। इन सब बातों से उसके विषय में संशय करने की कोई बात ही नहीं बीज पड़ती है।

अथवा जैसे दूसरा यह पद्य—(कोई नायिका अपनी मन्त्री से कहती है कि) हे मणि ज्विष्ठ तू मेरे लिए यही है कि मैं अपने प्रियतम से स्नेह का भाव तोड़ नू बनाकि उसकी ऐसी घनेक हरकतें बख चुकी। यद्यपि मैनीस जी अपनी प्यारी प्रियतमा (अपने ही का कहती है) के सेवा गत्कार में कोई कमर नहीं उठा सकते हैं बल्कि वहन से (दूसरी नायिका के प्रेम-सूत्र में बँबल के पड़ते हैं) भी अधिक आदुकाष्टि करन है पर ठाटीक यह है कि वह कबल ऊपर में दितभावा-मात्र ही पड़ता है।

गुह्यविप्रियकृच्छ्रः ।

गुह्यनायक—जिसे डप से जो दूसरी नायिका से प्रेम-व्यवहार जाता है उसे गुह्य कहते हैं।

जम—(गुह्य) नायक जब अपनी पुरी नायिका के साथ प्रेम-व्यापार में प्रवृत्त या जाने ही में उनके जान में (अन्य नायिका की) करपनी की

मणियों की भजनाद्वाहट पड़ी फिर गया था—वाक्यानिगम में प्रवृत्त उसकी मुवाझों का बन्धन बीसा हो गया। भुज-धन्वि के पिहित हो जाने से नायिका साह गई कि हमरत दूसरे में घातकत है घट प्रभुप्ति हो बीछी। अब नायक का माया ठनका और के घटकी सखी के पास मनाने के लिए प्रार्थना करने लगे गए। उनकी बातों को सुन सखी बोली—देखने में भी-नबु की तरह सवा परिणाम में भिन्न का काम देने वाली वादकारितामुक्त बातों से क्या लाभ ? तुम्हारे इस प्रकार के विवेचे बचनों से मेरी सखी के सिर में चक्कर घाने लगा ॥ अब देखी इन बातों में किसी को ठनिक भी बिस्वास नहीं है।

व्यक्ताङ्गत्वकृतो धृष्टो

बुड्ढनायक—जिस नायक के सरीर में बिकार^१ स्पष्ट ललित होता है उसे वृष्ट कहते हैं। जैसे 'मनस्सक' में—कोई नायक रात-भर पर नायिका से रमन करने के बाद प्रातःकाल जब अपनी पत्नी नायिका के पास आया तो उस हरिवासी ने नायक के लबाट में महाभर, बसे में बिचावठ के बिहू मुल पर काजस की कामिया नेत्रों में ताम्बूल की लताई आदि बिहूनों को बेल प्रकोप से उन्मत्त उन्मत्तों को अपने हाथों के लीलाकर्मन के भीतर समाप्त कर दिया।

अब इन तीन भेदों को बताकर जीवा भेद बताते हैं—

अनुकूलस्वैकभायिक ॥७३॥

अनुकूल नायक—केवल एक ही नायिका में जो घातकत रहे उसे अनुकूल कहते हैं। जैसे 'उत्तररामचरित' में राम की कृति— जो मुल और बुद्ध में एक रूप है और सभी अवस्थाओं में अनुकूल ॥ जिसमें हृदय का बिस्वास है, जिसमें प्रीति बुझाये से भी नहीं हटती कोई बिचाह से लेकर मरत्य-पर्यन्त, परिपक्व और उत्कृष्ट प्रेम में अवस्थित रहता है। वाग्यस्य का बहु कम्पातुलय प्रेम बड़े पुण्य से पाया जाता है ॥७॥

१ बिकार—अन्य नायिका के साथ किए लीलाय आदि के बिहू ।

प्रश्न—‘रत्नावली’ आदि नाटिकाओं में वर्णित बत्सराम आदि किस व्यवस्था के नायक हैं ?

उत्तर—वहसे केवल एक ही नायिका के रहने से अनुकूल और बाद में दूसरी नायिका के आ जाने से दक्षिण व्यवस्था के हैं ।

प्रश्न—वहमी नायिका वासवदत्ता से छिपकर अन्य नायिका रत्नावली के साथ बत्सराम का प्रेम-व्यापार चलाता है अतः छठ तथा रत्नावली के प्रेम को जब वासवदत्ता स्पष्ट देख लेती है तो बृष्ट नायक को इन दोनों व्यवस्थाओं से मुक्त क्यों न माना जाए ?

उत्तर—प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त विप्रकारित्व के रहते हुए भी बत्सराम आदि का वहमी नायिका वासवदत्ता आदि के साथ बहुदमता के साथ व्यवहार होता है अतः वे दक्षिण हैं ।

प्रश्न—दक्षिण की ही हुई परिभाषा के अनुसार तो किसी का दक्षिण होना सम्भव-व्याप्य है क्योंकि वही हुई परिभाषा के अनुसार नई नायिका के प्रेम में वासवदत्त रहते हुए भी वहमी नायिका के साथ उसका वर्तन पहले ही के समान होना चाहिए । पर ऐसा होना सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि दो नायिकाओं में समान प्रेम नहीं रह सकता ?

उत्तर—दो नायिकाओं में समान प्रीति हो सकती है । इसमें कोई विरोध नहीं है । महाकवियों के प्रबन्ध इस बात के साक्षी हैं—

(“कोई कंचुकी कह रहा है कि) जब मैंने महाराज से यह निवेदन किया कि महाराज कुन्तलेखर की कुहिता स्नान करके तैयार हैं, आज धन देस के राजा की लड़की की भी पारी है रानी कमला ने भी पूरे में आज की रात को बीत लिया है इसके अलावा आज महारानी को भी प्रसन्न करना आवश्यक ही है ऐसी मेरी बातों को सुनकर महाराज हो-हीन बड़ी तक किरतव्यविमूढ़ हो स्तब्ध-ये रह गए ।” इसके अलावा आचार्य भरत ने भी कहा है—

‘उत्तम नायक मन्त्र स्वभाव का तथा रक्षणी होता है । किसी वस्तु में उसकी विरोध प्रामाणिक नहीं होती । वह काम के भी बलीमत

नहीं होता और स्त्री द्वारा अपमानित होने पर उसकी प्रभुति वैराग्य की तरफ हो जाती है ।”

आचार्य भरत मुनि के “किमी वस्तु में उसकी विशेष प्राप्ति नहीं होती वह काम के भी बन्धीभूत नहीं होता” इत्यादि कथनों से दक्षिण भाषक का किसी एक नायक में अधिक प्रेम होने का निपट हो जाता है अतः बरसराज आदि का प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त दक्षिण भाषक का ही प्रतिपादन होता है ।

ऊपर नायक के १६ भेद बतला चुके हैं । फिर इनमें के प्रत्येक के उपेक्ष, मध्यम और प्रथम य तीन-तीन भेद होते हैं और इस प्रकार से नायक के कुल ४८ भेद हुए ।

अब नायक के सहायकों को बतलाते हैं—

पताकानायकस्त्वन्य पीठमर्हो विचक्षणः ।

तस्यबानुचरो भक्तः किञ्चिद्भूतश्च तद्गुरुः ॥८॥

प्रधान नायक की ज्येष्ठा पताका का नायक अन्य व्यक्ति होता है जिसको पीठमर्ह कहते हैं । यह विचक्षण होता है और प्रधान नायक का अनुचर, उसका भक्त तथा उससे कुछ ही कम गुणवाला रहता है ॥ ८ ॥

पहले बताया जा चुका है कि प्रासंगिक कथा के पताका और प्रकटी को भेद होते हैं । उसी बताए हुए पताका के नायक की संज्ञा पीठमर्ह है । पीठमर्ह प्रधान कथानायक का सहायक हुआ करता है जैसे मानवी भाषक नामक प्रकरण में शंकराचार्य और रामायण में सुग्रीव । अब नायक के अन्य सहायकों को बताते हैं—

नायक के सहायक बिट और विदूषक हुआ करते हैं । बिट एक विद्या का पण्डित होता है । हँसान वाले पात्र को विदूषक कहते हैं ।

एकविंशो बिटश्चाभ्यो हास्यकृत्स्न विदूषकः ।

नायक के उपयोग में आनेवाली बीस आदि विद्याओं में से जो किसी

एक निष्ठा का दाता होता है उसे बिट कहते हैं। नायक के हँसाने के प्रयत्न करने वाले को निरूपक कहते हैं।

यह अपनी भावृत्ति और निवृत्ति (विचित्र-विचित्र वेदमूपा मोम नाम प्रादि) के द्वारा हँसाने का प्रयत्न करता है। 'नागानन्द' नाटिका में देखकर बिट है। निरूपक के उदाहरण की कार्य प्रावण्यकता नहीं है क्योंकि वह प्राक् हरेक रूप में पाता है। अतः प्रसिद्ध है।

प्रथम प्रतिनायक का सल्लस देते हैं—

सुख्यो धीरोद्धतः स्तम्भः पापकृद्भयसमी रिपुः ॥६॥

प्रतिनायक—यह सुख्य धीरोद्धतः स्तम्भः पाप करनेवाला तथा भयनी और नायक का शत्रु हुआ करता है। उसका उदाहरण राम (नायक) का रावण और युधिष्ठिर (नायक) का दुर्योधन है ॥ ६ ॥

इसके बाद नायक के सात्त्विक गुणों को बताते हैं—

शोभा बिभासो माधुर्यं वाग्भीर्यं चैव तेजः सत्त्वितः ।

सन्निहोर्वायमिह्यष्टौ सत्त्वव्याः पौरुषा गुणाः ॥१०॥

शोभा बिभास, माधुर्य, वाग्भीर्य, स्वर्ग्य तेजः सत्त्वित, पौरुष ये आठ नायक के सात्त्विक गुण हैं ॥ १ ॥

नीचे पुरुणाधिके स्वर्गा शोभायां शौर्यवक्षतः ।

शोभा—नीच के प्रति पुरुणा अधिक गुणवाने के साथ स्वर्गा, शौर्य धोभा शौर्य-वक्षत इनको शोभा कहते हैं।

नीच के प्रति पुरुणा जैसे 'महावीरचरित' में—

"ताड़का के भर्त्सक उच्छल-ध्रुव प्रादि उत्पत्तों के होने पर उसके मारन के लिए निरुक्त रामचन्द्र तमिः जी अवधीत न हो सके।

अधिक मुक्तवाने के साथ स्वर्गा का उदाहरण—

"हिमालय के उस प्रदेश में जहाँ शिवजी पीर धरुन का युद्ध हुआ था मैं महाराज के साथ गया और उनको बताया कि महाराज यह शान्ति दिप्याई देनवाली नहीं भूमि है जहाँ बिनात वेदपट्टी भयवान्

छंकर के मस्तक पर धर्म ने प्रक्षुब्ध होकर मेघ के साथ धमने बाधों का प्रहार किया था। येरे इस कथन के ध्वज-मात्र से ही महारज अपनी दोनों भुजाओं को भीरे-भीरे बुझाने लगे।

शौर्यसोमा का उदाहरण जैसे मेरा ही पद्य—रघुत्वंस ने बावत भीर योद्धा का वर्णन—“बहु इतना बावत हो गया है कि उसका शरीर ज्यों से भर गया है धरत जूने हुए हैं उत्साह के कारण उत्पन्न रोगांश ही कवच का काम कर रहे हैं बाहर निकली हुई प्रंत द्वियों ने उसके पैर को बाँध रखा है जिससे पैर को घावे बढ़ाने में असमर्थ है, इतने पर भी जब होस में आता है ता लड़ने के लिए घावे बढ़ता है उसके ऐसे कर्मों से उसके पद्य के बावतों में उत्साह तथा धनु-मन्त्री योद्धाओं में उत्तर्जन पैदा हो रहा है। इस प्रकार ध्यानकर रज कपी अग्ने के लिए पताका के समूह सुधोमित होने वाला जबभी का नाम वह भीर वज्र ही है।

बलसोमा का उदाहरण जैसे ‘महावीरचरित’ के इस पद्य में—

“यम ने सहस्र ज्यों से भी कठोर तथा विपुलामुर का बल करने वाले छंकर के उस अनुप को जिसने कि देव-सेव से काटती गुरता का प्राप्त कर लिया था अट से उठाकर जैसे ही छोड़ जाता जैसे पर्वत-शृंग पर लड़ा तीव्र क्षत्तिरम्यन्त पक्षपातक अपनी भुजाओं से बुझों को छोड़ जाता है।”

यति-सर्वेयां हृष्टिष्व विभासे सस्मितं बज्र ॥११॥

बिलास—बिलास में नायक की यति भीर वृष्टि में भीरता रहती है तथा उसका बज्र मुसकराहट लिए होता है ॥ ११ ॥

जैसे—“इस बालक की जान भीर विलम्ब क्या ही सुरता से मरी हुई है ! जब वह बैलता है तो ऐसा लगता है मानो विष्णु के सारे पराक्रम को इसने सूक्ष्मत् कर दिया है और जब वह अस्त्ररूपन लिए हुए भीरता के साथ चलता है तो ऐसा लगता है मानो पृथ्वी भींचे बँटी या रही है। यद्यपि अभी यह छोटा ही है पर सर्वत के तमान

गुस्सा के कारण करने के कारण ऐसा समझा है मानों साक्षात् भीर रस हो ममता रस का प्रतिमान रूप हो ।”

अतद्वरुणो विकारो माधुर्यं संकोभे सुमहत्त्वमि ।

माधुर्य—महान् संकोभ रहते हुए भी अर्थात् महान् विकार पैदा करने वाले कारणों के रहते भी मधुर विकार होने का नाम माधुर्य है ।

‘मर्वाबापुष्योत्तम राम हास्य लिये हुए प्रसन्नतावश रोमाञ्चित अपने मुखमस को हाथी के बच्चे के हाँथ की छोभा को चुराने वाले चीता के स्वच्छ कपोलों में बार-बार रेश रहे हैं । साथ ही पक्षियों की घेना की कसकस आदि को चुनते हुए अपनी जटाओं की पाँठ को कस रहे हैं ।

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलभ्यते ॥१२॥

गाम्भीर्य—जिसके प्रभाव से विकार उत्पन्न न हो उसके उसे गाम्भीर्य कहते हैं ॥१२॥

माधुर्य और गाम्भीर्य में अन्तर यह है कि एक (माधुर्य) में मधुरता से युक्त विकार सम्मिलित होता है दूसरे (गाम्भीर्य) में विमिश्रित बिखार नहीं पड़ता । जैसे—आहूतस्याभियेकाय इसका अर्थ पहले था चुका है (१ १४७) ।

अवसायाद्वचनं स्वर्यं विष्णुकुलावपि ।

स्वर्य या स्थिरता—विष्णु-समूहों के रहते हुए भी अपने अक्षय्य म पट्टि बने रहने का नाम स्वर्य या स्थिरता है ।

जैसे ‘महावीरचरित’ में—आवक्षितं चरिष्यामि आदि ।

अधिक्षेपाद्यसहर्षं तेजः प्राप्तात्मयेष्वपि ॥१३॥

तेज—प्राप्त-संज्ञ के समुपस्थित रहते भी जो अपना को न हार सके उसे तेज कहते हैं ॥१३॥

जैसे—“इहाँ कुम्हड़ बतिया काठ गाहीं

जो तरजनी देखि मरि जाही ।”

गृहकाराकारयेष्टात्वं सहज समितं मृदु ।

नमित—गृहकार के प्रपुष्प स्वाभाविक और मनोहर चट्टा नमित कहते हैं ।

जैसे मेरे ही पत्र में—(कोई नायिका अपनी सती से बहती है कि हे सवि स्वाभाविक सुकुमारता और मनोहर सावध्य आदि तथा मन्त्री आम्नामित करने वाले अपने बिलामा व' द्वारा जो (कामदेव) मुझे उपदेश दिया करता है वह क्या मेरे ही समान मेरे प्रियपुत्र को भी विषम तारों से तापित नहीं करता होगा ?

प्रियोक्तव्याऽजीविताद्वात्मनोऽयम् सपुत्रग्रहः ॥१४॥

जीवाम—यह जो प्रकार का होता है । प्रियवचन के साथ जीवाम तब को दूसरे के लिए समर्पित कर देना कहना यह है । दूसरा सज्जन के आचार करने को कहते हैं ॥१४॥

प्रथम का उदाहरण नागानन्द का— 'विरामुर्ध्वं स्वन्दत एव रक्तम्' 'हे गडग मेरे शरीर में' आदि यह पद्य है ।

द्वितीय उदाहरण कुमारसम्भव का यह पद्य—मन्त्रविमर्शज के अपने घर पहुँचने पर हिमालय जनसे बोले— 'वहाँ आपकी आत्मापानन के लिए मैं आपके आगे लड़ा ही हूँ । ये मेरी स्त्रियाँ हैं और यह मेरी घर घर की प्यारी कन्या है इनमें से जिससे भी आपका काम बने उसे आजा दीजिए क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि विलसी भी बाह्य वस्तुएँ हैं वे तो आपकी सेवा के लिए तुच्छ ही हैं इसलिए उषका नाम लेते हुए भी मुझे हिचक हो रही है ।

नायिका

पुष्पकवित्त गुणों से युक्त नायिका तीन प्रकार की होती हैं—स्वोपा परबीया और सामाग्या ।

पूर्वकवित्त गुणों से युक्त कहने का भाव यही है कि पहले नामक
१ वैदिय पु० १४० ।

में रहने वाला जिन-जिन सामान्य गुणों को गिनाया है उनमें से कहीं तक हो सके उसका नायिका में रहना भी वाञ्छनीय है। विभाज करने पर नायिका तीन प्रकार की होती है—(१) स्वीया (घपनी) (२) परकीया (दूसरे की) (३) सामान्या (सबसाधारण की उपभोग्य) बरदा आदि।

स्वाभ्या साधारण्योति सद्गुणा नायिका त्रिधा ।

स्वीया—स्वीया (घपनी) नायिका के तीन भेद होते हैं—(१) मुग्धा (२) मध्या घोर (३) प्रगल्भा। शील घोर सरलता से मुक्त रहनेवाली नायिका को स्वीया कहते हैं। शील से मुक्त कहने का भाव यह है कि उसका चरित्र सुन्दर हो पठितता हो कुटिलता न हो तथा सज्जावली होने के साथ-साथ अपने पति के प्रसादन में निपुण हो।

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया धीसाज्जबादिषुक् ॥ १५ ॥

शीलवती नायिका जैसे—‘कुसुमायिका के यौवन घोर सावध्य के विभ्रम घोर विमास को तो देखो जो प्रियतम के प्रवास के घाम ही चमा जाता है और उनके घाव ही पा जाता है ॥१५॥

सरलता से मुक्त नायिका का उदाहरण जैसे—

“जो बिना कुछ ताबे-ममके सरल भाव से मोहापन लिये हुए हों जिसके चाम-कास घुमना-फिरना उठना-बैठना बोलना-बालना आदि बिना किसी बनावट के स्वाभाविक होते हैं ऐसी स्त्रियाँ माय्य बाना के ही पर में पाई जाती हैं।”

सज्जावली नायिका का उदाहरण जैसे—

जिमकी सज्जा ही पर्याप्त प्रसादन है जिसका घुमर को प्रसन्न करने को ही प्यास भगी रहती है ऐसी सुन्दर मुचसम्पन्न स्त्रियाँ भाग्यवानों के घर में ही पाई जाती हैं।”

स्वीया नायिका के भी मुग्धा मध्या घोर प्रगल्भा तीन भेद होते हैं।

मुग्धा मयवय कामा रतौ वामा मृदु कृषि ॥

मुग्धा का लक्षण—जिसके धरोर में तादृश्य का प्रवेश हो काम का

संसार भी होने सभा हो रतिकाल में भी जो प्रतिकूलता का प्रारण्य करती हो कदाचित् प्रशुचित हो तो भी उसका क्येन निठास लिए ही हो । ऐसी नायिका को मुग्धा कहते हैं ।

मुग्धा के भी कई भेद होते हैं—वयोमुग्धा काममुग्धा रतिकाल में प्रतिकूल प्रारण्यिणी मुदुकोपना ।

वयोमुग्धा का उदाहरण—

‘इक्ष्वा विस्तार को प्राप्त होनेवाला स्तनयन्त्रस मिथना ऊँचा होना चाहिए सभी उस उच्छ्रिता को प्राप्त नहीं कर पाया है बिबली भी रेखाएँ यद्यपि उद्ग्रासित हो गई हैं किन्तु उनके प्रारण्य सभी ऊँचाई-निचाई स्पष्ट नहीं हो पाई है । इसके मध्यभाग में विस्तृत झुरी रम की रोमावली बन गई है । इस प्रकार से इसके सुन्दर वय में वृद्ध और मोबन का संवटित रूप प्राप्त कर लिया है ।’

प्रववा जैसे मेरा यह पक्ष—

‘मध्यम-पर्यन्त रेखाकाल तथा मुग्धस को कसके बंधे हुए नायिका के दोनों स्तन उच्छ्रित होते हुए मानो कह रहे हैं कि मरी बुद्धि के लिए सीना (अती) अपर्याप्त है ।

काममुग्धा का उदाहरण जैसे—

‘उसकी दृष्टि बलसाई हुई रहती है बालकीर्ण में अब उसे कोई प्रारण्य नहीं मिलता । सुखिया जब कभी मृत्कारिक बातें करना प्रारम्भ करती है तो उसे मुग्ध के लिए अपने कामों को वह सावधान कर लेती है । पहले वह बिना किसी हिचक के पुरुष की ओर में बैठ जाती थी पर अब ऐसा नहीं करती । इस प्रकार की महीन नेष्टार्थों प्रादि है वह बाला मानो गई बचानी में लिपटी जा रही है ।

रतिकाल में अनुकूल प्रारण्य न करनेवाली मुग्धा, जैसे—

‘पार्वती इतनी लजाती थी कि सिधवी कुछ पूछते भी वे तो वे बोसती न थीं यदि वे इक्ष्वा धीनस नाम लेते वे तो वे उठकर भागने लगती थीं और साथ छोटे समय भी वे मुँह फेरकर सोती थीं । पर

सिक्खी को इन बातों में भी कम धामम्ह नहीं मिलता था ।

मृगुकोपना—मुपित होने पर जो घासानी से प्रसन्न की जाए—
‘पति के किसी बुरे आचरण को देख बाबा को पहले-पहल बड़ क्रोध
आया तो किस प्रकार से क्रोध को व्यक्त किया जाता ॥ इसके न जानने
से वह अपनी मुजाओं को झुकाकर पति की गोद में बाँध बैठ गई ।
इसके बाद उसके प्रियतम ने उसकी दुइड़ी को उठाकर, गिर रखे
हैं ऐसी अपनी रोती हुई प्रियतमा के अधु-विस्त मोष्ठों को भी
चूमा ।’

इस प्रकार से सज्जा तथा अनुपम से भरे हुए मृगु नायिका के
गौर भी व्यवहारों की कल्पना की जा सकती है । जैसे— ‘नायक गौर
नायिका दोनों ॥३॥ हुए हैं । सामने प्याले में पेय पदार्थ रखा है । नायक
का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा है । सज्जावती नायिका प्रियतम के प्रति
बिम्ब को अनुराग के साथ देख रही है । नायक उस पेय पदार्थ में कुछ
सुगन्धित पुष्प-रस आदि छोड़ना चाहता है, पर नायिका को भय है कि
भरर इसमें कुछ छोड़ा गया तो प्रियतम के प्रतिबिम्ब के देखने में बाधा आ
जाएगी । भय उसको पुष्प-रस आदि का छोड़ा जाना भी घसस है । भय
सार्विक भाव से रोमांचित वह न तो उस पेय पदार्थ को हाँ पीती है
घौर न बरतन को ही हिलाती है । घौर तो घौर वह अपनी निम्बाओं
को भी दबाकर इसलिए छोड़ती है कि कहीं पात्र में तरबों के आ जाने
से प्रियतम के प्रतिबिम्ब-दर्शन में बाधा न आ जाए । बस वह टकटकी
तनाकर प्रियतम के प्रतिबिम्ब का ही देख रही है ।’

मध्या

मम्योद्यसोवनामङ्गा मोहास्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

जबानी की सब आवगामों से मरी हुई और मूर्च्छा की अवस्था
पर्यन्त रति में सत्त्व रहने वाली नायिका को मध्या कहते हैं ॥१६॥

इसमें मोहनवती का सदाहरण जैसे— ‘उसके भूविनाश आदि

मे घालाव (बाधनीय) में कमी सा दी है। मस्ती से मुखाधों को बुझा-
कर उसका असमा बहुत ही चित्ताकर्षक होता है। उसके मिथुन का
मध्य नाम बोझा मिथुन हो गया है। नीची की गीठ बढ़ती जा रही है
उसके पादों में विकास और सीमे में कुछो का बहाव जारी है। इन
प्रकार मुगनयनी के यौवन की सामा को देखने से ऐसा लगता है
मानो कामदेव अपने वसुप के अग्रभाग से उसका स्पर्श कर रहा है।”

कामदेवी मध्या का उदाहरण लीते—

‘कामदेव कपी गई नदी के प्रवाह में बहुत हुए वे बोना (नायक
और नायिका) जिसके मनोरथ अभी पूरे नहीं हो पाए हैं। दुश्मनकपी
सेतु से मछपि रोक लिये गए हैं। फिर भी जिसके के समान एक-दूसरे
पर आकृष्ट हुए मध-कपी कपल के डण्डन से एक-दूसरे के रसस्वी बन
का पान कर रहे हैं।

मध्या-सम्भोगा का उदाहरण लीते—

‘महिलाओं के विभिन्न विलान आदि रति के समय में तभी तक
बसते रहते हैं जब तक नीलकण्ठ के समान स्वच्छ घामा बामे उनके
चेर बन्द नहीं हो जाते।”

इसी प्रकार इनकी बीरा अवीरा बीरा-अवीरा आदि प्रबन्धाधों
को भी समझना चाहिए।

अब इनके नायक के साथ होने वाले व्यवहार को बताते हैं—

वीरा सोलभासवज्जोक्त्वा मध्या साधु कृतागतम् ।

लेदयेहुमितं कोपावधीरा परयासरम् ॥ १७ ॥

मध्यावीरा हास्ययुक्त वक्ता उक्तियों से मध्यावीरावीरा प्राणुधों
सहित वक्ता उक्तियों से और मध्या अवीरा ओज के साथ कटुवचनों
द्वारा अपने अचराधी प्रियतम को फटकारती हैं ॥ १७ ॥

मध्या बीरा द्वारा हास्ययुक्त वक्ता उक्तियों से नायक का पटकारा
जाना—कोई अपराधी नायक अपनी प्रेयसी का प्रमत्त करन क मित
आत्मसंकीर्ति प्रवित करना चाहता है। नायिका उसको प्रत्नीकार करनी

हुई कहती है—‘इस दान के ग्रहण करने के योग्य हम लोग नहीं हैं (अर्थात् मैं नहीं हूँ)। तुम उसे ही ले जाकर इसे दो जो एकान्त में स्वयं अपने घरों का पान कराती थीर तुम्हारे घरों का पान किया करती है। बीरबीर का धीसुओं के साथ कक्रोचित द्वारा नामक को लौट उत्पन्न करना—‘अक्रुपित मामिका को नायक बना रहा है—कहता है ‘हे बाले’ उधर से उत्तर आता है ‘नाथ’। फिर नायक कहता है—‘हे मामिनी कोष छोड़ो’ उधर से उत्तर आता है—‘मैं कोष ही करके क्या कर लूँगी? फिर नायक कहता है—मेरा कोई अपराध नहीं है। उधर से उत्तर आता है—‘तुम आपसे कौन कहता है कि आपने अपराध किया है। घारे अपराध मेरे हैं। नायक पूछता है—‘यदि ऐसी ही बात है तो फिर मर्याद वाली से रो क्यों रहीं हो? उत्तर आता है—‘मैं किसके सामने रो रही हूँ? नायक बोलता है—‘मेरे सामने रो रही हो। उत्तर आता है—‘मैं आपकी कौन हूँ कि रोऊँगी? नायक कहता है—‘तुम मेरी प्रिय वमा हो। मामिका उत्तर बेती है—‘मैं आपकी नहीं हूँ इसी से तो रो रही हूँ’।

धीसुओं के साथ बीरबीर नामिका के कट्ट बचनों द्वारा नायक को फटकारना—

‘हे सति इसको जान दो जाने दो रोकन की भीर बाहर दिखान को क्या आवश्यकता? सति क उधर से कक्रोचित इस प्रियतम पापी को मैं देखना भी पसन्द नहीं करती।

इसी प्रकार के मय्या के व्यवहार सज्जा से अनादृत भीर स्वयं सुरत में प्रवृत्त न होने वाले होते हैं। जैसे—

‘नायक क प्रति आन्तरिक अनुराग के कारण मामिका के लीर में सार्विक भावों का संचार हो गया है उसके मुख पर पसीने की छोटी छोटी बुँदें झसकन लगी हैं। रोमांच हो आया है नायक के चित्रा भीर किसी के नहीं न रहने के कारण गुदमन का भय भी दूर हो गया है स्तनों पर कपड़े की का लीला भी बेबा हुआ है। मन में ऐसी प्रबल इच्छा

है कि नायक उसके केशों को पकड़कर धोरो के साथ सामिजन-रूपी प्रभु का पात कटाए, पर इतना होते हुए भी नायक नायिका द्वारा स्वयं पुरत में प्रभुत नहीं कटाया गया ।”

यहाँ पर नायिका ने स्वयं धास्तेप नहीं किया । इसके बारे में यह कहा गया है कि वह नायक द्वारा बसबोरी से निच नीचे बाटे हुए बना शेष रूपी प्रभुतपात की मानो खुश्या है । इस प्रकार से यहाँ उत्प्रेक्षा की प्रतीति होती है ।

यौवनान्या स्मरोन्मत्ता प्रयत्ना बधिताङ्गके ।

विस्तीर्णमानेवान्वाहृतारम्भेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

प्रारम्भ नायिका यौवन में अन्धी, रति में धम्मत्त कामकलाओं में निपुण रति के समय भागी नायक के अर्थों में ही प्रविष्ट हो जाती, इस प्रकार की इच्छा वाली तथा सुरतारम्भ में ही अलम्बविमोह हो बेहोश हो जाने वाली होती है । [इसके कई भेद होते हैं, नीचे उनका प्रकाशित किया जाता है] ॥१८॥

बद्धयौवना—‘प्रभुत बुनावस्था वाली उस नायिका के छाती पर के स्तन ऊँचे उठ आए हैं, नेत्र बड़े हो गए हैं, भौंहें खिंची हो गई हैं, बाँधी का क्या कहना उसमें तो धीर बहिष्मा [नाच नक़ारे आदि] आ गई है, कमर पतली तथा नितम्ब स्थूल हो गया है । यति भी मन्द हो गई है ।’

धीरे धीरे भी—‘इस सर्वाङ्गसुन्दरी को देख कोन ऐसा पुरुष होना जिसका भित्त विचलित न हो जाए, क्योंकि इसके स्तन-मण्डल बहुत ऊँचे हो गए हैं, कमर पतली हो गई है, धीरे बचन प्रवेश में स्थूलता आ गई है ।

बावप्रयत्ना का प्रकाश—कोई नायिका अपनी छड़ी से कहती है कि ‘बच मेरा प्रियतम मेरे पास आकर मजुर सम्भाषण करने समता है धनवा इतना भी काहे को उसको सामने बाटे दिखती हूँ इतन ही मात्र से मेरे लारे धन नेत्र हो जाते हैं धनवा कान इतना मुझे कुछ भी पता नहीं है ।’

रतप्रपन्ना का उदाहरण—“कोई मायिका अपनी सभी से कहती है कि प्रियतम के सेवा पर जाने के साथ ही मेरी नीचे की शक्ति अपने-प्राप जुग जाती है। निरन्तर पर करवनी में घटके हुए को छोड़ चारा का-सारा दस्त खरीर से प्रसंग हो जाता है। उनके बगों के सम्पर्क से खरीर में कंपकंपी आ जाती है इतने तक का तो मुझे ज्ञान रहता है पर इसके बाद कि कौन है” ‘मैं क्या हूँ’ ‘काम-अधिका किसे कहते हैं और कैसे किया जाता है’ आदि बातों का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।”

मन्त्रा की यन्त्रा से उन्मुक्त और विदग्ध से मुक्त इस प्रकार के प्रपन्ना के अर्थ व्यवहारों को भी समझना चाहिए।

जैसे—‘दीया पर बिछो हुई आदर मायिका की काम-सम्बन्धी अनेक अवस्थाओं को वह रही है क्योंकि उसका कोई माय ताम्बूल से माल हो गया है कोई भाग अमर के पक से मलिन हो गया है। कहीं पर कपूर के चूर्ण बिछाई दे रहे हैं तो कहीं पर महाकर समे पद-बिह्व ऐसे ही कहीं पर त्रिवली के बिह्व मलक रहे हैं तो कहीं पुष्प बिखरे मलर आ रहे हैं।

प्रपन्ना की कोप चेष्टा

सावहित्वावरोवास्ते रती धीरेतरा कृपा ।

सततं तदन्मया मय्याधीरेव त ववेत् ॥ १६ ॥

प्रपन्ना बीरा अपने श्रेय को छिपाकर ऊपर से आदर-सत्कार प्रदर्शित करती है पर मुरत से उदासीन बनी रहती है। प्रपन्ना बीरा धीरा की भाँति शोकपूर्ण बर्तनित से नायक को फटकारती है और प्रपन्ना अधीरा कुछ हीपर नायक को डराती-धमकाती तथा मारती भी है ॥१६॥

कोप छिपाकर आदर प्रदर्शित करने वाली धीरा प्रपन्ना, जैसे—
प्रियतम को दूर से घाते वेध छाड़ी हो एक घासन पर बैठने की स्थिति को उसने दूर कर दिया, ताम्बूल सामे आदि के बहाने से हटकर वेध के

साथ किए जाने वाला आतिथ्य में भी बाधा डाल थी। प्रियतम की सभा में परिजनों को नियुक्त करने के बहाने उसने बातचीत करने में भी आनाकानी कर ली। इस प्रकार उस चतुर नायिका ने अपनी चतुराई से उपचार आदि के बहाने नायक के प्रति उत्पन्न कोप को हटार्च कर दिया।”

रति में उदासीन रहने वाली नायिका जैसे—नायक अपने मित्र से कह रहा है कि उसकी आज की चेष्टाओं से ऐसा लगता है मानो उसने मेरे सारे दोषों की जानकारी प्राप्त कर ली है क्योंकि—“रति के प्रसंग में बस्त्रों को खोलते समय पहले वह कसड़ कर बैठती थी और केवल पहन के साथ काम में प्रवृत्त होने पर जब मैं उसके घबर क काटने की कोशिश करता था उस समय वह भीड़ें टेढ़ी कर काटने नहीं देती थी पर आज वह स्वयं अपने घबरों को खोल रही है। पहले जब मैं हठाल आतिथ्य में प्रवृत्त होता था तो वह उस समय प्रतिकूल ही आचरण करती थी पर आज तो वह स्वयं अपने धर्मों को समर्पित कर रही है। पता नहीं इसने काप करने का यह नया ढंग कहीं से सीख लिया है।”

इसके अलावा अवीराप्रणयना कुपित होने पर भय उत्पन्न करने के साथ-साथ मारती भी है। जैसे अमरकवचक में—

“प्रकुपित नायिका अपने कोमल चंचल बाहुकपी लटिका के पाश में पकड़ा से बांधकर नायक को अपने भीड़गृह से बसीटती हुई लक्षियों के सामने ले जाकर उसक भुव्यबहार-सूचक चिह्नों को बिला बिनाकर यह कहती हुई कि ‘फिर तो ऐसा नहीं करोये’ रोती हुई मार रही है और नायक उन चिह्नों को ढकने का यत्न करता हुआ हँस रहा है। (कवि कहता है कि) ऐसे अवस्थापन व्यक्ति का जीवन बर्ण्य है।”

वीरावीराप्रणयना मध्यावीरा के समान ही सहास वजोक्ति के द्वारा नायक से बोसती है। जैसे—

“अपने घेर पर बिरे हुए नायक से उसकी नायिका कहती है—
 “वसो एन वह दिन था जब हम दोनों में से कोई किसी पर माराज

होता तो भीहों का बड़ बनाना ही काय का सबसे बड़ा (परिणाम) होता मील ही बन्ध होता आपस में एक-दूसरे को सेपकर हूँस देना ही अनुग्रह और पुष्टिपात ही प्रसन्नता का कारण होता था पर देखो न वह प्रसन्नता इस दगा को पहुँच गया है कि तुम मेरे पैरो पर पड़े हो और मैं मान कर बीठी हूँ और गुम्हायी शायना पर भी गुरु अभामिनी का कोप सान्ध नहीं हो रहा है ।

उपेक्षा ज्येष्ठा कनिष्ठा चैत्यमुग्या द्वावशोबिता ।

मय्या और प्रसन्ना नायिकाओं के प्रत्येक भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद होते हैं । इस प्रकार मय्या और प्रसन्ना के कुल भेदों की सम्मिलित संख्या १२ होती है ।

मुग्धा के सब भेद नहीं हुने हैं वह एक ही रूप की रहती है ।

ज्येष्ठा और कनिष्ठा का 'उदाहरण प्रसन्नतरक' के एक ही ब्लोक में मिल जाता है— 'एक प्रामन पर बीठी हुई अपनी दोनों प्रेमिकाओं को दान बाँटा के बहाने पीछे स घाकर नायक एक की चीख मूँद कर अपने कपड़े का डरा भुमानर प्रस से उत्पन्नित मनवाली तथा प्रानन्द स विकसित मुग्धाली अपनी कुमरी नायिका को प्रसन्नता व नायक भूम रहा है ।'

नायिका के ज्येष्ठा और कनिष्ठा में भेद नायक के दालिष्य और प्रेम इन दोनों के कारण ही नहीं हाते अपितु केवल प्रेम के कारण भी हाते हैं । दालिष्य के कारण ज्येष्ठा कनिष्ठा व्यवहार नहीं होता है । जो नायक सहृदयता से ज्येष्ठा में प्राचरण करे वह दालिष्य कहलाता है । इसका यह भय कदापि नहीं है कि सहृदयता के नाथ जिसके साथ व्यवहार होता है वह ज्येष्ठा है । इस बात का दक्षिण की परिभाषा देते समय स्पष्ट कर दिया गया है ।

इस प्रकार से नायिका व (१) भीरमय्या (२) अवीरमय्या और (३) वीरावीर-मय्या (४) भीरप्रसन्ना (५) अवीरप्रसन्ना और (६) वीरावीरप्रसन्ना व ६ भए हुए । फिर इनके ज्येष्ठा और

कनिष्ठा बंद करके कुल १२ भेद हुए ।

‘रत्नावली’ नाटिका में वासवदत्ता और रत्नावली के बराबरन ओष्ठ-कनिष्ठा के हैं । इसी प्रकार महाकविओं के और प्रबन्धों में भी इस बात को समझ लेना चाहिए ।

परकीया नायिका

अम्यखी कर्मकोटा व नाम्मोटाङ्गिरसे ववचित् ॥ २० ॥

कम्मापुरापमिच्छात् कुर्मावङ्गाङ्गिसंभयम् ।

परकीया नायिका के दो भेद होते हैं—(१) कम्मा और (२) विवाहिता । विवाहिता को ऊजा तथा कम्मा को समुदा कहते हैं । प्रचलन रस के बचन में ऊजा नायिका का प्रेय-वर्णन वहीं भी छिप्त नहीं है । हाँ कम्मा के समुराम का वर्णन प्रचलन और अप्रचलन दोनों रसों में हो सकता है ॥ २० ॥

दूसरे वाक्य से सम्बन्ध रखने वाली ऊजा का वर्णन—नायिका अपनी पड़ोसिन से कह रही है—“हे बहन बोझी बेर के लिए बरा मेरे घर का भी जगल रखना क्योंकि मेरे इस लड़के का पिता अर्थात् मेरा पति इस कुर्प के स्वादरहित बन को प्राय नहीं पीता है । देखो बहन यद्यपि मैं एकाकिनी हूँ, और जिस तालाब का पानी मेने खा रहीं हूँ वहाँ तमाल के इतने धने बुरा है कि दिन में भी शम्भकार का साधाम्न रहता है । और भी विचित्र यह है कि वहाँ गरकट के ऐसे पुराने-युग्मने कुल लगे हुए हैं जिनमें लीची गांठें पड़ गई हैं । यत उनके नीचे से पानी निकलना कठारे से ज़ाही नहीं है और मुझे तो ज़ामा ही है बाहे जिन-जिन मुझीबतों का सामना करना पड़े ।”

इस प्रकार की ऊजा को प्रचलन सींगी रस का विषय कभी भी नहीं रखना चाहिए । इस बात को केवल संक्षेप में बताया गया है । कम्मा यद्यपि प्रविवाहित रहती है फिर भी पिता माता आदि के महीन रहने

मिथलना देती है ।

यह उसके स्वाभाविक रूप का वर्णन है ॥२९॥

किन्तु प्रहसन को छोड़कर अन्य रूपों में जात करके प्रकरण में बैस्या के वास्तविक प्रेम का ही वर्णन रहता है ।

जैसे 'मृच्छकटिक' प्रकरण में वसन्तसेना और वासुदेव का प्रेम ।

रक्तं च स्वप्रहसने नैवा दिव्यनुपायये ।

प्रहसन में नायिका (बैस्या) यदि नाटक में अनुरक्त न हो तो भी उसके प्रेम-व्यापार को दिखा सकते हैं क्योंकि प्रहसन की रचना और उसका अभिनय हास्य के लिए ही होता है । पर नाटकों में जहाँ बैवता राजा प्रादि नायक हों वहाँ नर यनिका की नायिका रूप में कदापि नहीं रचना चाहिए ।

अब नायिका के अरम भेदों को बताते हैं—

आसामनूयवस्था स्युः स्वाधीनपतिकामिका ॥ २३ ॥

इनकी स्वाधीनपतिका प्रादि आठ अवस्थाएँ होती हैं—

१ स्वाधीनपतिका २ वासकतज्जा ३ विरहोत्कण्ठिता ४ संदिता ५ कलहान्वरिता ६ विप्रसङ्गा ७ मोक्षितपतिका और ८ अनितारिका ॥२३॥

ये आठ स्त्रीया परकीया और साधव्या नायिका की अवस्थाएँ व्यवहार और वृत्ता-भेद के अनुसार होती हैं । पहले बताये हुए सोमह प्रकार के भेदों को बताकर फिर नायिका की आठ अवस्थाएँ बताई गई हैं । हमका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उन-उन अवस्थाओं से मुक्त नायिकाएँ इन-इन अवस्थाओं के भ्रम से भी मुक्त हुषा करती हैं । अवस्था-भेद बताने के समय किसी का उनके अनधिक ग्यून होने के सम्बन्ध में भ्रम न हो जाए, अतः स्पष्टीकरणार्थ आठ भिन्न बिधा ।

नायिका की ये आठों अवस्थाएँ एक-दूसरे से मिल्न हुषा करती हैं । उनका प्रापन में किसी के भीतर किसी का अन्तर्भाव नहीं हो सक्या

है। बासकसज्जा आदि को स्वाधीनपतिका के भीतर नहीं रख सकते क्योंकि स्वाधीनपतिका का पति तो पास में रहता है और बासकसज्जा का पास नहीं रहता।

जिस नायिका का पति घर आने वाला हो (बासकसज्जा) उसे यदि स्वाधीनपतिका माने तो प्रोपितप्रिया को भी स्वाधीनपतिका ही मानना पड़ जाएगा।

अपने पति के किसी भी प्रकार के अपराध के न जानने के कारण उसे लज्जिता भी नहीं कह सकते। रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त रहने के कारण उसे प्रोपितप्रिया भी नहीं कह सकते।

जो नायिका कामार्त्त हो पति के पास जाए जबका उसे अपने पास बुलाए, उसे अभिसारिका कहते हैं। जो इन दोनों के अभाव में वह अभिसारिका भी नहीं है। इस प्रकार से बिरहोत्कण्ठिता भी औरों से भिन्न है। पति के आने का समय बीत जाने से वह बासकसज्जा नहीं है। बिय सज्जा भी बासकसज्जा आदि से भिन्न ही है। बिप्रसज्जा का पति आने की प्रतिज्ञा करके भी नहीं आता। हमसे वह बासकसज्जा और बिरहोत्कण्ठिता से पृथक् ही हुई। कसहान्तरिता को भी यद्यपि अपने प्रियतम के अपराध की जानकारी रहती है फिर भी वह संहिता से भिन्न ही है। क्योंकि कसहान्तरिता अपने द्वारा की गई प्रियतम की सब हानि से बाद में स्वयं दुःखी होन लगती है जो बात संहिता में नहीं पाई जाती। इस प्रकार से ये पाठ नायिकाओं की अवस्थाएं स्पष्ट हैं।

आसन्नायस्तरमणा हृष्टा स्वाधीनमसुखा ।

१ स्वाधीनपतिका—जिस नायिका का पति पास रहता है और जो अपनी इच्छा के अनुसृत समस्त करती है तथा जो तथा प्रसन्न रहा करती है उसे स्वाधीनपतिका कहते हैं।

जैसे—“एक के प्रिय में समस्त कपोल पर मुहीन पुष्पमञ्जरी संकित कर बोधी। वह अपने प्रेम का यह विज्ञापन गर्व के साथ दिन्ना रही थी

रही हूँ क्योंकि राजि का जो समय उसने घाने के लिए तय किया था वह तो बीत गया पर न था सजा था वहीं से सब चला जाना ही ठीक है। अब इतन बड़े अपमान-सहन के बाद भी जो बीती सब जाए सब वह उसी का प्राणनाश होगा।

दूरदेष्टास्तरस्ये तु कायतं प्रोषितप्रिया ।

प्रोषितप्रिया—उसे कहते हैं जिसका पति किसी कार्यबल विवेक चला गया हो।

जैसे 'अमरसुतक' में—“कोई प्रवसी अपने प्रियतम की बात बोह रही थी। जहाँ तक शील वेष्ट सकती थी उसने वहाँ तक बंसा पर उसके प्रियतम की आहूट न मिल सकी। निदान खिन्न हो उठी क्योंकि पवित्रा का माना जाना भी बन्द हो चला था सम्झा हा आई थी विद्याओं में बीरे बीरे सम्भार का प्रसार हो रहा था। सो निराश हो उसन बा में प्रवेश पाने के लिए एक पैर बढ़ाया ही था कि उसके मन में यह बात आई कि प्रियतम कही जाता न हो फिर क्या था उसने अपनी गर्दन को झुमाकर देहना आग्न्य कर दिया।

कामार्ताभिसरेत् कामस्त सारयेद्भानिसारिका ॥ २७ ॥

अभिसारिका—काम से आर्त (व्याकुल) हो जो स्वयं प्रियतम से मिलने जाए अथवा उसे अपने पास बुलाए उसे अभिसारिका कहते हैं ॥ २७ ॥

जैसे 'अमरसुतक' में—

कोई नायिका दूती के साथ संकित जा रही है। उसके इस व्यवहार से दूती फटकारती हुई कहती है—“यह तुम्हारा मकर मुझे पसन्द नहीं आती भोली यदि तुम्हें इस स्तम्भ निशा में भी किसी के देखने का मन ही है तो फिर ममाङ्ग क्यों पीटती जा रही हो? देखो छाती पर तुमन चंचल हार पहन रखा है अवन के ऊपर कम-कम की धनि करने वाली काठ्थी बिराज रही है और पैरों में अङ्कार करने वाले

मधिनूपुर सुधोमिष्ट हो रहे हैं। अतः तैरे इस भावयुक्त देखने और सञ्चकित चलने आदि से क्या लाभ ?

जैसे और भी—“काई नायिका प्रियतम के अनिसरण कराने (बुलाने) के लिए दूती को भेज रही है और उससे कह रही है कि हे दूती उनके पास जाकर इस प्रकार से बतुराई के साथ मेरा संबोधन करना ताकि मरी लपुता भी व्यक्त न होत पाए, साथ ही उनके मन में मेरे प्रति कहना भी उत्पन्न हो जाए।”

चिन्तानिश्वासवेवाभुर्वेवर्ष्यग्लान्धनूपरय ।

मुक्ता पञ्चम्या हे वाद्ये क्षीयोज्ज्वल्यप्रहृषिते ॥ २८ ॥

इन उपर्युक्त अष्ट अवस्थावाली नायिकाओं में कुछ की दो अवस्था स्वाधीनपठिका और वासकस्तब्जा तथा प्रसन्न रहती हैं, तथा मृगशरिक कीड़ा आदि में लयी रहती हैं। ये इनको छोड़ देव प्र-चिन्ता निजवात केव अमु ग्लानि वेवर्ष्य आनुपचायाव आदि से मुक्त होती हैं ॥ २८ ॥

परकीया नायिका की वह बाहे छटा वा समुद्र इन अवस्थाओं में से केवल तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। देव प्रीति अवस्था इनकी नहीं होती क्योंकि ये पशुधीन होती हैं। परकीया नायिका संकेत स्थान पर चलने के पहले विरहोत्कण्ठिता रहती है, और बाद में विदूषक आदि के साथ अनिसरण करने से अनिसारिका तथा संकेतस्थल में ईबाए प्रियतम से यदि भेंट न हो सकी तो विप्रलम्भा हो जाती है। ‘मास विकान्निमिष’ नाटक में रानी के सामने राजा की परबधता देख मासविका कहती है—‘हाँ आज जो नहीं कर रहे हैं उम महाराज का चाहस उठ बिना बैठी इरावतीजी के आने पर मैं यही याँति देख चुकी हूँ।’

यह सुनकर राजा कहते हैं—“हे बिना के समान लाल-लाल ओंठों वाली ! प्रेमी सीप पों दिखाने के लिए समी से प्रेम करते हैं। जर है

बड़ी-बड़ी धातों वाली ! मरे प्राण तो तुम्हें ही पाने की भाषा पर नटके हुए हैं । खण्डिता नायिका का पति जैसी अनुनय-विनय करता है वह बात मही नहीं पाई जाती । यहाँ पर राजा का मासविका से इस प्रकार कहने का उद्देश्य है कि मासविका अपनी धनोपता के कारण राजा को हर तरह से रानी के अधीन समझ निरास न हो जाए, यत उसके धन्य र बिश्वास पैदा करना है ।

मासविका परकीया नायिका है यत वह खण्डिता नहीं हो सकती क्योंकि परकीया के सम्बन्ध से स्वकीया खण्डिता होती है ऐसा नियम है । स्वकीया के सम्बन्ध से परकीया खण्डिता नहीं होती । यहाँ तो राजा दक्षिण नायक है बिनाका पड़ोसी नायिका के साथ सहृदयतापूर्वक व्यवहार करना उचित ही है ।

इसी प्रकार प्रियतम के परवेश में होने पर भी परकीया प्रोदित पतिका नहीं होती । समायम के पूर्व देश का व्यवधान परकीया और नायक के बीच रखा ही करता है । इसलिए वह भिन्न के लिए उत्तुङ्ग विरहोत्कण्ठिता मान हो सकती है ।

नायिका ॥ कार्यों में सहायता पढ़ेवाने वाली वृत्तियाँ—

हूँसो बातों सखी काङ्क्षान्वितों प्रतिवेशिका ।

सिद्धिनी सिद्धिनी स्वयं मैतुमित्रगुणान्विता ॥ २६ ॥

हाली सखी जोधिन घर के काम-काज करने वाली नीकरान्विता, पड़ोसिन मित्रुणी, बिना प्राप्ति बनाने वाली सिद्धिनी प्राप्ति को नायक के सहायक मित्रों के समान गुरुवानी होती हैं, नायिका की वृत्तियाँ होती हैं ॥ २६ ॥

नायिका अपनी कार्य-सिद्धि के लिए स्वयं भी वृत्ति बन जाती है । नायक के सहायक पीठमर्त्य प्राप्ति में जो जुग होते हैं उन्हें वृत्तियों के धन्य भी रहना चाहिए । जैसे 'भासतीमाधव' प्रकरण में—

“उद्ये सास्त्रों का पूर्व ज्ञान है, ज्ञान के ही अनुसृत सहज बोध है, गुणों में प्रवृत्तता प्राप्त उसकी बाणी है । समय की पहचान प्रतिभा

धादि धीर कार्यों में यथेच्छता फल प्राप्त कराने वाले गुण उसके सम्यक् निवास करते हैं ।”

सखी का उदाहरण—नायिका की सखी नायक के पास जाकर उता हना देती है—

‘मृगों के बन्धों के समान नेत्रबाधी मेरी सखी को तुम्हारे विमोग में चित्ना ठाप है यह कैसे बताऊँ क्योंकि जो बीज प्रत्यक्ष नहीं छूटी उसको बताने के लिए उपमा धादि की सहायता लेनी पड़ती है । बहुत सोचने पर एक वस्तु मेरी दृष्टि में घाती है वह है चन्द्र सम्बन्धिनी मूर्ति । वह मूर्ति धूमि में विर पड़ने पर जिस दशा को प्राप्त कर सकती है वही दशा मेरी सखी की है । वह संसार-मर के नैव बारियों के लिए स्त्रीरूप में प्रसूत है पर हाय ! आज तुम्हारी चट्टा के कारण बह्मा की वह सर्वोत्कृष्ट रचना बिनाही जा रही है ।

धीर भी—

‘ठीक है तुम बेचना खाली हो तुम्हारा अपने सबुध जन (व्यक्ति) में प्रनुराग भी उचित ही है । तुम उसके प्रेम में मरो मैं तो कुछ नहीं बोलूँगी क्योंकि उसके लिए मरना भी मेरे लिए बलाबा का ही विषय होया ।” स्वयंभूती नायिका का उदाहरण—

दे रोकन वाले पवन । मेरे वस्त्रों को क्यों खींचते हो ? धीर एक बार फिर धाओ । हे सुम्बर । मेरा गांव दूर है, मैं एकाकिनी छूटी जब तुम्हीं बताओ तो सही तुम्हें छोड़ जिसका धाराजन कर ?

नायिकाओं के अस्कार—

मोघने सस्वजा स्त्रीणामर्लकारास्तु विशति ।

पुत्रावस्था में युवतियों के अस्वर तरण से उत्पन्न बीस अस्कार प्राप्त होते हैं ।

भावो हावश्च हेसा च प्रयस्तुत्र पारोरजा ॥३०॥

शोभा कान्तिश्च बीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
 शोभाय धैर्यमित्येते सप्त भावा ध्यस्तथा ॥३१॥
 शोभा बिलासो बिम्बितिबिभ्रमः कित्सकिञ्चित्तम् ।
 मोह्यायितं कुट्टमितं बिम्बोक्तो समित तथा ॥३२॥
 बिभ्रतं चेति बिम्बेया द्वा भावा स्वभावजा ।
 निर्विकारात्मकास्तत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३॥

इनमें भाव, हाव और हेला, ये तीन धर्मों से उत्पन्न होते हैं ।
 शोभा कान्ति बीप्ति माधुर्यं प्रगल्भता शोभा, धैर्य ये सप्त भाव
 बिभा घन के ही चेदा होते हैं, इसीलिए इनको ध्यस्तत्र कहते हैं ।
 शोभा बिलास बिम्बिति बिभ्रमः कित्सकिञ्चित्, मोह्यायितं कुट्टमितं
 बिम्बोक्त, समित तथा बिभ्रत ये सप्त भाव स्वभावज अर्थात् स्वभाव से
 पैदा होते हैं ॥ ३०-३३ ॥

नीचे इनके बारे में बताया जाता है—

भाव—जन्म से विकार-रहित मन में विकार के उत्पन्न होने को
भाव कहते हैं ।

विकार की सामग्री रहते हुए भी विकार का न पैदा होना सत्त्व
(भाव) कहलाता है । जैसे—“दो भी बीच अन्तराधो में नाचना-गाना
धारम्भ कर दिया पर महुदैवकी टख-स-मल न हुए, धरने ध्यान में
ही लगे रह गए, क्योंकि जो लोग धरने मन को बस में कर बैठे हैं
उनकी समाधि क्या भसा काई छुड़ा सकता है ।” इस प्रकार के विकार
रहित मन में पहले-पहल विकार के पैदा होने से इसका नाम भाव है ।
मिट्टी और बल के संयोग से बीज के संकुरित होने को रहते बीज की
जो दशा होती है वही ही मन की दशा का नाम विकार है । इस प्रकार
सर्वप्रथम मन में धार हुए विकार का नाम भाव है—जैसे दृष्टि सान
सता विनति” (पृ० १६२ पर इसका अर्थ लिखा जा चुका है ।) धरना
जैसे ‘कुमारसम्भव’ में—कामदेव ने पावतीजी को पूजा करते देख

जब समयान् संकर पर सम्मोहन नामक बाबूक बाण का सम्मान किया उस समय बाण भगवत् ही उसका मन बचल हो उठा और उसमें भनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों का ताँता बीसे ही भग गया जैसे चन्द्रमा को देख समुद्र में लहरों का लय जाता है । निदान उन्होंने विम्बाफस के समान नाम नाम घोटोंवासी पार्वतीजी के सुन्दर चारों पर अपने गेज डाम दिए ।”

घबरा जैसे मेरा ही (बनिक का) पछ—‘बाबी जो पहले भी वह घाव भी है, नेत्रों और घबस्वा में भी कोई परिवर्तन नहीं होसता पर इसके प्रयोगों की मुवाबत्ता सम्बन्धी शोभा कुछ और ही पुनार रही है ।”

हेवाकसस्तु भृङ्गारो हाबोऽसिद्धू विकारस्तु ।

हाब—भृङ्गार के सहित धन्य बोलना और भोंहि तथा नेत्रों में कटास धादि विकारों के उत्पन्न हो जाने का नाम हाब है ।

बीसे मेरा (बनिक का) ही पछ—“वह बीसे ही कुछ विभिन्न प्रकार से देखती है बीसे ही उसका बोलना भी कुछ विभिन्नता लिए रहता है । हे मित्र मेरी बातों पर ध्यान देकर स्नेह से भोली जाती हूँ मुग्धा का जग देखो तो सही ।”

॥ एव हेता सुव्यक्तभृङ्गाररससूचिका ॥ ३४ ॥

हेता—कामवासना के भाव का अत्यन्त स्पष्ट प्रवक्त होने लगने का नाम हेता है ॥ ३४ ॥

बीसे मेरा (बनिक का) ही पछ—‘नायिका के शरीर में स्तन के उठान क साथ-साथ इतना शीघ्र विप्रम विभास धादि भावों का संचार हुआ कि उसकी सजिया बहुत देर तक उसके बालभाव के विषय में संशयित रही ।

इसके बाद अत्यन्त सात भावों को उदाहरण के साथ बतात है—

शोभा—

अपोपभोगतादृष्यं शोभाङ्गामा विभूषणम् ।

शोभा—अप भोग और तादृष्य से अर्थों के सौंदर्य के अङ्ग जाने को शोभा कहते हैं ।

वैसे—“शुभार करने वाली गृहाग्नि स्त्रियों ने पार्वतीजी को स्नान धादि कराके कोहबर में से जाकर पुरब की घोर मूँह कराके बिठा दिया । शुभार की सब वस्तुएँ पाठ से होने पर भी ने सब पार्वतीजी की स्नानाधिक सोचा पर ही इतनी सट्ट हो गई कि कुछ बेर तक तो ने मुनमुन बूझकर उनकी घोर एकटक निहारती हुई बैठी रह गई । इत्यादि और वैसे ‘मन्त्रिज्ञान साधुस्तन’ में—

बहाराब दुष्पन्न सङ्कुम्भना के विषय में कह रहे हैं—

“मेरी दृष्टि में उसका रूप बैसा ही पवित्र है जैसा बिना सूना फूस बर्तों से बिना काटे हुए चने बिना बिना हुपा रत्न बिना बच्चा हुमा बया मनु, तथा बिना घोवा हुपा यमक पुष्पों का फल । पर पता नहीं इस रूप के उपभोग करने के लिए बह्रा में किसे बनाया है ।”

मम्ममामापितकदाया सैव काम्तिरिति स्मृता ॥३५॥

काम्ति—काम के विकार से लड़ी हुई शरीर की ओला को काम्ति कहते हैं ॥ ३५ ॥

(सोना ही जब प्रेमाधिक्य से बड़ जाती है तो उसे काम्ति कहते हैं ।) वैसे नायिका के अङ्ग मुख के मन्त्रिज्ञानी मन्त्रकार ने जब उसके मुख के पास जाने की इच्छा की तो वही देख उसे नायिका के मुखचन्द्र की किरणों ने निकाल मचाया उसके साथ जब वह उसके स्पर्श चुम्बों के पास तथा हाथों के पास कर आने के लिए गया तो वही पर भी कुछ और हाथों की काम्ति द्वारा दुष्कारण मचा । इस प्रकार हर वषह से तिरस्कृत वह मन्त्रकार ऐसा मयता है नागों प्रकृपित हो केसों पर ही जाकर चिपक गया हो ।

इसी प्रकार काम्ति का प्रवाहरथ नागमनु की ‘कादम्बरी’ का महा-रोता वृत्तान्त भी है ।

अनुस्वारस्पर्श माधुर्य

माधुर्य—चित्त मुख के रहने से नायिका हरिक यमत्वा में रमणीय मालूम होती है उसे माधुर्य कहते हैं ।

जैसे 'अभिज्ञान साकुन्तल' में—

'सिंहार से बिरे रहने पर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पड़ा हुआ कलंक भी उसकी खोभा को बढाता है जैसे ही यह रमणी बस्त्र पहने हुए भी बड़ी सुन्दर लभ रही है। वस्तुतः बात यह है कि सुन्दर शरीर पर हरेक वस्तु सुन्दर लगती है।

बीप्तिः कास्तेस्तु विस्तरः ।

बीप्ति—अत्यन्त विस्तार पाने पर काप्ति ही बीप्ति कहल जाती है।

जैसे—'प्रार्थना करती हूँ घरी अपनी मुत्तबत्र की खोस्ना से अन्धकार को दूर भगाने वाली। प्रसन्न हो जाओ मेरी बात मानकर पद पाये मल बड़ो। हे इत्यादिनी तू अथवा अभिसारिकाओं को बिघ्न पहुँचा रही है।"

निःसाध्यसत्यं प्रागल्भ्यं

प्रागल्भ्य—साध्य के अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं।

(अर्थात्) मानसिक प्रेम के साथ अर्थों में अचला होने का नाम साध्य है और उसके अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं। जैसे मेरा ही पद्य—

बहु देखने में तो बड़ी लचीली और मोली मालूम पड़ती है पर खना के अन्दर कला के प्रयोगों के पाण्डित्य में तो उसका आचार्य का स्वाम प्राप्त कर लिया है।

प्रीत्यर्थं प्रथयः सदा ॥३६॥

प्रीत्यर्थ—सदा प्रेम के अनुकूल व्यवहार करने का नाम प्रीत्यर्थ है ॥ ३६ ॥

धापसाविहता धय जिदृस्तिरविकल्पमा ।

धैर्य—धापसाध्या और अधिस्त्य-रहित मन की वृत्ति को धैर्य कहते हैं।

जैसे 'मातृमीमांस' के निम्नलिखित पद्य में मातृ की उक्ति है—

“प्रतिरात्रि भ्रम में अम्र पुरन हृदय बर छापत रहै ।

धर मृत्तु सों धाने करै कहा यवन जाहे नित रहै ॥

मम इष्ट पावन परम पितु धी मातु कुल की मान है ।

विहि त्यागि बस बहिए न मोहि धानेस धी यह मान है ॥”

प्रियानुकरखे लोभा मधुराङ्गविषेष्टि ॥३७॥

लीला—नाबिका द्वारा प्रियतम के श्रुद्धारिक विद्याधों बैसबूवा,
मातृजीत आदि के अनुकरण किए जाने का नाम लीला है ॥३७॥

जैसे मेरा (बनिक का) ही पद्य—

“उसका देखना बालना बैठना आदि सब ठीक ठीक प्रकार के होते
हैं जैसे उसके प्रियतम का देखना बोलना आदि उसके सौते की साथ
होता है ।” अथवा जैसे—“उसका कहना बोलना गाना वैया ही होता
है वैया इसका आदि ।”

तत्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गनियामिषु ।

विलास—प्रियतम के अवलोकन आदि के समय नाबिकाओं की
आकृति, गेह तथा विद्याधों में जो विशेषता आ जाती है उसे विलास
कहते हैं ।

जैसे ‘मानसीनामक’ में मानस मातृजी के विषय में कहा है—

“इतने ही में जो कह जाने करषी

कहिबे नहि बैननि मे चतुराई ।

जय सीस अनेक विलासिन की

प्रकटाह छटा चहुँबा छिटकाई ॥

बहु सारिखक आब लगी मिस काउके

ऐसी धबीर अताई दिखाई ।

बहु बान बड़ी-बड़ी पाँखनि की

धनु मीनु यहीन ने धायु पढ़ाई ॥”

विध्वंसि—आत्म केन्द्र-विषय के होते हुए भी नाबिका के अंगों में
अधिक कमनीयता के आ जाने का नाम विध्वंसि है ।

आकस्परचनास्यापि बिम्बित्वात् कान्तिपोषणम् ॥३८॥

पर्याप्त कान्ति बिम्बिते अधिक चमत्कृत हो उठती है उसको बिम्बित कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'कुसारसम्भ' में— 'पार्वतीजी के कानों पर सटके हुए बी के प्रभुर तथा जोष से पुते तथा मोरोचना सगे हुए मोरे-मोरे गाल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबकी आँखें डूठाएँ उनकी मोर खिच जाती थीं ।'

विभ्रमस्वरूपा काले भूषास्थानविपर्यय ।

विभ्रम—शीघ्रतावश आभूषणों को जहाँ पहनना चाहिए वहाँ न पहनकर अन्यत्र पहन लेना, इस प्रकार के आचरण को विभ्रम कहते हैं ।

जैसे— रात हो गई चन्द्रमा निकल आया यह देख नायिका ने शीघ्रतावश प्रिय से मिलने के लिए आभूषणों को पहनना आरम्भ कर दिया । जब यह पहना पहन रही थी धीरे-धीरे उबर इसकी सखियाँ इसके प्रिय की झूठी से बातचीत करने में लगी थीं सो प्रिय की बातों को सुनने के लिए इसमें भी अपने मन और आँखों को उबर ही लगा दिया निदान जो आभूषण वहाँ पहनना चाहिए था उसे वहाँ न पहनकर अन्यत्र ही पहन बैठी यह देख उसकी सखियाँ हँस पड़ीं ।'

अथवा जैसा मेरा (चमिक का) ही पद्य— 'नायिका आभूषणों से अपने धर्मों को खजा ही रही थी कि इतने में उसने सुना कि उसका प्रिय वन बाहर आ गया है । बस क्या था शीघ्र ही सब-सबकर तैयार हो गई । इस पर बस्ती करने का परिणाम यह निकला कि उसने बाल में धंजन आँखों में महाकर और कपोलों पर तिसर कर लिया ।

लोभाद्भुर्ह्यमीत्यादे संकरः किलकिञ्चित्तम् ॥३९॥

किलकिञ्चित्तम्—यस्य प्रवृत्त्या को कहते हैं जिसमें नायक के सम्पर्क से नायिका के अन्दर क्रोध अद्भुत अथ वे चारों प्रिये हुए पैदा होते हैं ॥३९॥

जैसे मेरा (चमिक का) ही पद्य—

नायक अपने मित्र से कहता है—“रतिनीका कभी घृष्ट में घने किसी

प्रकार से भीका पाकर मा मा पादि बाक्यों को कहने वाली नायिका के समर्थों को तो काठ ही लिया। मेरे इस व्यवहार से पहले ही उसने भीड़ों को बहाया फिर कुछ लज्जा का अनुभव किया और उसके बाद बोझ-बोझ रोना भी आरम्भ कर दिया। इसके बाद उसके मुख पर ईष्य हास्य दिखाई दिए, उसने मैं क्या देखता हूँ कि वह फिर ओप से विवशित हो उठी।

मोह्यायितं तु तज्ज्ञावभाषनेष्टकथाविधुः ।

मोह्यायित—श्रियतम-सम्बन्धी जनबाही उपपातार्थों को तुमने तथा सोचते-सोचते प्रिय के अदुराध में सम्मथ (सराबोर) हो जाने का नाम मोह्यायित है।

जैसे 'पद्मशुभ्र' काव्य के इस पद्य में—

"नायिका प्रिय के चित्र को देख रही थी देखते-देखते उसके अनुपाय में इतनी विभोर हो उठी कि उसने उस चित्र को ही प्रियतम समझ कर उस लज्जा के मारे अपनी बोझ को टेढ़ा कर लिया।

अथवा जैसे—'ऐ मोती हृदय में कैसे रखकर रोमाञ्चित हो रही है और सुन्दर अर्पाय प्रवेश जिसमें कनीनिकाएँ बँवाई के कारण उत्पन्न हो रही हैं धारण कर रही हैं। और तो और उसके कारण तेरी यह वधा हो गई है कि तू तोई हुई-सी विवशित-सी कमा नाम अधशिष्ट सुन्दर हृदयवासी हो गई है। है अपने-आप अपना बिनाश चाहनेवासी। लज्जा क्यों कर रही है? साफ-साफ बतलाओ भी तो उही मुझे तो ऐसा लगता है कि तेरे अन्दर में बिया हुआ काम ॥ तुम्हें अनेक प्रकार से घटा रहा है।"

अथवा जैसे मेरा (चलिक का) ही पद्य—

कोई कूटी नायक है उसके घेस में मरनेवाली किसी नायिका के बारे में बताती है—"हे सुन्दर! सखियों के मन में जब यह धाता है कि उसके मन में किसी हुई कामवासना को जल अमार दिया जाए तो वे सब तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य धारि का वर्णन करना आरम्भ कर देती

हैं। और जब तुम्हारा वर्णन आरम्भ हो जाता है तो फिर क्या कहना ? उस चौड़ी पीठ और मोटे स्तनों वाली के ध्वज प्रत्यङ्गों में मरोड़ पैदा हो जाती है, बर्माई घाने लगती है और मुझाएँ बलमिक्त हो जाती हैं। (दोनों हाथों के द्वारा अपने सीने को फसना यहाँ बलमिक्त लम्ब से अभिप्रेत है।)

ज्ञानब्रह्मं कुट्टमितं कुप्येत् केसावरग्रहे ॥४०॥

कुट्टमित—सम्भोग में प्रवृत्त होने समय केसग्रहण और अवरक्त के कारण भीतर से प्रसन्न होते हुए भी ऊपर से नायिकाओं द्वारा जो कीप का प्रदर्शन होता है उसे कुट्टमित कहते हैं ॥ ४० ॥

बैसे—

‘हाथों के सम्भोग अर्थात् धनुमियों से रोके बाँधे रहने पर भी प्रियतम के द्वारा घोंठों के काट भिड़ जाने से मूठमूठ का स्पर्श और सीस्कार करने वाली नायिकाओं की जब होने बिना इस प्रकार का सीस्कार रतिस्त्री नाटक के निष्क्रम का नाबी पाठ है अथवा कामदेव का महत्त्वपूर्ण आदेश है।’

गर्वाभिमानाद्विष्टेऽपि विद्योकोऽनावरक्तिया ।

विद्योक्त—गर्व और अभिमान से इच्छित वस्तु के अनावर करने को विद्योक्त कहते हैं।

बैसे मेरा (बनिक का) ही पद—

‘मैंने भीड़ों को जानकर अनावर के साथ प्रियतम को आ देखा और इस प्रकार से जो उसकी अवहेलना कर भी इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा भी मनोरथ चरितार्थ न हो सका। परी मैंने भी तो हार कर गयी। केवल भीड़ों का तरेरमा ही किया होता तो भी नहीं। मैंने बहाने से श्रेष्ठ के आदेश में तिलक और केजों को हाथों से बिखेर दिया और भावावेश में अनेक बार अपनी मीठी साड़ी के आचमन को स्तनों पर से उठवा और रमा।’

सुकुमाराङ्गबिन्द्यासो मसुराणो ललितं भवेत् ॥४१॥

ललित—कोमल अर्थों को सुकुमारता के साथ रखने का नाम ललित है ॥४१॥

जैसे मेरा (बनिक का) ही पक्ष—

‘उसका भीहों को नषाकर किछमय सहज अंगुनियों को हृदय उभर चुमाकर सोमना घोर सोचन के अंशनों से प्रति मधुर देखना तथा स्वच्छन्दता के साथ जाने हुए कमलवत् अर्थों का रखना आदि देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कमलमयी बढ़ती हुई लवानी के द्वारा बिना संकीर्ण के ही नभाई जा रही है ।

प्राप्तकाल न यद्ब्रूयात्सोऽप्या विहृतं हि तत् ।

विहृत—उपयुक्त अवसर के पाने पर भी लज्जा के कारण न बोल सकने का नाम विहृत है ।

जैसे—

‘पल्लव सख्य कान्तिवाले वर के अंगूठे से परती को खोबरी हुई घोर उखी बहाने कालिमा से विविध अपने अंशन निशों को मेरे ऊपर फेंकती हुई, लज्जा से मम मुखवासी तथा बोलने की चाह से फड़कते हुए अश्रुबाली प्रियतमा सामने खड़ी होते हुए भी लज्जा के कारण बो-मुँह न बोल सकी ये सब बातें स्मृति-पत्र में पाते ही हृदय को झुरे देने लगती हैं ।’

इसके बाद निता के अन्य कार्य-सहायकों को बताते हैं—

मन्त्री स्वं योग्यं वापि सत्ता तस्यार्यचिन्तने ॥४२॥

अपने राज तथा अन्य राज की वैचभान आदि मामलों में राज्य के सहायक मन्त्री हुषा करते हैं । कहीं राजा स्वयं अपने कार्यभार बहुत करता है । कहीं राजा और मन्त्री दोनों तथा कहीं मन्त्री ही ॥४२॥

मन्त्रिण्या ललितं बोधा मन्त्रिस्त्वायत्तसिद्धयः ।

ऊपर बताये हुए नामों में से औरललित नामक अर्थसिद्धि के लिए

मन्त्रियों पर अवलम्बित रहता है। धर्म नायकों (वीरोदात्त, वीर धाम्ति और वीरोद्धत) में कहीं राजा कहीं मन्त्री और कहीं दोनों कार्य भार को वहन करते हैं।

इनके लिए (वीरोदात्त वीरधाम्ति वीरोद्धत के लिए) कोई खास नियम नहीं है कि धर्म नायक का सहायक मन्त्री हो अथवा स्वयं हो अथवा आप भी हो और मन्त्री भी।

अस्त्रिचपुरोहितो यमं तपस्विब्रह्मवादिम ॥४३॥

राजा के धार्मिक कार्यों में सहायता पहुँचाने वाले अस्त्रिच, पुरोहित तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हुषा करते हैं।

वेद के पठन-पाठन करनेवाले और उसके व्याख्याता को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। पुरोहित धार्मिक के धर्म बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके धर्म तो स्पष्ट ही हैं।

दुष्टों के दमन करने को बन्ध कहते हैं।

सुहृत्कुमारवृत्तिरा बन्धे सामन्तसत्तिका ।

राजा के बन्धकाओं में सहायता पहुँचानेवाले निज कुमार आठविक (सोमारका) सामन्त और सत्तिका होते हैं।

ये प्रत्येक अपने-अपने अनुसूच कार्यों में सहाय्य जाते हैं अर्थात् जो जिस कार्य के योग्य होता है वह उस कार्य में राजा की सहायता पहुँचावा करता है। जैसा कहा भी है—

धम्तपुरे यथवरा किराता मूकधामना ॥४४॥

म्लेच्छाभोरणकाराद्य स्वस्वकार्योपयोगिन ।

धम्तपुर में कनीक (नयुक्त) किरात घुँगा घौगा, म्लेच्छ, धहीर प्रकार, ये सब सेवा करने के लिए रहते हैं। इनमें जो जिस कार्य के उप-युक्त होता है उसे वह कार्य करने को दिया जाता है ॥४४॥

शकार राजा का सलाह दूषा करता है। वह निम्न जाति का दूषा करता है। (यह राजा के निम्नजातिवासी परती का भाई होता है।)

अथैष्टमध्यायमन्त्रेण सर्वेषां च प्रियता ॥४५॥

तारसम्याद्यथोक्तांगी गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं नादये विनास्तथो नायकः सपरिच्छदः ॥४६॥

यहने बताया है हुए नायक-नायिका, ब्रूत-ब्रूती पुरोहित मन्त्री आदि के उत्तम मध्यम और अधम, इनके द्वारा प्रत्येक है तीन-तीन भेद होते हैं । यह जो उत्तम, मध्यम और अधम भेद है वह गुणों की घटती-बढ़ती को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है किन्तु गुणाधिक्य को ध्यान में रखकर किया गया है ॥४५ ४६॥

अब ऊपर बताया है हुए नायक के व्यवहारों को बताते हैं—

तद्व्यापारास्मिका वृत्तिद्वयतुर्भा तत्र कसिकी ।

नायक और नायिका के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं । यह चार प्रकार की होती है—१ कसिकी २ सात्त्विकी ३ धारमयी और ४ मारती ।

गीतनुत्पत्तिनासाद्यैर्मुहुः शुक्लारचेष्टितः ॥४७॥

कसिकी वृत्ति—कसिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें नायक-नायिका का व्यवहार भीत कृत्य विनास तथा शुक्लारिक चेष्टाओं (आम की इच्छा ॥ पुनः चेष्टाओं) के द्वारा सुकुमारता को प्राप्त हुआ हुआ है ॥४७॥

नर्मतरिस्फुञ्जतस्कोटतद्वर्गमैहचतुरङ्गिता ।

वैदग्ध्यकोटितं नर्म प्रियोपचक्षुर्बलात्मकम् ॥४८॥

कसिकी के चार भेद होते हैं—१ नर्म २ नर्म त्रिजम्ब ३ नर्म स्फोट और ४ नर्म-नर्म ।

१ नर्म—प्रिय को प्रसन्न करने वाली चातुर्य से युक्त बीड़ा को नर्म कहते हैं । इसके तीन भेद होते हैं—१ हास्य नर्म २ सहास्य शुक्लार नर्म और ३ सहास्य लय नर्म । इसमें सहास्य शुक्लार नर्म के भी तीन भेद होते हैं—१ आनोपलोप नर्म २ अन्मो नर्म और

१ मान नर्म । सहास्य भय नर्म के भी दो भेद होते हैं—१ शुद्धभय नर्म और २ श्रृंगारान्तर्गत भय नर्म ।

हास्येनय सशृङ्गारभयेन विहित त्रिधा ।

भय नम या सहास्य भय नर्म के भी शुद्ध और श्रृंगारान्तर्गत भय नर्म दो दो भेद होते हैं ।

आत्मोपक्षेपसमोगमानं शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥४९॥

छिद्र ये वाली वालीवेच और चेष्टा इनके द्वारा तीन-तीन प्रकार के होते हैं ।

शुद्धमङ्ग भय द्वेधा त्रेधा धाम्नेयचेष्टितं ।

सर्व सहास्यमित्येवं नम एवदशयोचितम् ॥५०॥

इस प्रकार सब मिलाकर कुल १८ भेद होते हैं ॥४८ २०॥

यमिक की वृत्ति—प्रियजन को प्रसन्न करने के लिए किये गए परिहास का नाम नर्म है । इसमें धाम्य परिहास का होना निषिद्ध है । यह १ शुद्ध हास्य २ सहास्य श्रृंगार और सहास्य भय, इनके द्वारा तीन प्रकार का होता है । इसमें बुरे का स्वाभिराग निवेदन (अपने प्रम को बतलाना) सम्बोधेष्टा प्रकाशन (अपनी सम्मोग की हृष्टा को व्यक्त करना) सापराध प्रिय प्रतिवेदन (अपराध करके माये हुए नायक का भयानकोड़ करना) इन त्रैवी से तीन प्रकार का होता है ।

इसमें बार्ता द्वारा उत्पन्न हास्यजन्य वा उदाहरण— पार्वतीजी के चरणों में सखी जब महाभर लगा चुकी तब उसने छिटोसी करछ हुए पाणीबाँध दिया कि भगवान् करे इन पीरों से अपने पति के सिर की चन्द कसा को सुप्रो । इस पर पार्वतीजी मूँह से कुछ न बोसी पर एक माता उठाकर (धीरे से) उसकी पीठ पर कड़ बी ।

वेपनर्म का उदाहरण नागलक्ष्मी नाटक में विष्णुपद रोषरज की वैद्य भूया आदि का वर्णन ।

क्रियाधर्म का उदाहरण— नातकिरान्निमित्त नाटक में स्वप्न देखते

हुए निरूपक को बराने के लिए निरूपिका द्वारा उसके ऊपर अपने का
पैका जाना चाकि वह सर्व समझकर जीक उठे ।

इस प्रकार नापी केय केष्टा पादि के द्वारा हुए और मेरों को भी
जानना चाहिए ।

यह सहास भूषारमर्ष के मेरों का उदाहरण देखिए—

अन्नमोपधेयमर्ष, जैसे—गरमी का दिन है कोई पानी पिलाने वाली
हमी प्याऊ पर बैठी है । इतने में गरमी धीरे रास्ते से बमान्त धीरे
मान्त एक पबिक पानी पीने की इच्छा से बहती भाता है उसे देख
प्रमापानिका (प्याऊवाली) कहने लगती है— हे बटोही दोपहरी
बही बिठाइए, पसीना बूझ जाने दीजिए, बोझी बेर रफ़कर बल पीजिए ।
हे पबिक मैं बहती धकेली हूँ वह सोचकर घाप बहती से बने न जाइए ।
यह मेरा पनीसरावाला भर बहुत ठण्डा है घट वहीं आपका रुकना
हूँ तरह से घाघमदाक होमा । घाघ-ही-साघ पहीं से बैठे-बैठ कमदेव
के नाचों से जन्त अपनी प्रियतमा का भी प्यान करा सकते हैं क्योंकि
घापके मन को जुमाने में घामर पानी पिलानेवाली समर्थ न हो सके ।”

अन्धोपधर्म जैसे— अपनी मुँह दिखाई ही दे रहे थे कि बुद्धिजी ने
अपने पति को बचकुर उमकी इच्छा की परवा किये बिना ही हँसती
और हँसाती हुई पैरों को बराने लगी ।

मानमर्ष—जैसे कोई छठमायक किसी से रमस कर किसी बूखी
नामिका के पास ‘तुम मेरी प्रिया हों’ इत्यादि कहता हुआ पहुँचा । नामिका
ने उसके धीरे पर बूसगी स्त्री की साड़ी घादि को (नामक बस्ती
बस्ती में साड़ी ही पहनकर बल दिया जा) देख फटकारना शुरू कर
दिया—‘तुम मेरी प्रिया हों’ यह आपका कहना सर्वथा सत्य है क्योंकि
यदि मैं आपकी प्रिया न होती तो आप अपने प्रियजन (बूखी नामिका
के पहले हुए बस्ती) अपयुक्त इस साड़ी को पहनकर न पाये होते । बात
ठीक भी है कामीजन को अपने को धामुपक घादि से सुसज्जित करना
प्रियजन के देख केने माध से ही चरितार्थ हो जाता है ।”

मयमर्मे—वैसे 'रत्नावली नाटिका में विजय देव सेने के बाद गुप्तवता कहती है—“हूँ मुझे विजय के साथ-ही-साथ सारी बातें मासूम हो गई । अब तो मैं जाकर देवी से यह बात कहूँगी” इत्यादि ।

शृंगारान्तर्गत मयमर्मे—“अपने अपराध के व्यक्त हो जाने पर नायक ने अपनी नायिका को प्रसन्न करने के लिए अनेक उपायों का सहारा निवा पर जब किसी से भी सफलता न मिल सकी तो बहुत सोचने पर एक उपाय की सूझ उसके मन में आई । वह यह कि इसकी मयमीत किया जाए, तो वह भवा कहने 'देखो वह पीठ-पीछे क्या है ? देखो वह पीठ-पीछे क्या है ?' इस प्रकार से नायिका को मयमीत करके छट चौका पाकर वह छठ नायक मन्द-मन्द मुस्कान करत बाली प्रिया का आनिमन कर रहा है ।

नर्मस्फिञ्जः सुसारम्भो मयान्तो मयसगमे ।

नर्म स्फिञ्जः—नायक-नायिका के प्रथम समापन को नर्म स्फिञ्ज कहते हैं, जिसका आरम्भ मुक्त के साथ तथा अन्त भव सिन्धे हुए होता है ।

वैसे 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में शक्ति-स्वप्न पर आई हुई नायिका (मालविका) से नायक (राजा) का यह कथन—

‘हे सुन्दरि, मेरे घने लघने से मत डरो । कितने दिन से मैं तुमसे मिलने के लिए व्याकुल था । हे प्यारी आधो धीर आकर मुझसे वैसे ही लिपट जाओ वैसे मासमी भवा आग से लिपट जाती है ।

इसके बाद मालविका राजा से कहती है—‘मुझे महारानी से बड़ा डर लगता है, अतः चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर सकती । इत्यादि ।

नमस्फोटस्तु भावानां सुखिनोऽपरसो सय ॥५१॥

नर्म स्फोट—आप भावों से आप रक्त के प्रकट होने का नाम नर्म स्फोट है ॥ ५१ ॥

वैसे 'मालतीमाधव' में मकरन्द माधव को दया का वर्णन करता है—

बलत में यह भक्ति ही बलसात ।

देह न करति वृष्टि भुजगा की सुनी हृष्टि मखात ॥

बिन्दातुर सो सांस भरत छिन-छिन बूनी दरसाई ।

कारन का यहि के सिवाय कछु और समझ नहि धारै ॥

अवसखौ फिरि भुवन भुवन जे भगवत भिजव बुहाई ।

बोर मरोर बरी कोनन नहि यहि तन में जमझाई ॥

प्रकृति मधुर रमनीय भाव जब कोनन ज्योति प्रकाई ।

बरबस मन बस करत बीरता बीरज हू की नास ॥

यही पर भाव के गमन बाधि से प्रकट होने वाले बोले भावों से
मासली के विषय में उसका अनुराग बोली भाषा में सुनिष्ठ होता है ।

नर्मगर्भ—

सुखमेवप्रतीकारो नर्मगर्भोऽर्जुन ॥

अर्जुन सहास्यनिर्हास्येरेमिरेवात्र कैशिकी ॥५२॥

कालीतिद्धि के लिए नायक के वृत्त व्यङ्ग्यार को बर्मगर्भ कहते हैं ।
यह कैशिकी वृत्ति का अन्तिम बीजा भेद है । इसके भी दो भेद होते
हैं—सहास्य और निर्हास्य ॥ ५२ ॥

जैसे 'अमरकृतक' में—एक आसन पर अपनी दोनों प्रेमिजाओं को
बीठ देव कामधेन के बहान पीछे से आकर नायक एक की दाँव मूँदकर
अपने कन्नी को बरा भोड़कर प्रेम से उत्सवित मनवासी तथा भगवन् से
विकसित-भुजगानी अपनी दूसरी नायिका का आनन्द से घूम रहा है ।

धीरे-धीरे 'प्रियबोसका' के पर्मार्क में बलराज का बेश भारथ करके
घाई हुई सुठवत्त के रत्नान पर पास ही में स्वयं बलराज का आ आना ।

सात्वती—

विद्योका सात्वती सरयप्रीत्यप्यागदयावध ।

संतापोत्पापकावस्यां साङ्गारय परिबर्तक ॥५३॥

नायक के शीकरहित सत्त्व शीर्ष, बया स्थाय और धार्यबपुस्त
व्यापार को सात्वती वृत्ति कहते हैं । इसके संतापक, उत्थापक सांघात्य
धीर परिणतक, ये चार भेद होते हैं ॥५३॥

संतापको यमोरोक्तिर्नामाभावरसा मिय ।

संतापक—नामा प्रकार के भाव और रसों से युक्त यन्मीर उचित
को संतापक कहते हैं ।

जैसे राम 'महावीरचरित' नाटक में परशुराम से कहते हैं—

"निरर्ष्य ही यह कह करसा है जो सपरिवार कातिक्रय के भीत
जाने पर मनवान् शंकर के द्वारा हजार बप तब निप्य बने हुए आपको
प्रसाद रूप में दिया गया था ।"

यह सुनकर परशुराम बोला है—

"हे राम तुम्हारा बचन सत्य है यह मर शुद्धय लकर का प्यारा
यही परशु है ।

'यस्त्र-यरीका के दिन बनावनी मुठ में यथों स चिरे हुए कुमार
कातिक्रय को मने हराया इससे प्रसन्न हो गुणों के प्रमी भगवान् शंकर
न प्रसाद रूप में इसे मुझे प्रदान किया । इत्यादि । नामा प्रकार के भावों
धीर रसों से युक्त राम और परशुराम की यन्मीर वृत्ति-प्रयुक्ति
संतापक है ।

उत्थापक—

उत्थापकस्तु यत्रादौ मुठायोत्थापयेत् परम् ॥५४॥

मुठ का लिए जहाँ नायक शत्रु को सजकारे ऐसे स्थल पर उत्थापक
होता है । अर्थात् नायक के द्वारा मुठ के लिए शत्रु के लक्ष्यकारने को
उत्थापक कहते हैं ॥ ५४ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—

"हे राम तेरा हसन मेरे-लिए आनन्दप्रद हुआ घबरा घा-चर्यों-
पारक हुआ या कुछ देने के लिए हुआ कुछ समय में गनी का रक्षा

है। गया नहीं क्यों मेरे ऐसे नीरस के भेषों में भी तुम्हें देखते रहने की इस प्रकार की उत्कण्ठ तुम्हारा पैदा हो गई है। और मेरी तकदीर में तेरी संतति का सुख नहीं बड़ा है, अतः प्रसिद्ध पराक्रमी परशुराम के बीतने के लिए तेरी भुजाओं में मेरा यह अनुप प्रेरणा संचार करे।”

सांघात्य—

मन्त्रार्थद्वयसप्त्याये साङ्गताय सङ्गमेवमम् ।

मंत्र नाम वा बीबी शक्ति के लिये किसी सबदना में छुड़ पैदा कर देने का नाम सांघात्य है।

मंत्र-शक्ति द्वारा छूट पैदा करना जैसे—

‘मुद्राचसस’ नाटक में नाचक का अपनी बुद्धि के द्वारा चसस के मित्रों में छूट पैदा कर देना।

अर्धशक्ति जैसे—वही पर (मुद्राचसस नाटक में) पर्वत के धामू-पन को चसस के हाथ में पहुँचाकर मतबकेतु के साथ छूट पैदा करा देना।

बीब-शक्ति का उदाहरण—रामायण में राम का रावण से विनीषण को छोड़ देना।

प्रारब्धोत्थानकार्यान्विकरसात् परिवर्तक ॥५५॥

परिवर्तक—प्रारब्ध किये हुए कर्म को छोड़ दूसरे कार्य के प्रारम्भ कर देने को परिवर्तक कहते हैं ॥ ५५ ॥

जैसे ‘महावीरचरित’ में—परशुराम कहते हैं कि ‘हे राम गणेश के सुख के समान बाँटों से विभूत तथा स्वाभी कार्तिकेय के तीक्ष्ण शरीरों के प्रहार के क्षण से सुसोभित मेरी छाती तेरे जैसे धनुष पराक्रमशायी के मित्रने से रोमांचित हुई (तेरा) धार्मिकता चाहती है।’ यह सुनकर राम कहते हैं—

“मगवन् ! धार्मिकता तो प्रस्तुत व्यापार (मुद्र) के विरुद्ध है।” श्रयादि। सात्वती के बाव आरम्भ की बुद्धि को बताते हैं—

इस वृत्ति में माया इन्द्रजाल संग्राम ज्येष्ठ उद्भ्रान्ति प्रस्थाप
भावि भावें होती हैं ।

एनिरङ्ग षष्ठ्यर्थे सास्वत्यारमटी पुनः ।

मायेन्द्रजाससग्रामकोषोद्भ्रान्ताविचेष्टितं ॥५६॥

संक्षिप्तिका स्यात्सफेटी वस्तुस्थानावपातने ।

अवास्तविक वस्तु को मय के जल से विखलाने भावि को माया कहते
हैं । इसके चार भेद होते हैं—१ संक्षिप्त, २ संकेत ३ वस्तुत्पापन,
और ४ अवपात ॥ ५६ ॥

संक्षिप्त—

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७॥

पूर्वनेतृनिवृत्त्याग्रे नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

शिल्प के योग से संक्षिप्त वस्तु-रचना को संक्षिप्ति कहते हैं । कुछ
तोर्णों के मत में प्रथम नायक के जले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे
नायक का आ जाना संक्षिप्ति है ॥ ५७ ॥

मिट्टी बाँस पत्तों और चमड़ों भादि के द्वारा वस्तु का उत्पादन
अर्थात् वस्तु के तैयार हो जाने का नाम संक्षिप्ति है । इसका उदाहरण
है बाँस का बना छड़ी ।

दूसरे भोग नायक की एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था के जाने
को संक्षिप्ति कहलाते हैं ।^१ जो भोग प्रथम नायक के जले जाने पर उसके
स्थान पर दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति की परिभाषा कहलाते हैं उनके
अनुसार इसका उदाहरण है बालि का निधन हो जाने पर सुग्रीव का

१ अण्यकार धनजय का मत यहला है और वृत्तिकार जमिन् का दूसरा
है अर्थात् एक नायक के बाद दूसरे नायक का आना संक्षिप्ति है
यह अण्यकार धनजय का मत है । और एक अवस्था के बाद दूसरी
अवस्था का आना वृत्तिकार जमिन् का मत है ।

नाटक बनना । धीरे को सोम एक भवस्था की मिश्रति के बाद दूसरी भवस्था के आगे का नाम संक्षिप्त बताते हैं उनके अनुसार इसका उदाहरण है—‘महाभीरवर्षि’ में परशुराम का उद्यतता को त्यागकर शाश्वतभाव का ग्रहण करना ।

सकैटस्तु समाधातः ऋद्धसरव्ययोर्हयो ॥५८॥

अंशे—दो ऋद्ध व्यक्तियों में एक की दूसरे के प्रति जो पाली पत्नीय होती है उसे सकैट कहते हैं ।

जैसे ‘मास्तीमाधम’ में नाचने धीरे अशोर बण्ट का धीरे रामायण में वर्जित करिषों में से लक्ष्मण धीरे मेकबाद का आपसी बाकमुक्त आदि ॥ ५८ ॥

वस्तुत्थापन—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तुत्थापनमिष्यते ।

माया आदि से उत्थान वस्तु को वस्तुत्थापन कहते हैं ।

जैसे ‘उदात्त रावण’ नाटक में—

‘विजयी होते हुए भी कमजोरी हुई सूर्य की सम्पूर्ण किरणें पता नहीं जैसे आकाशव्यापी प्रति सबल अग्निहार के द्वारा पराजित हो रही हैं । दूसरी तरफ भयानक कमलों के झिरी से निकले हुए रक्त को पी-पी कर पेट भर जाते हैं उकारने वाली और अपनी मुखरूप कन्दरा से धान उमलनेवाली गिरियारिणों का कदम अमल हो रहा है ।’

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशासविश्रयः ॥५९॥

अवपात—निकलना प्रवेश करना अव करना और भापना ये चारों अवपात के भीतर पाई जाती हैं ॥ ५९ ॥

जैसे ‘रत्नावली’ नाटिका में “अवस्थापना हैं बन्धन को छोड़कर यह बन्धन रनिवास में प्रवेश कर रहा है । इसके जैसे में सोने की टटी हुई सांकुस पड़ी हुई है । वह जैसे नीचे की तरफ खींचता हुआ बढ़ रहा है । वह अपनी बाहर आति के अशुक्ल जब भीड़ा (हुड़की देना आदि)

करता है उस समय उसके पैरों में मगी हुई छोटी-छोटी भट्टियाँ मँडस होने लगती हैं। वह स्त्रियों को डराते हुए तथा धमकसाता के रसकों से पोछा किए जात हुए रनिवास में प्रवेश कर रहा है।'

घोर मी— 'मनुष्य में पिनती न होने से मनुष्यक मग्ना छोड़कर छिप गए, बोने डर के मारे कंभुकी के बस्त्र में छिपने लगे फिरातों ने भी अपनी जाति के मनुष्य ही कार्य किया क्योंकि वे डर-डर (कोने में) तितर-बितर हो गए। घोर कुम्हे मी बन्दर ऊँहीं देख न सके इसलिए घोर नीचे स्थित हो गए।

त्रिपक्षिका में विष्णुकेतु पर किये गए पाकमन्त्रकाशीन कोसाहस भी इसका उदाहरण है।

एभिरङ्ग इक्षुर्धेय नार्थवृत्तिरस परा ।

धनुर्धो भारती सापि पाष्या नाटकसलले ॥६०॥

कैशिकी सास्यती आर्यदुलिमारभटीमिति ।

पठन्त पञ्चमी वृत्तिमौहूटा प्रतिजानते ॥६१॥

[हीन वृत्तियों को बताया जा चुका है।] बीबी भारती वृत्ति का मात्रकीय व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह केवल जाबज वृत्ति है। इन चारों के समाना कुछ भोग एक 'अर्थवृत्ति' नाम की पाँचवीं वृत्ति मानते हैं। इसके माननेवाले छद्मद घोर उतावे धनुषापी हैं। पर इस वृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका कोई उदाहरण मिलता नहीं है। और यह हास्य चाहि रत्नों में क्या भी नहीं हो सकती क्योंकि भारती के समान ही प्रसन्न होने की नीरसता स्पष्टसिद्ध है। धर्मान् काय्य होने के कारण भारती नीरस होती है क्योंकि रस तो व्यंग्य हो रहता है और उती के समान ही इस पाँचवीं को भी माने तो वह भी अपना हास्यादि रत्नों में कैसे रह सकेगी ?

साहित्य शास्त्र में काय्य का व्यवहार रसवान् के ही लिए होता है। नीरस के लिए नहीं होता। यद्यपि ही समझती, भारती घोर नीरस

वृत्ति भावना युक्तिर्धन्यतः ॥ ६०-६१ ॥

कौन वृत्ति किस रस में रहती है इस बात को बताते हैं—

शङ्कारे केशिकी घोरि सात्वत्यारभटी पुनः ।

रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६२॥

केशिकी वृत्ति शृंगार रस में सात्वती घोर रस में आरभटी रौद्र
घोर बीभत्स रस में तथा भारती वृत्ति सर्वत्र रहती है ॥ ६२ ॥

देशभाषाक्रियावेषनकारणा स्युः प्रवृत्तयः ।

लोकादेवावगम्यता यवौचित्य प्रयोक्षयेत् ॥६३॥

नायक आदि देश के भिन्न होने से भिन्न देश आदि में प्रवृत्त होते
हैं । अर्थात् जिस देश के नायक आदि होंगे उसी देश की भाषा और
वेश्य आदि करेंगे । पात्र जिस देश के नायक आदि का अभिनय करता
है उसी देश की भाषा वेश्य आदि का व्यवहार करता है । पात्र
को मौखिक व्यवहार आदि ज्ञान के द्वारा इस बात की जानकारी प्राप्त
कर वहाँ जैसा उचित हो वहाँ बसा करना चाहिए ॥ ६३ ॥

पाठ्य तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतस्मनसम् ।

निगिनीनां महावेश्या मन्त्रिबाबेश्वर्यो व्यवहित् ॥६४॥

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः क्षीरसेम्यमेषु च ।

कौन पात्र किस भाषा का प्रयोग करे, यह इस बात को बताते
हैं—श्रेष्ठ पुरुष महात्मा महाबारी संस्कृत भाषा का प्रयोग करें । कहीं-
कहीं महारानी मंत्री की लड़की और वेश्या भी संस्कृत में बोल सकती
हैं । स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिए । अधम लोगों के लिए
क्षीरसेनी भाषा उपयुक्त है ॥ ६४ ॥

प्रकृति कहते हैं संस्कृत को धर्तृ ससते पैदा होने के कारण देवी
भाषाओं को प्राकृत कहते हैं । क्षीरसेनी और मागधी अपने स्वाम पर
ही होती हैं । अर्थात् क्षीरसेनी मध्यम और मागधी अधम लोगों को
बोलनी चाहिए ।

पिशाचात्प्यमृतीचाचौ पैशाच्च मागध तथा ॥६५॥

यद्देशं नीचपात्रं यस्तद्देशं तस्य भावितम् ।

कार्यनदचोसमाशीनां कार्यो भाषाभ्यतिष्ठन् ॥६६॥

पिशाचों को पैशाची तथा अत्यन्त निम्नवर्ग के लोगों को मागधी मोलनी चाहिए । जिस देश का वह नीच पात्र हो उसको उसी देश की भाषा मोलनी चाहिए । कार्य धारि की बुद्धि से उत्तम लोगों की भाषा में भी व्यतिष्ठन् हो सकता है ॥ ६५ ६६ ॥

बुझानेवाले तथा सोसनेवाले के औचित्य का ध्यान रखकर बुझाने की बात या कौन किसे किस समय से सम्बोधित करे यह बात बताते हैं—
भययन्तो वरंर्वाच्या विद्वद्देवविनिगिनः ।

विभ्रामस्याप्रबाधचाऽर्था मटीसूत्रभूतो मिषः ॥६७॥

रघो सुतेन चायुष्मान् पूज्यं शिष्यात्मजानुजाः ।

वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिषस्तु सैः ॥६८॥

सम्जन सोय विद्वान्, देव, ऋषि ब्रह्मचारी इन लोगों को 'भययन्' कहते बुझावे और बाह्य भग्नरी तथा बड़े भाई को 'आर्य' कहते पुकारें । मटी और सूत्रधार आपस में एक-दूसरे को 'आर्य' कहते बुझावे । रघु हीकनेवाला रघु पर बड़े व्यक्ति को 'आयुष्मान्' कहते सम्बोधित करे । पूज्य सोय शिष्य पुत्र छोटे भाई इनको वस्तु और तात इन दोनों शब्दों में से किसी से पुकारें । और पूज्य सोय भी शिष्य धारि के द्वारा 'तात', 'सुगृहीतभामा' इन शब्दों से पुकारे जाएँ । पारिपात्रिक सूत्रधार को भाव और सूत्रधार उसे भाव कहते बुझावे ॥ ६७-६८ ॥

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्गत्प्येतेन सोऽपि च ।

देवः स्वामीति नृपतिम् स्वभट्टेति याधमः ॥६९॥

सूत्र राजा को देव और स्वामी कहे और अधम जन भट्ट कहें । नायक अपनी नायिकाओं को देवता, मध्यमा और अधमा को भैता बुझाता हो भैता ही बुझाये । विद्वान् और देवता धारि की शिष्या पति

की तरह देवर से भी सम्बोधित की जाएँ ॥ ६१ ॥

एक स्त्री दूसरे को क्या कहकर बुलाती है इस बात को बताते हैं—

आमम्प्रसीया पतिपञ्चमेऽमध्याधमे स्त्रियः ।

समा हतेति प्रेप्या च हृन्ने वेप्याऽऽबुक्ता तथा ॥७०॥

कुट्टिम्यन्धेत्यनुगतं पूज्या धा जरती जने ।

विदूषकेण भवती राज्ञी चेतीति शक्यते ॥७१॥

अपनी सहेलियों को हला प्रेप्या को हृन्ने बैर्या को अम्बुका कह कर पुकारे । कुट्टिनी अम्बा पूज्या और जरती इन शब्दों से पुकारी जाएँ ।

विदूषक राजी और चेती दोनों को 'भवती' शब्द से बुलावे ॥ ७०-७१ ॥

वेष्टानुलोपेऽक्षुतिसरवभाषानसोपतो नेतुवशाविभिन्नान् ।

को बकुमोशो भरतो न यो वा यो वा न

देवः शस्त्रिखण्डमौलि ॥७२॥

आचार्य मरुत और मगवान् शंकर के अलावा देता कौन होना जो वेष्टा कुल शास्त्रिक भाष और अनखित नायक और नायिकाओं की विभिन्न वेशाओं का वर्तन करने में समर्थ हो सके ? अर्थात् इनके वर्तन में मगवान् शंकर और आचार्य भरत के अलावा कोई भी समर्थ नहीं ॥७२॥

॥ ननम्बय के दशकपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

कहने का शास्त्र यह है कि संक्षेप में केवल एक रास्ता मर बिचला दिया गया है । अगर कोई चाहे तो इसका और भी विस्तार कर सकता है । सीला धादि को वेष्टा कहने हैं विनय धादि को नुन कहते हैं । उदाहृतम का अर्थ होता है संस्कृत और प्राकृत में बीसला । सत्य विकार रहित मन को कहते हैं । शास्त्रिक भाष मन की प्रथम विदूषक अवस्था को कहते हैं । इसी के द्वारा हाव धादि का ग्रहण होता है ।

॥ विष्णु के पुत्र धर्मिक के वेशक्यावसोक व्याख्या का नेतृ प्रकाश नाम का द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

तृतीय प्रकाश

यद्यपि इस प्रकाश में रस का ही बर्णन होना चाहिए क्योंकि वस्तु और नेता के वचन के बाद उषी का क्रम प्राप्त है, पर रस के विषय में बहुत कहना है इसलिए उसका छोड़ यहाँ (इस प्रकाश में) वस्तु नेता और रस इनका पृथक्-पृथक् नाटक में क्या उपयोग होता है इस बात को बताते हैं।

प्रश्न—रस के दस भेदों में से सर्वप्रथम नाटक को ही क्यों बताते हैं ?

प्रकृतितयावयाम्येषां भूधोरसपरिग्रहात् ।

सपूर्वसंक्षेपस्वात्म पूर्व नाटकमुच्यते ॥१॥

उत्तर—नाटक ही सब वचनों का मूल है एक तो यह कारण है। दूसरी बात यह है कि इसी के भीतर रसों का प्राकृत रहता है। इनके अन्तर्गत तीसरा कारण यह है कि सम्पूर्ण रसों के संक्षेप केवल इसीमें पटित होते हैं। इन्हीं कारणों से सर्वप्रथम नाटक के ही भीतर वस्तु, नेता और रस के उपयोग को बताते हैं ॥१॥

पूर्वरथ विनायात्री सुप्रचारे विनिगते ।

प्रविश्य तद्वचनं काव्यमास्थापयेत्त ॥२॥

नाटक में सर्वप्रथम पूर्वरथ होता चाहिए। पूर्वरथ के बाद सुत्रधार को घाना चाहिए और उसके चले जाने के बाद उषी क ही समान किसी प्रकारे गठ को रंगमंच पर आकर अभिनेय काव्य-कथा की सूचना सामानिकों को देनी चाहिए ॥२॥

[नाटक की मुख्य कथा के चारुण से पहलेवाले छारे वृत्तों को

पूर्वरंग कहते हैं। इसमें नाट्यप्रयोग की रचना प्रायः से लेकर देवस्तुति आदि सभी बातें आ जाती हैं।]

भक्तिकार बलिक का कहना है कि पूर्वरंग तो हुई नाट्यप्रयोग और उसमें होनेवाला प्रथम को प्रवेश है उसके आरम्भ को पूर्वरंगता कहते हैं। उसी पूर्वरंगता का सम्पादन कर सुषमार के चले जाने के बाद उसके ही बहस वैष्णव बेचनारी कोई दूसरा नट प्रवेश कर, जिसका अभिनय होनेवाला है, उस काव्य-कथा को सूचित करे। इस सूचना देनेवाले व्यक्ति को स्थापक कहते हैं क्योंकि वह सूचना द्वारा काव्य-कथा को सूचित करता है।

दिव्यमर्त्यं स तद्गुणो मिममन्यतरस्तयो ।

सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुख पात्रमथापि वा ॥३॥

स्थापक को यदि दिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो उसे दिव्य (विशेषता के) रूप से, और यदि अदिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो भद्ररूप से, तथा यदि मिममन्य वस्तु की सूचना देनी हो तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके सूचना देनी चाहिए।

यह सूचना चार बातों की होती है—१ वस्तु, २ बीज, ३ मुख और ४ पात्र ॥३॥

वस्तु की सूचना जैसे 'उद्यात्तराज' नाटक में—

“रामचन्द्र अपने पिता की आज्ञा को माना के समान शिरोधार्य कर ब्रह्म को बल बने। उनकी (राम की) भक्ति के कारण भरत ने अपनी माता के साथ अयोध्या के सम्पूर्ण राज्य को तिलाग्नि दे दी। मृगीय और विभीषण ने राम से मित्रता कर अत्यधिक सम्पत्ति को पाया। और यमराज में बुरे रहने वाले राजन आदि सारे धनु धनूता रखने के कारण विनाश को प्राप्त हुए।

बीज की सूचना का उदाहरण रत्नावली नाटिका का 'दीपादम्ब समाप्त' स्तोत्र है जिसका अर्थ पहले ही बताया जा चुका है।

मुख—जैसे 'जने सम्पकार वाले वर्णजिह्वा सभी राजन को मार

कर स्वच्छ चन्द्रमा का हास्य लिए हुए स्वच्छ-शरणागत-कपी राम प्रकटित हुए ।

पात्र-सूचना—वैसे 'अभिज्ञान साकुन्तल' में—

'तुम्हारे गीत के मनोहर राम ने मेरे मन को बसपूर्वक बेधे ही खींच लिया है जैसे वेग से बौझता हुआ यह हरिण राधा कुप्यन्त को ।'

रगं प्रसाद्य मधुरे दलोकैः काव्यार्थसुखकी ।

अतु कंचिदुपायाय भारती वृत्तिमाभयेत् ॥४॥

अभिनेय काव्यकथा जो जिससे ललित होती हो ऐसे मधुर दलों से साभाविकों को प्रसन्न करता हुआ किसी अतु की लेकर भारती वृत्ति का आनन्द करे ॥४॥

धवाहरचार्य—

'प्रथम सभासभ के मण्डप पर भगवान् शंकर से धारितष्ट पार्वतीजी पाप मोर्खों की रक्षा करें । पार्वती जो पति के पास जाने की तैयारी कर बल चुकने के बाद भी जो नबोड़ा धवस्वा के अनुकूल स्वाभाविक लज्जावश रोक दी गई थीर फिर स्त्रियों द्वारा अनेक प्रकार की निन्हा पाकर धिक्की के पास पहुँचा हो गई तथा बड़ी जाने पर शंकरजी के मधुर वचन के ललित हो गई थीर अनुरागवश उनके खटौर में रोमाञ्च हो भाए । इस अवस्था को प्राप्त भगवान् शंकर द्वारा आनिमित्त पार्वती पाप मोर्खों की रक्षा करें ।'

भारती संस्कृतप्रायो वाग्यव्यापारो नटाभयः ।

नेह प्ररोधनायुक्तर्चीवीप्रहसनामुक्त ॥५॥

भारती वृत्ति—नट के आनन्द करते होने वाले संस्कृतबहुला बाली के व्यापार को भारती वृत्ति कहते हैं । अर्थात् भारती वृत्ति यह है जिसमें बातचीत प्राकृत में होती है और जो नट के आविष्ट रहती है और जिसमें बाली की ही प्रधानता होती है, चर्च को नहीं ।

इसके चार धंग होते हैं—१ प्ररोधना २ चीवी ३ प्रहसन और ४ आभुज ॥५॥

उत्पत्तीकरणं तत्र प्रदांसात् प्ररोचना ।

प्ररोचना—प्रस्तुत की प्रशंसा कर सामाजिकों के भीतर उत्कृष्टा जागृत कर देने का नाम प्ररोचना है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सुनचार कहता है—

“मेरे सौभाग्य से नाटक में अर्पित सबी युग एक ही साथ मिल गए । इनमें से एक-एक वस्तु की वाञ्छित फल की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है और सब सब मिल जाएँ तो फिर क्या कहना ? हाँ, इन नाटिका के रचयिता स्वयं महाराज हर्ष हैं । सामाजिक (दर्शक) की शुभप्राप्ति है और कथावस्तु का सुनाव भी यही उत्तम है । कारण यह है कि इसमें वर्णित वात्सरज उदयन का चरित्र भी लोगों के मन को चुलनवासा (सुभाषना) सिद्ध हो चुका है तथा इसका प्रतिनय भी हम लोगों जैसे अनुर अभिनेताओं द्वारा किया जा रहा है ।

बीबी प्रवृत्तं चापि स्वप्रसंगेऽन्विधास्पते ॥६॥

बीबी और प्रवृत्त के बारे में आपे चलकर यही उसका प्रसंग प्राप्ता बताया जाएगा । बीबी के जो अंग हैं वही प्रामुख के भी हैं । अतः यहाँ पर प्रामुख होने के कारण बीबी के अंगों का वर्णन कर रहे हैं—

बीर्ध्यागाम्यामुसावस्यानुष्यन्तेऽत्रैव तत्पुन ।

सूत्रधारो नञ् मूले भार्ये वाय बिभूषकम् ॥७॥

स्वकार्यं प्रस्तुतालोपि जिघ्रोक्षत्या यतदामुक्तम् ।

प्रस्तावना या सूत्र स्युः कयोद्गमात् प्रवृत्तकम् ॥८॥

अयोगातिशयदवाध बीर्ध्यागामि ययोदश ।

प्रस्तुत विषय पर विचित्र पद्धतियों के द्वारा लक्ष्य, वारिपार्श्विक और बिभूषक इनमें से किसी एक से वातचीत करता हुआ सुनचार का वाग्विरह-पूर्ण अंग से वचक के धारक्य करा देने का नाम प्रामुख है । प्रामुख का दूसरा नाम प्रस्तावना भी है । प्रामुख के तीन अंग होते हैं—१ कयोद्गमात् २ प्रवृत्तक और ३ अयोगातिशय । बीबी के तेरह अंग होते हैं ॥७-८॥

स्वेतिवृत्तिसम वायव्यमर्षं वा यज्ञं सुजिह्वं ॥१॥

पृथोत्वा प्रविशोत्पार्श्वं कपोद्घातो द्विधव सः ।

कपोद्घात—अपनी कपा के ही सहस्र सूत्रधार के मुख से निकले हुए वायव्य वा अर्ष को ग्रहण करके पात्र के प्रवेश होने का नाम कपोद्घात है। यह दो प्रकार का होता है। पहला वायव्य ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना और दूसरा वायव्यार्ष ग्रहण कर पात्र का प्रवेश करना ॥१॥

पहले का उदाहरण है—

हीवाद्यन्वस्मादपि—

इसका अर्थ पहले चिया का चुका है।

वायव्यार्ष का उदाहरण जैसे 'बेचीरंहार' में सूत्रधार कहता है—

“सन्धि के हो जाने से तथा धनुषों के मट्ट हो जाने के कारण छान्त हो गया है अग्निद्वी द्वेय तिमका ऐसे पाण्डव मयवान् दृष्ट के साथ आनन्दपूर्वक विचारण करें और विग्रह-विहीन कीरव जिन्होंने प्रम पूर्वक प्रजा-पालन से समस्त सुमन्वस को बशीभूत कर लिया है वे भी अपने धनुषों के साथ स्वस्थ होंगे।

इसके बाद पूर्व-कथित वायव्य के अर्ष को लेकर भीम का यह कहने हुए प्रवेश करना—

जिन बृतराष्ट्र के पुत्रों ने माघ (माह) का घर बनाकर बिना निमा भोजन बैकर, छलने के लिए दूत का आयोजन करके हम सोमों के प्राण और वन हरण करने की चेष्टा की तथा जिन्होंने गरी सभा में हमारी स्त्री द्रौपदी के केशों और बस्त्रों को गीना के धरे जीते भी स्वस्थ कैसे रह सकते हैं ?”

प्रवृत्तक

कातसाम्यसमाश्रितप्रवेश स्यात् प्रवृत्तकम् ॥१०॥

सूत्रधार के द्वारा यज्ञ विशेष के वर्तन में समान गुरुओं के कारण जिसकी सूचना मिलती उस पात्र के प्रवेश करने की प्रवृत्तक कहते हैं ॥१॥

बैसे—पृष्ठ १८ की टिप्पणी में दिया था चुका है ।

एयोऽयमित्युपलोपात् सूत्रधारप्रयोगतः ।

प्राज्ञप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयो मतः ॥११॥

प्रयोगातिशय—अर्थात् सूत्रधार नहीं है किसी प्रत्यय को बर्णन करते हुए धर्मिनेय व्यक्ति का नाम लेकर संकेत करे कि 'अरे ये तो मैं ही हूँ' या 'बनके सनाम हूँ।' और उसके कथन के साथ ही उस व्यक्ति के धर्मिण्य करने वाले शत्रु का प्रवेश हो जाए उसे प्रयोगातिशय कहते हैं ॥११॥

बैसे धर्मिज्ञानसाधुत्तम का—“एष एवेव बुध्यन्ते”

यत्र बीबी के प्रश्नों को बताया था रहा है—

उद्घाट्यकावलीगते प्रपञ्चविग्रहे चक्षुः ।

वाक्केत्यभिधाने गण्डमयस्यम्बितनासिके ॥१२॥

असत्प्रसापव्याहारमृष्यानि जयोदस ।

बीबी के तेरह अंग होते हैं—(१) उद्घाट्यक, (२) धर्मलक्षित (३) प्रपञ्च (४) विग्रह (५) चक्षुः (६) वाक्केली, (७) अभिधान, (८) गण्ड, (९) अक्षयम्बित (१०) नासिका (११) असत्प्रसाप (१२) व्याहार, (१३) मृषा ॥१॥

गुडार्थपदपर्यायिमाणा प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥

यत्राम्योर्म्यं समासापो द्वेयोद्घाट्यं तदुच्यते ।

१ उद्घाट्यक—पुकारों की पर्यायवाचा (कम से एक के बाद दूसरे का आना) प्रश्नवा प्रश्नोत्तर जुबला (तांता) के द्वारा जो दो व्यक्तियों की बातचीत होती है उसे उद्घाट्यक कहते हैं ॥१३॥

प्रश्न का बड़ाहरण बैसे 'विश्वोर्षसी' नाटक में—

“विदूषक—हे मित्र वह कौन कामदेव है जो तुम्हें दुःख पहुँचाया करता है ? वह क्या पुत्र है प्रश्नवा स्त्री ?

रत्ना—मित्र ! मन से ही उसकी उत्पत्ति होती है मत मन ही सबकी भाति है ।

यह स्वच्छन्द रहता है और मुझ में ही इस पर चला जाता है ।
 स्नेह के इस प्रकार व समित मार्ग को ही कामदेव कहते हैं ।

विदूषक—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके
 लिए काम ही हो जाएगा ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—घबरी बात है तब तो मैं जान गया भोजनालय में मेरी
 भोजन करने की इच्छा का होना भी काम है ।

दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'पाण्डुराम्' काव्य में—'गुनीजन
 किस वस्तु के होने से बलाबलीय समझे बात है ? 'धमा' । घनावर किसे
 कहते हैं ? 'जो अपने कुलवालों के द्वारा किया जाए । कुछ किसे कहते
 हैं ? 'दूसरे के बच में रहना । ससार में कौन प्रसंखनीय है ? 'जो
 विपत्ति में पड़े लोगों को साधन है । मृत्यु किसे कहते हैं ? व्यसनों में
 फँसे रहने को । विमृष्ट रहित कौन है ? जिसने सन्तुष्टों पर विजय
 प्राप्त कर ली है । ऊपर कहे तन्म्यों से मुक्त कौन पुरुष है ? विपद्
 नगर में छिपे हुए पाँकों पाण्डव-युव ।

यत्रकत्र समानेक्षात् कायमन्यत्प्रसाप्यते ॥१४॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र चाप्यस्यात्तज्जावलगितं द्विधा ।

प्रवर्तित—(१) एक ही क्रिया के द्वारा जहाँ दो कार्यों की सिद्धि
 होती है तथा (२) अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते अन्य क्रिया जाए उसे
 प्रवर्तित कहते हैं । इस प्रकार अवलगित दो प्रकार का होता है ॥१४॥

उसमें पहले का उदाहरण जैसे 'उत्तररामचरित' में गर्मिणी सीता
 को अप्सरों के साधन बेचने की इच्छा होती है पर इस इच्छा की पूर्ति
 के बहाने फँसे हुए अप्सरा के कारण वह सद्यमन के द्वारा छोड़ दी जाती
 है । दूसरे भेद का उदाहरण जैसे 'छलितराम' में—“राम—सद्यमन ।
 पिताजी से रहित इस धनोप्या में विमान के द्वारा जाने में असमर्थ है
 अतः उत्तरराम वीरस ही बसता है ।

“अरे मिहासम के नीचे पापुतापी की धाये करके बैठ गया यम

मासाओं तथा बटानुओं से युक्त कील पुष्प सुसोमित हो रहा है ?”

यहाँ भरत के वर्धनकर्म कर्म की सिद्धि होती है।

असङ्कृतं मिथ स्तोत्र प्रपठन्वो हास्यहृन्मता ॥१५॥

प्रपठ—असत्कर्मों के कारण आपस में हास्योत्पादक प्रसंसा करने का नाम प्रपठ है ॥१५॥

असत्कर्म के ध्वंश परस्त्रीयमन में निपुण होना आदि बातें प्राप्ती हैं।

जैसे ‘कपूर-मंजरी’ में श्रीरामानन्द का यह कथन — ‘कील ऐसा ध्वंसित होया जिसको हमारा कील बर्म पसन्द न आए ? रखा (विषया) बंधा प्रवर्त्ति प्रवर्ध पठकमसाभिनी स्त्री ही तो हमारी शास्त्रविहित नारियाँ हैं। भिक्षाटन ही बीबिका का साधन है। बर्म का टुकड़ा ही हमारी लीमा है तथा मद्य भीर मांस ही हमारा पेय तथा साध पदार्थ है।

अुतिसाम्यादनेकार्थयोऽयम जिगते स्विह ।

नटादिभित्त्यासाप्य पुर्णरथे तविध्यते ॥१६॥

विपत्त—सब्यों की साम्यता अर्थात् जहाँ एक उच्चारण है वही सबों की योजना होती है उसे विपत्त कहते हैं। इसका आयोजन पूर्ण रूप में नष्ट आदि तीन पात्रों की बातचीत से होता है ॥१६॥

जैसे ‘विष्णुमोक्षी’ नाटक में— ‘क्या यह फूलों का रस पीकर महोम्मत्त मीरों की पुकार है या कोयल की मस्तानी कूक ? अथवा आकाश में देवताओं के साथ धाई हुई घण्टराओं की मीठी गान ?

प्रियाभरप्रियवर्णवैजिलोम्य क्षलनाचक्षुसम् ।

क्षलन—अगर से देखने में जो प्रिय लगे, वर हो प्रिय ऐसे वाक्यों द्वारा मुमा करके क्षलने (क्षपने) का नाम क्षलन है।

जैसे श्रीम-भर्जुन— ‘धूतकपी कपट का निर्माता नाच (साह) निर्मित मदन में भाव लगानेवाला द्वीपदी के कैवली भीर वर्यों के घण्टहरण करने में बामु के समान पराक्रम को दिखानेवाला पाण्डव जिनके पैरक हैं

और दुःसासन आदि सौ भाइयों में ब्येष्ट कर्म का मित्र बुर्यावन कहा है ?

विनिवृत्त्यास्य बास्केली द्विजि प्रत्युत्तितोऽपि वा ॥१७॥

बास्केली—इसके दो भेद होते हैं । पहले का लक्षण—प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाना या उसकी बदल देने को बास्केली कहते हैं ॥१७॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में बासन्ती राम से कह रही है कि आपने जिस सीता से यह कहा था कि 'तुम हो मेरा जीवन-सर्वस्व हो तुम्हीं मेरा दूसरा इष्ट हो तुम्हीं मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो और तुम्हीं मेरे धर्मों के लिए समुद्र हो उठी सीता को इस प्रकार से संकड़ों बाढ़ कारिता-भरी बातें करके और भरमाकर उछली जो दशा (आपके शत्रु) की मई उसका न कहना ही ठीक है ।

बास्केली का दूसरा लक्षण—दो-तीन व्यक्तियों की हास्यपुस्तक जित प्रपुक्ति को बास्केली कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावलीनाटिका' में—विदूषक—भदनिचे । मुझे भी यह बर्चपी सिखाओ ।

भदनिचा—मूर्ख इसे बर्चपी नहीं कहते यह तो छिपी छण्ड है ।

विदूषक—मजी तो क्या यह मद्दु बनाने के काम आता है ?

भदनिचा—ऐसी बात नहीं है यह पका जाता है ।

६७ शीम्ययावयाचिबयोस्तिः स्पर्धयाऽचिबसं भवेत् ।

प्रतिबल—दो व्यक्तियों का एक का दूसरे की ध्वेसा बहु-बहुतर स्पर्धा के साथ बात करने को प्रतिबल कहते हैं ।

जैसे 'बिभीसंहार' में धर्म्युन ना मृतराष्ट्र और माग्बारी के सामने अपना परिचय देते हुए यह कथन—

'मिस्के बस पर आपके पुत्र सम्पूर्ण धनुषों पर विजय प्राप्त करने की कामना समाए हुए थे मिस्के ग्रहकार से बिबि तिनके के समान विरहस्त हो चुका था उसी कर्म के सिर की बुद्ध के बीच काटनेवाला यह पाण्डु ना मध्यम पुत्र धर्म्युन आप लोगों की प्रणाम करता है । इसके बाद

भीम भी बृतराष्ट्र धीर गान्धारी को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

वहाँ से प्रारम्भ कर फिर दुर्योधन के इस कथन तक—“परे नीच मैं तेरे जैसा डीय होऊँगवाला नहीं हूँ किन्तु सीम ही तेरे भाई-बन्धु तुम्हें समराङ्गण के बीच मेरी गदा से टूटी पक्षियों के भयानक धाँप पय से घुसजित सीम ही देखेंगे।”

यहाँ पर भीम धीर दुर्योधन का एक-बुधरे के प्रति बढ़ बढ़कर स्वर्ण के साथ बाणमुख का होना ही परिचय है।

गण्ड प्रस्तुतसबन्धिमिन्नार्थ सहसोदितम् ॥१८॥

गण्ड—प्राकरस्थित विषय से सम्बन्धित मिन्नार्थ को प्रकट करने वाले त्वरावृत्त वाक्य को गण्ड कहते हैं ॥ १८ ॥

जैसे—‘उत्तररामचरित’ में—‘यह सीता वर की लक्ष्मी है, यह नेत्रों में प्रभुवसताका है इसका यह स्पर्श धीर में प्रचुर बन्धन का रस के समान है धीर यह बाहु-गले पर सीतल धीर कोमल मुक्ता-हार है। इसकी क्या वस्तु प्रियतर नहीं है? परन्तु इसका विषय तो बहुत ही असहनीय है।

प्रतिहाटी (प्रवेश कर)—महाराज उपस्थित है।

राम—धरि कौन उपस्थित है?

प्रतिहाटी—महाराज का समीपवर्ती सेवक दुर्मुख।”

रसोक्तस्यान्यथा व्याप्त्या यथावस्यन्वितं हि तत् ।

अवस्यन्वित—सात-साठ कहे हुए वाक्य का दूसरे ही प्रकार से दूसरी ही व्याख्या कर देने (लेने) को अवस्यन्वित कहते हैं।

जैसे—‘छलित राम’ नाटक में ‘सीता जब धीर गुण दोनों लड़कों से कहती हैं—बेटा तुम दोनों को कल दियोध्या जाना है। वही बाकर राजा को नम्रतापूर्वक प्रणाम करना।

सब—माताजी क्या हम दोनों को भी राजा के आश्रित होकर खाना पड़ेगा?

सीता—बच्चो वे तुम सोनों के पिता हैं।

भब—क्या रामचन्द्र हम सोनों के पिता हैं ?

सीता—(छाया होकर) केवल तुम्ही दोनों के नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के पिता हैं।”

सोपहासा भिगूठार्या मालिकेय प्रहेसिका ॥१६॥

मालिका—उपहासपूज गूड़ माकवाभी पहेली को मालिका कहते हैं। १६ ॥

बैसे ‘मुद्राराक्षस नाटक’ में—चर—घरे बाह्यण कुपित मत होओ सभी सब-कुछ नहीं जानत कुछ तेरे मुख जानते हैं और कुछ मेरे ऐसे व्यक्ति भी जानते हैं।

शिष्य—(नीच के साथ) क्या तू गुरुजी की सर्वज्ञता मष्ट करना चाहता है ?

चर—घरे बाह्यण यदि तेरा कुछ सब-कुछ जानता है तो बताए चन्द्र किसको प्रिय नहीं है ?

शिष्य—भूल इन बेकार की बातों की जानकारी की क्या आवश्यकता ?

इन बातों को सुनकर वाचस्प समझ गया कि इसके (चर के) कहने का तात्पर्य यह है कि मैं चन्द्रमुक्त के शत्रुओं को जानता हूँ।

असंवदकथाप्रायोऽतःप्रज्ञापो यथोत्तरं ।

अज्ञाप्रज्ञाप—असम्बद्ध है—बिना-बीर की बात कहने को अज्ञाप्रज्ञाप कहते हैं।

स्वप्न में बरठि हुए की पायल की जगमग की धीर शिष्य धारि की नहीं हुई छेदपटांग बातें हममें घाती हैं।

बैसे—“बामुक्ति सर्प के मुँह में हाथ दासकर मुँह को फँसाकर बिप से विभित दंतों को धंमुनी से टूटकर एक तीग जब सात छः हम प्रकार से चमरहित गिनी जाती हुई मयबाग्न स्वामि कातिकेय की वास्यावस्या की-छोवसी बोली घाप मोपी की रसा करे।”

धनवा वैसे—“राजा हाथ जोड़कर हुंस से कहता है—हे हुंस मेरी जिस प्यारी की नाम तुमने चुना भी है उसे मुझे लौटा दो क्योंकि बोर के पास यदि बोरी की हुई एक भी वस्तु मिल जाए तो उसे पूरे को लौटाना पड़ता है।

धनवा वैसे—कोई प्रसादी कह रहा है—

“मैंने पर्यंतों को काया है मैंने अग्नि में स्नान भी किया है इसके प्रसादा बड़ा विष्णु धीर दिव ऐसे पुत्रों को भी पैदा किया है। वस इसी क्षुभी में धान्य के साथ नाच रहा हूँ।

अथर्ववेद व्याहारे हास्यलोभकरं वचः ॥९०॥

व्याहार—दूसरे की प्रयोजन सिद्धि के लिए हास्यपूर्ण धीर लोभ जनक वचन बोलने को व्याहार कहते हैं ॥ ९ ॥

वैसे ‘मासविकामिनिमित्र’ में हास्य के प्रयोग के बाद मासविका बाना चाहती है उसको जाते देव विद्वपक कहता है—धभी नहीं पोंड़ी देर तक उपवेश मुनकर जाओ। यहाँ से शुरू करके [मन्त्रास धीर विद्वपक के उत्तर-अपुत्तर पर्यन्त] मन्त्रास विद्वपक से कहता है—भार्य यदि आपने इसके इस कार्य में कोई नमस्ते पाया हो तो कहिए।

विद्वपक—सर्वप्रथम ब्राह्मण की पूजा का विधान है, इसका भवस्व इन्होंने उत्सवग किया है।

यह मुनकर मासविका हँसने लगती है। यहाँ पर हास्य धीर लोभ कारी वचन कहे जाने का मुख्य सहेस्य नायक को विमर्श नायिका का दर्शन कपना है। अतः यह व्याहार है।

बोया गुरा गुरा बोया यत्र स्पुर्मूर्ध्वं हि सत् ।

मूदक—यहाँ बोय को घुस धीर गुल को बोय समझ जाता हो ऐसे बर्तन को मूदक कहते हैं।

वैसे ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ में सेनापति महाराज दुष्यन्त से कहता है—महाराज यह व्यर्थ की बात करता है। महाराज आप स्वर्ण शत पाण्डे का पुत्र देव ही रहे हैं—

घाघेट से बर्बाद हो जाती है, छोंद छोटी हो जाती है घरीर इनका घीर फुट्टीना हो जाता है (बुस्ती भा जाती है) पशुओं के मूँह पर जो मम घीर ओष दिखाने देता है उसका ज्ञान होता है घीर बनते हुए मक्यों पर बाण बनाने से हाथ सभ जाता है। जोम व्यर्थ में ही घाघेट को बुरा कहते हैं। मना इतना मनोजिगीवम घीर कहाँ भिन्न सकता है ?

घीर भी जैसे— 'इस बिबेता राजा पर तो जरा दृष्टिपाठ करिए, इसका बिबत राज्य घाघि के ऋग्घटों में पड़कर सर्वदा बसन्त बना रहता है घीर यह अनेक प्रकार के परिधम के कारण कष्ट सहता रहता है। बिन्ता के मारे इसे रात को भरपेट नींद भी नहीं आती। यह राज्य के मामलों में इतना खचक रहता है कि किसी पर बिश्वास नहीं करता।

यहाँ राज्य के गुण को शोष-रूप में वर्णन किया गया है।

अब एक ही पद्य में दोनों बायें अर्थात् शोष को गुण और गुण को शोष बताया जाता है—

सदाचार का पातन करनेवाले महारणा लोग सर्वदा आपत्तियों में ही पड़े रहते हैं। और सदा इस बात से संचिन्त रहते हैं कि कहीं कोई उनके चरित्र में शोष न निकलने दे। उनका जीवन ही सतत परोपकारपरायण रहने के कारण दुःखमय बना रहता है। इससे तो अच्छा सदाचारण दुःख का जीवन है—मूर्खों को कुछ अच्छा हुआ तो बुरा हुआ तो उन्हें दुर्घ-विपाद नहीं होता। इसलिये मेरी दृष्टि में क्या दुःख है, क्या अशुभ है इस ज्ञान से मुक्त व्यक्ति ही बच है घीर उसका ही जीवन सुगम है।"

एयाम यतमेनाथ माध चाक्षिष्य सूत्रभूत् ॥२१॥

प्रस्तापनाम्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपट्टप्रयेत् ।

उपमुक्त जाताए हुए बीबी के गर्भों में से किसी एक के द्वारा जन्म

१ यहाँ पर घाघेट का शोष गुण रूप से वर्णित है।

घोर पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में सूत्रधार को बला जाना चाहिए । और उसके बाद कथावस्तु का अभिनय आरम्भ हो जाना चाहिए ॥२१॥

अभिगम्यपुरुष्युक्तो धीरोबात- प्रतापवान् ॥२२॥

कीर्तिकामो महोत्साहस्वध्यास्त्राता महीपति ।

प्रध्यातबंशो राजपिबिध्यो वा यत्र नायक ॥२३॥

तत्प्रध्यात बिधातव्यं युक्तमबाधिकारिकम् ।

नाटक का नायक धीरोबात होना चाहिए । नायक के अन्दर अन्धे-अन्धे युक्त प्रताप और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य धत्ताष्ट सम्पन्न और वेद का रक्षक होना चाहिए । इसके अलावा उसका जन्म उत्तम वंश में होना चाहिए । नाटक का नायक राजा या राजपि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए ॥२२ २३॥

ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त नायक जिस प्रसिद्ध कथा में हो नहीं सके नाटक की प्राधिकारिक नथा नहीं जाती है ।

जिस इतिवृत्त (कथावस्तु) में सत्यवादिता कीटिस्परहित स्पष्ट नीतिवृत्ता आदि से युक्त राजा राजपि या दिव्य पुरुष का चरित्र वर्णन हो उसी प्रधान कथा को नाटक की प्रधान कथावस्तु रखना चाहिए । इसके अलावा एक बात इसमें यह भी है कि उस कथा का वर्णन रामा यत्र या महाभारत में अवश्य हुआ हो तभी वह धीर गुणों से युक्त होते हुए नाटक की प्रधान कथावस्तु हो सकती है ।

यतवानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥

विरुद्धं तत्परिस्थाप्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

उस कथावस्तु के भीतर यदि कहीं नायक के गुण या नाटकीय रस का विरोधी वृत्तान्त दिखाई देता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए अथवा यदि उसे वर्धन करने की इच्छा ही हो तो उसे ऐसे ढंग से वर्णन करे ताकि विरुद्धता न लक्षित होती हो ॥२४॥

जैसे उदात्त राजब' नाटक के प्रणेता ने अपने नाटक में छम के साथ बासि के बंध का वृत्तांत हटा दिया है। और 'महावीरचरित' नाटक में तो कवि ने इस प्रकार से वर्णन किया है कि बासि राजब का मित्र था और राम राजब कुछ में राजब की तरफ से राम से लड़ने गया था पर स्वयं मारा गया। इस प्रकार यहाँ पर कथा को ही धारणा करके वर्णन किया गया है।

प्राद्यस्तमेव निधिवर्य पञ्चधा सविभग्य च ॥२५॥

अथैव सधिसंज्ञाश्च जिभाषामरि कथ्येत् ।

नाटक की रचना करते समय जबि और अन्त का निश्चय कर प्राधिकारिक कथा को पाँच भागों में विभक्त कर प्रत्येक अर्थों की संधि संज्ञा देनी चाहिए। उसके बाद पाँचों अर्थों (संधियों) में से प्रत्येक को अनेक भागों में बाँट देना चाहिए ॥२५॥

अनुचित और विरोधी रसों को छोड़कर गुण सुचनीय और वर्णीय वस्तुओं का विनाश फल के अनुसार विहित बीज बिम्बु, पताका प्रकरी और कार्य इनको आरम्भ यत्न धारणाया नियतापि फलागम इन पाँच प्रवस्थाओं के अनुक्रम पाँच संधियों में विभक्त करना चाहिए।

चतुःपट्टिस्तु तानि स्युरङ्गामोत्यपर तथा ॥२६॥

पताकावृत्तमप्युनमेवाधैरनुसंधिमि ।

इसके बाद संधियों के प्रत्येक भाग को बारह, तीरह, चौदह इत्यादि भागों में विभक्त करना चाहिए। इस प्रकार से संधियों के ६४ अंग होते हैं ॥२६॥

ऊपर प्राधिकारिक कथा की बात या चुकी है अब कथावस्तु का दूसरा भेद अर्थात् प्रासंगिक कथा के बारे में बताते हैं।

अङ्गायत्र यथासाधमसंधि प्रकरी म्यसेत् ॥२७॥

प्रासंगिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है—१ वताका और २ प्रकरी। वताका में प्रपञ्च (प्राधिकारिक) कथावस्तु की धारणा कुछ

(एक हो या तीन) कम संघियों की रचना चाहिए। और प्रकरी में तो इतिवृत्त के घटि व्युत्पत्ति होने के कारण संघि की योग्यता ही नहीं है ॥२७॥

आर्यो विष्कम्भक कुर्याद्विक्रमं वा कार्यपुच्छितः ।

इस प्रकार से सब विनाय आदि कर चुकने के बाद प्रस्तावना के अनंतर काव्य-व्यापार को ध्यान में रखकर युक्ति के साथ आदि में विष्कम्भक या धंक की रचना करे।

विष्कम्भक और धंक की रचना किस प्रकार ॥ होनी चाहिए, इस बात को बताते हैं—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुः प्रसारणम् ॥२८॥

यदा सबक्षयेऽपेक्ष्यं कुर्याद्विष्कम्भकं तथा ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२९॥

आवादेव तथाङ्कः स्यादामुभाक्षेपसमयः ।

वस्तु के उस विस्तृत भाग को जो अपेक्षित भी हो और नीरस भी हो छोड़कर अवशिष्ट अपेक्षित भाग से विष्कम्भक की रचना होनी चाहिए। और वहाँ पर सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख में की गई सूचना का आशय लेकर धंक की रचना करनी चाहिए ॥२८-२९॥

प्रत्यक्षनेतुवर्णितो विष्णुध्यासिपुरस्कृतः ॥३०॥

अङ्को नामाप्रकारार्थसंविधानरसाधयः ।

धंक — इसमें नायक के कथों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। वह विष्णु के मतलब से पुस्तक तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन का करनेवाला तथा रस का साधन होता है। रस के साधन होने के कारण इसका नाम धंक पड़ा है ॥३०॥

इसके धंक नामकरण का तात्पर्य यह है कि जैसे उत्सव (पर्व) किसी बच्चे के बैठने के लिए साधन होता है, वैसे ही यह (धंक) भी रसों के बैठने (रहने) के लिए साधन होता है, इसीसे इसको धंक कहते हैं।

अनुभावविभावाम्यां स्थायिना व्यभिचारिभि ॥३१॥

गृहीतमुक्तं कर्तव्यमाङ्गमपरिपोषणम् ।

इसमें भी विभाव अनुभाव व्यभिचारोभाव तथा स्थायीभावों के द्वारा ध्वनी (प्रधान) रस को पुष्ट करना चाहिए। कारिका में 'व्यभि' यह आया है, इसका अर्थ है 'ध्वनी रस का स्थायीभाव'। 'गृहीतमुक्तं' का अर्थ है, 'परस्पर मिले हुए'। 'स्थायिता' का अर्थ 'अन्य रस का स्थायी' होता है ॥३१॥

न चातिरसतो वस्तु दूर विच्छिन्नतां भवेत् ॥३२॥

रस वा न तिरोबध्नाहस्तबसकारणक्षणा ।

नाटकों को रसपूर्ण तो होना ही चाहिए, पर रस का इतना प्राबल्य न होना चाहिए कि कथावस्तु का प्रवाह हो विच्छिन्न हो जाए और इसी प्रकार नाटक-रचना में वस्तु और ध्वनिकार तो रहना चाहिए पर ऐसा न हो जाए कि वस्तु और ध्वनिकार के हो बरकर न पड़कर रस ही गायब (नष्ट) हो जाए ॥३२॥

एको रसोऽङ्गीकृतयो वीर भृंगार एव वा ॥३३॥

अङ्गमन्ये रसा सर्वे कुर्यान्निर्वहण्येऽभुतम् ।

नाटक में प्रधानता एक ही रस की होनी चाहिए, वह चाहे भृंगार हो वा वीर ॥३३॥

[तत्पर्य यह है कि नाटक-भर में केवल एक रस की प्रधानता होती है] और नाटक में चाये हुए अन्य रसों को प्रधान रस के अंग रूप में ही रखना चाहिए। इसके धनाभा नाटक में कहीं निर्वहण संबंध का स्थान हो नहीं पर अद्भुत रस की रचना होनी चाहिए।

प्रश्न—यदि कोई यह कहे कि पहले ३१वीं कारिका में 'स्थायिना' (स्थायी के द्वारा) आया है उसका तो अर्थ 'अन्य रस का स्थायी' होता है इसलिए इस ३१वीं कारिका के द्वारा अन्य रसों को प्रधान रस का अंग होना चाहिए, यह बात नहीं वा सही है फिर यही पर

कारिका में फिर भञ्जमण्येरसा' सर्वकुप्याग्निर्बहणेऽधुमुत्तम' इत्यादि से उसी बात को बोलवाने से क्या लाभ है ?

उत्तर—ऐसी संका करना ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों स्थानों पर प्रथम-प्रथम सिद्धे जाने का भाव भी प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष है—जहाँ पर प्रथम रस का स्थायीभाव अपने विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव प्राचुर्य से वहाँ प्रथम रसों को प्रधान रस की संयुक्त प्राप्त होती है प्रथम का केवल स्थायी रहने पर तो व्यभिचारी भाव ही रहते हैं ।

नाटक में निम्नलिखित बातों को नहीं दिखाना चाहिए—

वूराध्वानं बभूवुर्दं राज्यदेवाविवि सत्तम ॥३॥

संतोषं भोजनं स्नानं सुरतं धनुते रत्नम् ।

प्रम्वरयहृत्पादोनि प्रत्यस्तापि न निबिधेत् ॥३५॥

दूर का रास्ता जब कुछ राज्य-विप्लव देख-विप्लव आदि और दूसरे राजा से किया गया नगर का घेरा भोजन स्नान सुरत धनुते रत्न और वस्त्रधारण करना इत्यादि इन सब बातों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए, किन्तु प्रवेक्षक आदि के द्वारा सूचित कर देना चाहिए । ॥३४ ३५॥

नायिकादिबन्धनं क्वापि त्याज्यमावश्यम् न च ।

कथावस्तु के प्रधान नायक की बन्धन दिखाने की बात दूर रही प्रवेक्षक आदि से भी उसकी सूचना न होनी चाहिए और आवश्यकीय देवकार्य पितृकार्य आदि को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए । इनका दिखाना आवश्यक है ।

एकाहाचरितैकार्थमित्यभासप्रमायकम् ॥३६॥

पात्रैस्त्रिचतुर्दशैरङ्गु तेषामस्तेऽस्य निर्गमः ।

एक दृश में प्रयोजन से सम्बन्धित, एक ही दिन की कथा होनी चाहिए । सात नायक को भी एक में अवश्य उपस्थित रखना चाहिए ॥३६॥

नायक के प्रतिरिक्त तीन या चार पात्रों को रखना चाहिए । घन्त में सबको (यहाँ तक कि नायक) को भी निकल जाना चाहिए ।

पताकास्थानकान्यत्र विन्दुरन्ते च योजयत् ॥३७॥

एवमङ्गा प्रकर्तव्या प्रवेशादिपुरस्कृता ।

पञ्चाङ्गमेतद्वर वशाङ्ग नाटक परम् ॥३८॥

इसी प्रकार घबोहित स्थान पर पताकास्थानक तथा बीज के ही तरह विन्दु को भी रखना चाहिए । विन्दु की रचना घंटों के घन्त में होनी चाहिए । इस प्रकार से प्रवेशक घाबि के साथ घंटों की रचना करनी चाहिए । नाटक कम-से-कम पाँच घंटों का तथा घबिह-से-घयिक रस घंठ का होना चाहिए ॥३७-३८॥

इसके बाद प्रकरण-नामक वपक-भेद को बताते हैं—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसम्ययम् ।

अनात्ययिप्रवर्तितामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥३९॥

धीरप्रसास्त सापाय धर्मकामार्थरात्परम् ।

शेष नाटकवत्सधिप्रवेशकरसाधिकम् ॥४०॥

प्रकरण—इसकी कथावस्तु लौकिक तथा कबिचित्त होती है । इसका नायक धीरसाम्प्र होता है । इसके नायक काट्टण मन्त्री वैश्य इनमें से कोई एक होते हैं । इसका नायक यथ धर्म काम धीर मोक्ष में लगे रहना है । यद् (नायक) विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए अपनी इच्छा-भूति में समा रहता है । इसमें (प्रकरण में) शेष बातें जैसे सन्धि प्रवेशक तथा रस घाबि को नाटक के सन्धान ही रखा जाता है ॥४॥

मायिका तु द्विधा भेदुः फुल्लो गणिका तथा ।

कचिदेकैव फुल्लो वेद्या ववापि द्वयं कञ्चित् ॥४१॥

कुसुमाभ्यन्तरा बाह्या वेद्या मासिक्तमोऽमयो ।

धामि प्रकरणं प्रेषा सन्धीर्ण धूर्तसफुल्लम् ॥४२॥

प्रकरण में नायक की गणिका कुलजा दोनों प्रकार की नायिका विहित है। कहीं पर कुलजा (कुलीन) कहीं पर गणिका और कहीं पर दोनों ही नायक की नायिका होती है। प्रकरण में तीन ही प्रकार की नायिकाएँ हो सकती हैं। इससे अधिक भेद नहीं किया जा सकता। इस नियम का उल्लंघन कदापि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रकरण के कुल तीन भेद हुए—पहला जिसमें कुलकन्या नायिका होती है वह कुछ भेद हुआ। जिसमें गणिका हो वह विहित तथा जिसमें दोनों हों उसे संकीर्ण कहते हैं ॥४१ ४२॥

धर्म पैदा करना ही जिसके जीवन का प्रधान कर्म है उसे बेव्या कहते हैं। इसीमें कुछ और विशेषता या बाती है तो गणिका शब्द से अभिविष्ट हो जाती है। जैसे कहा भी है—

सामान्य बेव्याओं में श्रेष्ठ, रूप धीस और पुणों से युक्त बेव्या समाज के द्वारा गणिका शब्द की स्थापना का प्राप्त करती है।

जैसे—‘सरंगवत्’ की नायिका बेव्या है ‘पुष्पहृदिका’ और ‘मासती माधव’ की नायिकाएँ कुलजा हैं तथा ‘मृच्छकटिक’ की नायिका दोनों (कुलजा और बेव्या) दोनों हैं अर्थात् संकीर्ण हैं। ‘मृच्छकटिक’ की नायिका वसन्तसेना नाम से बेव्या है पर उसका आचरण कुलजा-सा है। वह बेव्या-कर्म से बूना करती है और अपना जीवन एक कुलीन सती नारी की तरह धर्म चारदल से बिबाह कर बिताना चाहती है। यद्यपि इसमें दोनों का मिश्रण होने से संकीर्णता है। ‘मृच्छकटिक’ में बृत्त पुष्पारी बिट बेट धादि भरे हैं। ऐसे संकीर्ण प्रकरण में बृत्त पुष्पारी बिट धादि का वर्णन करना आवश्यक है।

सक्यसे नाटिकाप्यत्र संकीर्णग्यनिवृत्तये ।

नाटिका—नाटक और प्रकरण से विभित उपकण्य को नाटिका कहते हैं। नाटिका उपकण्यों के १८ भेदों में का प्रथम भेद है। नाटक और प्रकरण के संकीर्णों में से यदि कोई समझ जाए तो नाटिका ही एक मात्र संकीर्ण भेद है। अन्य उपकण्य (प्रकरणिका) नहीं। वस धर्म उप

वपकों की निर्मूलि के लिए धर्म उपवपकों के साथ इसे न रखकर नाटक और प्रकरण के बाब ही इसे रखा गया ।

कुछ लोगों का विचार है कि 'नाटक और प्रकरण के मिश्रित' नाटिका और प्रकरणिका दो भेद होते हैं पर धर्म मिश्रित करने सम्भव आए दो प्रसिद्ध नाटिका ही हैं प्रकरणिका नहीं ।

यद्यपि उपर्युक्त भरतमुनि-विरचित जनों की 'नाटी' संज्ञावाले काव्य के दो भेद होते हैं । उसमें का एक भेद प्रसिद्ध है जिसे नाटिका धर्म से कहा जाता है और दूसरा भेद प्रकरणिका है । इस प्रकार की व्याख्या कुछ लोग करते हैं सो ठीक है । कारण यह है कि मलय और मध्य के दोनों जब तक न मिलें तब तक बीच प्रामाणिक नहीं मानी जाती है । प्रकरणिका कह देने मात्र से उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है जब तक उसका मलय नहीं न पड़े ।

नाटिका और प्रकरणिका दोनों का समान मलय होने से दोनों में कोई भेद नहीं है । अगर कोई नहे कि प्रकरणिका और प्रकरण में वस्तु, रस और नायक एक ही जैसे होते हैं, यत् प्रकरणिका ही मानना ठीक है । सो इसका उत्तर यह है—तो फिर प्रकरण के अतिरिक्त प्रकरणिका को मलय मानना धर्म्य है क्योंकि दोनों एक ही चीज हैं । इसलिए नाटिका का नाम पुनः न गिनाने पर भी भरतमुनि ने जो मलय किया है उसका अभिप्राय यह है—'युद्ध मलय के' संकर से ही संकीर्ण का मलय स्वतः सिद्ध था फिर भी संकीर्ण का मलय भरतमुनि ने जो बनाया वह धर्म्य पड़ता है और धर्म्य पड़ने का आपन करता है कि संकीर्ण न यदि किसी की मयना हो तो वह नाटिका भी ही ।

नाटक प्रकरण के मल से कैसे प्रररजित बनती है इस बात को बताते हैं—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकाधायको मूप ॥४३॥

प्रयातो धीरसलितः शृङ्गारोऽङ्गी ससलणः ।

नाटिका का इतिवृत्त प्रकरण से और नायक राश आदि

लेना चाहिए । नायक को क्यातिलम्ब तथा सुम्बर लक्ष्मणों से मुक्त धीर
सहित होना चाहिए । नाटिका में प्रचाम रस भृंगार को ही रचना
चाहिए ॥४३॥

नाटक प्रकरण और नाटिका इन तीनों से वस्तु धारि के द्वारा
प्रकरणिका में कोई भेद नहीं है । अर्थात् इन तीनों में धारणवासी वस्तुओं
के प्रतिरिक्त प्रकरणिका में कोई भी विशेषता नहीं रह जाती । अतः
उसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । फिर भी—

तीप्रायसतुरङ्गादिभेदक यदि सेव्यते ॥४४॥

एकद्विष्यङ्गुत्पात्रादिभेदेनामस्तक्यता ।

अब कोई इस प्रकार से कहे— 'अंक धारि के भेद से प्रकरणिका
को नाटिका से अलग मानना चाहिए, क्योंकि नाटिका में स्थियों की
प्रधानता रहती है और कैंदिकी वृत्ति होती है और विमर्श सन्धि अति
अल्प तथा शेष चारों सन्धियाँ रहती हैं ।' तो इसका उत्तर यह है कि
यदि अंक पात्र धारि के न्यूनाधिक्य से भेद मानने लयेंगे तब तो रूपकों
के भेद की कोई सीमा हो नहीं रह जायेगी और ऐसा होने से बड़ा
घनत्व होगा । अतः प्रकरणिका को अलग मानने की कोई आवश्यकता
नहीं है ॥४४॥

नाटिका में और कौन-कौनसी विशेषता होती है या रहती है इस
बात को बताते हैं—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा मुपर्वदाब्जा ॥४५॥

गम्भीरा मामिनी कृष्णस्तद्वाम्नेतुसगमा ।

नायिको तावन्मो मुग्धा दिव्या आतिमनोहरा ॥४६॥

अस्त-पुरादिसव्यावासमा श्रुतिदर्शने ।

अमुरागो नवावस्थो नैतुस्तस्या ययोत्तरम् ॥४७॥

नेता तत्र प्रयत्नेत देवीत्रासिन शक्तिता ।

कैशिक्यङ्ग बहर्तुमिहय, मुक्तोर्करीय नाटिका ॥४८॥

नाटिका में महारानी राजवंश की प्रथमा नायिका होती है। यही ज्येष्ठा होती है। उसका स्वभाव गम्भीर होता है और वह सब-सब पर मान करनेवाली होती है। द्वितीय नायिका भी महारानी के ही वंश-परिवार की रहती है और उसके साथ नायक का मिलन कटिमाई के साथ हुआ करता है। नायक की दूसरी नायिका जिसके प्रेम में वह बीबला बना रहता है वह भी राजकुमारी ही होती है। इसका रूप अत्यन्त सुन्दर और मन को मोह देनेवाला होता है। जबस्या की दृष्टि से यह युग्म होती है। इसका सम्बन्ध राजमहल से बना रहता है। अन्त-पुर में बहके जाने पारि क देखने-सुनने से भावुक हुआ नायक पुरसी नायिका महारानी से छिपकर उरते-उरते उससे प्रेम करता है। यह प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। कैलाची वृत्ति के चारों धर्मों को नाटिका के चारों धर्मों से रचना करना चाहिए। नाटिका के भीतर चार अंक होने चाहिए ॥४३॥ ४४॥

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूत परेण वा ।

यत्रोपबर्णयेद्वैको निपुण पण्डितो विद ॥४६॥

सबोधनोक्तिप्रापुक्ती शुर्माकाशभाषितः ।

मूधयेद्वीरमृङ्गारो शौर्यसौभाग्यसस्तव ॥५०॥

भूमता भारतो वृत्तिरेकाङ्क वस्तु कल्पितम् ।

मुधनिमहसे साङ्के सास्याङ्गानि दशापि च ॥५१॥

भाव—इसमें केवल एक ही पात्र होता है। यह कोई बुद्धिमान कर्मकुशल विद होता है। यह अपने तथा दूसरे के गुणतापूर्ण कर्मों का वर्णन करता है। इसका वर्णन वार्तालाप के रूप में होता है। यह किसी व्यक्ति की कल्पना करके उसको सम्बोधित करके कुछ कहता है और उसका मन से कुछ उत्तर बिठाकर फिर उसका उत्तर देता है। इस प्रकार सम्बोधन और उक्ति-प्रापुक्ती के कारण उसकी कल्पित व्यक्ति से बातचीत चलती है। इस प्रकार की बातचीत को 'आवागमन' कहते हैं।

बहुते हैं। सौर्य और सोमाम्य के वर्णन द्वारा यह और और भृंगार रस को सूचित करता है। इसमें (भाव में) भारती कृति की अधिकता रहती है। यह एक का होता है और इसकी कथा अधिकल्पित होती है। इसमें मुक्त तथा निर्बहुस सन्धि अपने वर्णों के साथ रहती है।

इसके अन्तर्गत नाट्य के निम्नलिखित रस वर्ग भी इसमें व्यवहृत होते हैं ॥४६ ५१॥

तेयं पर स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।

प्रलम्बकस्त्रिभूषणं च सैन्यबाध्यं द्विगूढकम् ॥५२॥

उत्तमोत्तमकं च उक्तप्रत्युक्तमयं च ।

सास्ये बद्धाविधं ह्येतदङ्गनिर्बोधकम्पनम् ॥५३॥

नाट्य के वर्ग—ये रस वर्ग हैं—१ केयवर २ स्थित पाठ्य ३ आसीन ४ पुष्पगण्डिका ५ प्रलम्बक ६ त्रिभूषण ७ सैन्यबाध्य ८ द्विगूढक, ९ उत्तमोत्तमक और १० उक्तप्रत्युक्त ॥५२ ५३॥

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धबहुतसकरं ।

प्रहसन—भाव के ही समान प्रहसन भी होता है। भास के ही समान इसमें कथावस्तु, सन्धि सन्धियों के अब और नाट्य आदि भी होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—१ शुद्ध २ विवृत और ३ संकर।

पाञ्चगव्यप्रभृतिष्वेटीविटाकुसम् ॥५४॥

चेष्टित वेषभाषाभिः शुद्ध हास्यबोधोन्मिषम् ।

शुद्ध प्रहसन—पाञ्चगव्य बह्मचारी, संन्यासी तपस्वी पुरोहित, वैद, वैदी और विद्वद् इनसे मरा हुआ रहता है। भास को सीमा बाह्यण बह्मचारी, संन्यासी, तपस्वी, पुरोहित आदि हुआ करते हैं। इसका व्यापार वैद और वैदी के व्यवहार से युक्त होता है। इसमें ध्वनीरस (प्रधान रस) हास्य होता है। इसका उद्देश्य सामाजिकों के भीतर हास्य को फैला करना रहता है ॥५४॥

कामुकादिवचोपेय पण्डकञ्चुकितापस ॥५५॥

विकृतं सकराद्दीप्या सकीर्णं भूर्तसकुसम् ।

रसस्तु भूयसा नार्यं यद्विषयो हास्य एव तु ॥५६॥

विकृत ग्रहण—इस ग्रहण में नपु सक, कञ्चुकी और तपस्वी लोग कामुकों के वेश में तथा कामुकों की तरह बातचीत आदि व्यवहार करते दिखाए जाते हैं ॥५५॥

संकीर्ण—यह धूर्तों से भरा रहता है । इसमें लीची के तेरहों धूप रहते हैं । बोली के धर्नों की संकीर्णता के कारण ही इसे संकीर्ण कहते हैं । इसमें रस की प्रचुरता रहती है और हास्य के यहाँ भेद होते हैं ॥५६॥

द्विमे वस्तु प्रतिदं स्याद्वस्तुतयं कंक्षिणी बिना ।

नैतारो वेवग-धर्बयक्षरक्षोमहोरया ॥५७॥

भूतप्रेतपिशाचाद्या पोषशास्पन्तमुद्रता ।

रसरहास्यभृङ्गारं पञ्चमिर्बोपे समन्वितं ॥५८॥

मावेन्द्रजातसंग्रामकोपोद्भ्रान्ताविचेष्टितं ।

चन्द्रसूर्योपरागदध न्यारये रौद्ररसेर्जङ्गनि ॥५९॥

चतुरकुञ्चतु-सपिनिर्विमर्शो हिमः स्मृतः ।

हिम—हिम सर्पान् अनेक नायकों का संघात । इसकी कथावस्तु इतिहास-प्रतिष्ठ होती है । इसमें कंक्षिणी के जलावा जेप सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है । इसके मिठा वैवता पञ्चर्षं यक्ष राक्षस महोरय भूत प्रेत पिशाच आदि लोग रहते हैं । इसमें हास्य और नृवार के समावा देव यहाँ रसों का भी प्रयोग किया जाता है । यह माया इन्द्रजाल संग्राम कोप जगत् आदिको चेष्टाओं तथा सूर्यबहुल यौध पश्यन्त आदि बातों से भरा रहता है । इसमें बार एक और बार ही लम्बियाँ होती हैं । विपश्च सन्धि इसमें नहीं होती । इसमें प्रधान रस रौद्र रहता है ॥५७-५९॥

इन्द्रा में त्रिगुणाह में हिम क दन सद्यकों को कहा या इनलिए त्रिगुणाह को हिम कहा जाता है । भरतमुनि ने स्वयं त्रिपुरबाह की कथा

वस्तु को हिम की तुलना में दिखसाया है अर्थात् हिम का बराबरम
निपुणता है ।

व्यातेतिवृत्तो व्यायोगः व्यातोद्धतमराधयः ॥६०॥

हीनो परमविमर्शाभ्यां बीजा स्फुटिमववसा ।

अकोनिमित्तसपानो आमवगम्यमये यथा ॥६१॥

एकाहावरितकाकुलो व्यायोगो बहुभिन्नः ।

व्यायोग—इसकी कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है । नायक इति-
हास प्रसिद्ध और बीरोद्धत होता है । इसमें गर्म और विमर्श सन्धि नहीं
होती । इसमें हिम के समान ही रसों का सन्निवृत्त होता है अर्थात् जो
रस हिम में होते हैं वही इसमें भी रहते हैं । इसमें के सभी पात्र पुरुष
होते हैं । इसमें कुछ धारि भी रानी के लिए नहीं होता । इसमें एक ही
रस होता है और उसमें एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है । परा-
हरमार्थ—

सहस्राब्दं नै परशुराम के पिता जमदग्नि को मारा । सिता की मृत्यु
की खबर सुनकर प्रमुष्टि परशुराम ने सहस्राब्दं नै को मारा । इसमें (व्यायोग
में) पात्रों की बहुलता रहती है ।

व्यायोग शब्द का शाब्दिक अर्थ—“जिसमें बहुत पुरुष लगे हुए हों
ऐसे कार्य को व्यायोग कहते हैं ।” इसमें शृंगार और हास्य को छोड़कर
ये सब सब रसों का परिचाय हिम के सहज होता है ॥६०-६१॥

समवकार—इसमें नायक धारि के सहज आपुन रहना चाहिए ।
इसकी कथावस्तु वैभवा और समुद्रों से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध होती
है । विमर्श को छोड़ देव आरों कल्पिया इसमें होती हैं । इसमें सभी
वृत्तिरसों का प्रयोग होता है, किन्तु कौशिकी वृत्ति का प्रयोग अन्य हो मात्रा
में होता है । इसके नायक वैभवा होते हैं और उनकी कुल संख्या बारह
होती है । इनका चरित्र उज्ज्वल होता है । साथ ही वे और भी होते हैं ।
इन बारहों नायकों की पत्न-प्राप्ति भी नृपक-नृपक ही होती है । अर्थात्

समुद्र-मार्गन के समग्र में बिन्दु को सगुनी इन्द्र को रत्न देवताओं को प्रभुत, इत्यादि पुष्पक-पुष्पक फल की प्राप्ति होती है। इसमें घोर रत्न की प्रधानता रहती है घोर अग्न्य रत्न इसको पुष्ट करते हैं।

काय समवकारंऽपि ग्रामुसं भाटकादिबत् ॥६२॥

स्यात्तं देवासुरं बस्तु निबिम्बमर्शस्तु तद्यय ।

वृत्तयो मन्त्रकशिखयो नेतारो देववानवा ॥६३॥

द्वादशोवात्तविक्रयता कर्म तेषां पुष्पकपुष्पक ।

यहुवीररता सर्वे यद्वधम्भोधिमग्नये ॥६४॥

अंकीद्विमिस्त्रिरुपटकिम्बुङ्गारजिषिष्य ।

द्विसभिरक्षु प्रथमं कार्यो द्वादशनामिका ॥६५॥

अतुद्विनालिकायन्त्यो नामिका घटिकाउपम् ।

यस्तुस्वभाववैचारिकता स्यु कपटाक्षय ॥६६॥

मगरोपरोधमुद्धे नाताग्न्यादिकवित्रवा ।

धर्मार्थकामे मृङ्गारो नात्र विम्बुप्रवेशको ॥६७॥

वीम्बुङ्गानि ययासाम कुर्यात्प्रहसने यया ।

इसमें तीन धंक तीनों प्रकार के कपट और तीनों ही प्रकार के बिम्ब होते हैं। इसका पहला धंक बारह नामिका का होता है। इसमें दो संधियाँ होती हैं। दूसरा घोर तीसरा धंक अग्न्य चार घोर दो नामिका का होता है। एक नामिका (नादिका) दो घटी के बराबर होती है। प्रहसन के समान हो इसमें बीबी के धर्मों की रचना चाहिए। इसमें बिम्बु घोर प्रवेशक का रचना सर्वथा निषिद्ध है ॥ ६२ ६७ ॥

कपट—स्वाभाविक ईदिक कृत्रिम (उत्पन्न) इन दोनों के द्वारा तीन प्रकार का होता है।

विदम्ब (उपद्रव)—यह भी तीन प्रकार का होता है—१ पित्तनृत्त (मनुष्मन्त) २ अवेतनृत्त और ३ पित्तनावेतनृत्त। इसमें पहिले का

हरण जैसे—वायु के नगर चरने या भाग्यम करने के कारण भयदक प्रादि का होना ।

बूझने का उदाहरण जैसे—जल वायु धानि आदि के द्वारा बाढ़ आ जाना वर्षा का न होना भाग्यम जाना प्रादि । तीसरे का उदाहरण जैसे—हाथी प्रादि के छूटने प्रादि से उत्पन्न उपद्रव का होना ।

इसी प्रकार भुंकार भी तीन प्रकार का होता है—१ घम भुंकार २ घर्ष भुंकार और ३ काम भुंकार ।

ऊपर बताया हुए तीनों प्रकार के विद्वज्ज तीनो प्रकार के कपट और तीनों प्रकार के भुंकार के भेदों का सम्यक् समझकार के तीनों धर्मों में रखना चाहिए ।

समझकार उच्च का आधिक्य धर्म है 'सर्व नायकों के प्रयोजन का एकत्र रहना ।' वृष्टि समझकार रूपक में कई नायकों का प्रयोजन निहित रहता है अतः इसे भी समझकार कहते हैं ।

बीबी तु कीर्तिकीयुक्तो सध्यङ्गात्तस्तु भाणयत् ॥६८॥

रसं सूच्यस्तु भुङ्गाः स्युमेवपि रसांतरम् ।

मुक्ता प्रस्तापमाख्यातरङ्ग उद्धास्यकाविभिः ॥६९॥

एव बीबी विधातव्या बभ्येकयामप्रयोजिता ।

बीबी—इसमें बीबी भी मिली होती है । संविधा और उनके अंग तथा अंक भाग के समान ही होते हैं । इसमें अन्य रसों का निश्चित स्पर्श रहते हुए भी अवागता भुंकार रस की ही रहती है । इसमें पाव दो या एक होते हैं । पहले प्रस्तावना के भीतर बी बीबी के उद्घास्यक, अलक्षित प्रादि अंग पिनाए हैं वे सभी इसमें होते हैं ॥६८-६९॥

उत्सृष्टिकाङ्क्षे प्रव्याप्तं कुतं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥७०॥

रसस्तु कवणं स्यापी मेतारं प्राकृता मरुः ।

मास्यवत्संभियुत्यङ्गं युक्तः स्त्रीपरिवेजिते ॥७१॥

बाधा युद्ध विधासम्यं तथा जयपराजयी ।

शंक या परसुहिकाङ्क्षु—इसकी कथावस्तु प्रसिद्ध पर कवि-कल्पना द्वारा प्रति विस्तृत की हुई रहती है । इसमें त्रिर्यों के विनाश आदि का बखाना रहता है । इसमें कबल रस की प्रधानता रहती है । इसका नायक साधारण पुरुष होता है । जय और पराजय आदि का बखाना इसमें रहता है । युद्ध केवल वाली द्वारा प्रवर्णित किया जाता है, अर्थात् इसमें केवल मानवुद्ध दिखाया जाता है । धोर बातें जैसे संधि, वृत्ति और प्रग, इनको बाल के समान ही समझना चाहिए ॥७०-७१॥

निशमीहापृगे वृत्तं चतुरङ्गं त्रिर्त्तपिमत् ॥७२॥

नरविध्यावमियमाधायकप्रतिनायकी ।

व्यस्तो भीरोद्धतावनयो विपर्यसावयुक्तवृत् ॥७३॥

दिप्यक्षियमनिच्छस्तीमपहारादिनेच्छत ।

शृङ्गारानासमप्यस्य रिचिर्त्तिवित्प्रवशयेत् ॥७४॥

सरभं परमानीय युद्धं व्याजाप्रिवारयेत् ।

व्यप्राप्तस्य कुर्वीत धर्मं नञ् महारमन् ॥७५॥

ईहामुग—इसमें बार शंक तथा युद्ध, प्रतिमुक्त और निर्वहल के तीन सम्बन्ध होती हैं । इसके नायक और प्रतिनायक इतिहास-प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते हैं । इनको प्रकृति भीराद्धत होती है । प्रतिनायक विध्यावमिका को चाहता है और जब वह उसे धातानी से प्राप्त नहीं होती तो हारना करने पर तैयार जाता है । इसमें शृंगार रस का भी बखाना मोड़-मोड़ा होना चाहिए । इसमें युद्ध को सब तरह के सौपारी हो चुकने पर भी दिली बहाने से टल जाती है अर्थात् युद्ध होते-होते बच जाता है । प्रचरणात् इसमें महापुरुष का कथ यदि प्राप्त भी हो तो भी कदापि प्रवर्णित नहीं करना चाहिए । इसमें नायक हारिली के समान असम्य नायिका को चाहता है अतः इसे ईहामुग कहते हैं ॥७२-७५॥

इत्थं विचिन्त्य बधिरूपकमसममाग
 मात्तोक्थ्य वस्तु परिभाष्य कविप्रबन्धाम् ।
 कुर्याद्विग्रहस्तद्वर्त्तकृतिभिः प्रबन्ध
 यावयेद्वारमधुरैः स्फुटमम्बुतुलैः ॥७६॥

॥ अमजयकृत बधिरूपक का तृतीय प्रकाश समाप्त ॥

इस प्रकार बधिरूपकों के बतों पैरों के लक्षणों और उसके निर्माण के ईश और वस्तु वेचकर तथा महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन करके सरस छन्दों में कृत्रिमता रहित धर्तकारों जशर मधुर वाक्यों आदि के द्वारा प्रबन्ध की रचना होनी चाहिए ॥७६॥

विष्णुपुत्र वनिष्कृत बधिरुपावलीक नामक व्याख्या का लक्षण प्रकाश नामक तृतीय प्रकाश समाप्त ।

चतुर्थ प्रकाश

यब यही से रस के भेदों को बतावे हैं—

विभावानुभावश्च सात्त्विकमाद्यौ रसः स्मृतः ।

आनीयमानः स्वाद्यत्वात् स्वायीभावो रसः स्मृतः ॥१॥

विभाव, अनुभाव सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्टावस्था (स्वच्छता) को प्राप्त किया हुआ स्वायीभाव रस कहलाता है ॥१॥

आये वर्णन किए जाने वाले विभाव अनुभाव व्यभिचारी और सात्त्विक भावों के द्वारा काव्य में वर्णन और अभिनय में प्रदर्शन देख काव्य पढ़नेवालों और अभिनय देखनेवालों सामाजिकों को अपने हृदय में रहनेवाले स्वायीभाव (जिनका वर्णन आगे किया जाएगा) जब स्वाद करने के योग्य हो जाते हैं तो उन्हें रस की संज्ञा दी जाती है। स्वाद के योग्य बन जाने का अभिप्राय यह है कि काव्य पढ़ने और सुननेवालों और अभिनय देखनेवालों के चित्त में केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

यह परमानन्द काव्य और नाटक पढ़ने सुनने और देखनेवाले सामाजिकों में फैला करता है इसलिए सामाजिक रमिक बड़े आते हैं। इस प्रकार का आनन्द केवल चित्त के ही धन्द्वर हो सकता है। अचेतन काव्य आदि में यह रह नहीं सकता। काव्य की रस के पैदा करने में कारणता है न कि वह स्वयं ही रस है। 'रसवत् काव्यम्' 'रसवान् काव्य' है इस वाक्य में रसयुक्त काव्य का जो कथन है वह नाट्यमय है। जैसे पृथ की प्रायुर्वृद्धि में कारणता देय सोय प्रायुर्वृत्तम्' इस प्रकार

का प्रयोग करते हैं ठीक उसी तरह से रस के विषय में भी 'रसवान् काव्यम्' इस प्रकार का व्यवहार होता है। वस्तुतः काव्य रसवान् नहीं होता बल्कि हाते हैं सामाजिक।

आयमानतया तत्र विभावो भावपोषकः ।

आसम्बन्धोद्दीपनस्यप्रमेयेन स च विधा ॥२॥

विभाव—ज्ञान के विषयीकृत हो जो भावों का ज्ञान करार्ह और भावों को परिपुष्ट करे उन्हें विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—
१ आसम्बन्ध और २ उद्दीपन ॥२॥

यह ऐसा ही है यह ऐसी ही है' इस प्रकार का अतिशयोक्ति रूप में किया गया जो वर्णन और उससे उत्पन्न विशिष्ट रूप से ज्ञायमान जो आसम्बन्ध रूप नायक और नायिका और उद्दीपन रूप जो देश कास आदि उनको विभाव कहते हैं।

विभाव का ज्ञायमान अर्थ में जो व्यवहार किया गया है इसमें प्रमाण है—भरत मुनि का "विभाव इति विज्ञातार्थ इति" यह वाक्य। इन वाक्यों को ब्रह्मसूत्र उनके अन्वय आने पर रसों में विज्ञाया जायगा।

[क्या विभावार्थियों में वस्तुसूक्ष्मता है ?]

बाह्य वस्तुओं की प्रपञ्चा न रखनेवाले इन विभाव आदि का शब्द की उपाधि है। वस्तु से उन भावों का सामान्य रूप से अपने अपने सम्बन्धियों के द्वारा साक्षात् भावको के चित्त में स्फुरण कराने से आसम्बन्धन उद्दीपनत्व होता है। अतः इसमें वस्तुसूक्ष्मता का कोई स्थान ही नहीं है। इसी बात को भर्तृहरि ने भी कहा है—

'शब्द की उपाधि से प्राप्त स्वरूप वाले जो विभाव आदि हैं वे बुद्धि के विषयीकृत होकर जैसे राम बुद्ध्यन्त आदि को प्रत्यक्ष के समान ज्ञान कराने में कारण होते हैं।

वदसहस्रीकार ने भी 'ये विभाव आदि साधारणीकरण के द्वारा रस निष्पादन में साधन होते हैं' इस प्रकार से विभा है।

आत्मस्थ विभाव का उदाहरण जैसे 'बिक्रमोवसीय' नाटक में पुरुरवा उवशी को देखकर कहता है—“इसकी मृष्टि करने के लिए कौन प्रभा पति (उत्पादक) हुआ होगा ? कांति का बाता चन्द्रमा धमका शृंगार रस का एकमात्र रसिक स्वर्ध कासदव किन्ना बसंत भूतु ? क्योंकि बैर पड़ने से बदन और विषयो से जिसका कुतूहल घात हो गया है वह कुरामा मुनि ब्रह्मा भक्ता इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?

उद्गीर्ण विभाव का उदाहरण जैसे— 'जिसकी जाँगी में सारा विश्व धोकर स्फुल्ल कर दिया गया है और जिसकी प्रभा से सम्पूर्ण प्राकृतमण्डल बपूर के समान बलित हो गया है तथा जिसकी जाँगी के सीधे-सीधे स्फुल्लशलाका की स्वर्ण रत्ननेवास चरनों (किरणों) द्वारा यह विश्व कमलदल के बने हुए पिंजड़े के भीतर रहे हुए के समान प्रतीत होता है ऐसे चन्द्रमा का उदय हो रहा है ।

अनुभावो विकारस्तु भावसमूचनस्मक ।

अनुभाव—(१) आन्तरिक भावों की सूचना विनये मिलती है ऐसे (भ्रू कटाक्ष विशेष आदि) विकारों को अनुभाव कहते हैं ।

(२) सामाजिकों को स्वायीभाव का अनुभव कराते हुए जो रस को परिपुष्ट करे ऐसे भावों का बलाना और कटाक्ष विशेष करने आदि को अनुभाव कहते हैं । ये रसिकों के साधान् अनुभवकम के द्वारा अनुभव किए जाते हैं इसलिये इनको अनुभाव कहते हैं ।

(३) रति आदि स्वायीभावों ने परवान् इसकी उत्पत्ति होती है यह इनका अनुभाव कहते हैं ।

आन्तरिक भावों की सूचना जिससे मिलती है ऐम भ्रूकटाक्ष आदि विकारों को अनुभाव कहते हैं । अनुभाव की यह परिभाषा वा हो गई है वह मौखिक रस की दृष्टि से भी गई है । पर काव्य नाटकों के प्रतीकिक रसों के प्रति इन भ्रूकटाक्ष आदि की कारणात्ता भावही होती है । कहने का तात्पर्य यह है कि लोक में भ्रूकटाक्ष विशेष आदि ही अनुभाव हैं । नाटक आदि में अभिनय करणवाले नट इत्यादि क भ्रूकटाक्ष विशेष आदि से

नायक और नायिका के अन्तर्गत होनेवाले अनुभाव का अनुमान किया जाता है। इसलिये सौकीनिक रस की दृष्टि से झुकटाक विशेष ध्यानि की केवल कारणता है। शोक में ऐसी बात नहीं होती वहाँ तो नायक और नायिका प्रत्यक्ष ही रहते हैं अतः अनुमान करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनुभाव का उदाहरण जैसे मेरा (बनिक का) ही पक्ष—कोई सुनी किसी अत्यन्त सुन्दरी नायिका से उसके रूप-सम्पदा की प्रशंसा करते हुए कहती है— 'हे मुखे तेरे मुँह पर बार-बार बँमार्ई आ रही है स्तन प्रात बार-बार उल्लसित हो रहे हैं चंचल भीहि बार-बार धूम रही है, सारा शरीर पसीने से लज्जित हो रहा है, अत्यधिक उत्सुकता के कारण लम्बा दूर हो गई है सारे शरीर में रोमांच का प्राबुध्भाव हो गया है तु जिसके ऊपर कीर्तिशिल्प के स्वच्छ पंख के समुद्र अपनी सुन्दर स्वच्छ कटाक्ष उठा को फेंकती है, वह कोई अत्यन्त सुन्दर परम सौभाग्यशाली युवक धन्य है।'

इत्यादि बातों को रसों के प्रसंग में उदाहरणों के द्वारा क्रमानुसार स्पष्ट किया जाएगा।

हेतुकार्यात्मिनो सिद्धिस्तयोः सम्बन्धहारता ॥३॥

सौकीनिक रस के प्रति विभाव और अनुभाव का व्यपस में हेतु और कार्य-सम्बन्ध है अर्थात् सौकीनिक रस के प्रति विभाव तो हेतु और अनुभाव, कार्य होता है। ये बातें व्यवहार से अवगत होती हैं। इसलिये इनका प्रत्यक्ष से लक्षण देना ठीक नहीं है ॥३॥

कहा भी है— विभाव और अनुभाव शोक से ही सिद्ध है, ये दिन रात सौकीनिक व्यवहारों में धाया करते हैं और सौकीनिक व्यवहारों के द्वारा जाने वा सज्जे हैं इसलिये इनका पुनः लक्षण नहीं दिया जा रहा है।'

मुक्तपुष्पाधिकर्माधिक्यस्तज्ज्ञानभावमम् ।

भाव—अनुकार्य (राम धारि) को धामय बनाकर अर्णव मुक्त-मुक्त भावों के द्वारा भावक के चित्त के अन्तर्गत तद्-तद् भावों के भावन को ही भाव कहते हैं।

कहा भी है—‘भाषण की बात है कि रस से यह वस्तु भाषित (भावना के विषयीभूत) कर दी गई है इस गन्ध से यह वस्तु भाषित (सुगन्धित) कर दी गई है।’ इति ।

प्राचीन भाषायों के अनुसार “रसों को जो भाषित (घोंटा हुआ) बनाएँ उनका भाव कहते हैं। “कवि के अन्तर्गत रहनेवाले भाषों को जो भावना के विषयीभूत करें उनको भाव कहते हैं।

इस प्रकार से भाव के दो पृथक्-पृथक् सञ्चय किये गए हैं उनसे भेद भाव के लक्षण के विरोध को कल्पना करना उचित नहीं है क्योंकि इन दोनों न भावात्मक काव्य और भावात्मक अभिनय इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर उनके अनुसार क्रमशः एक-एक सञ्चय बनाए हैं। अर्थात् इसमें प्रथम मत भावात्मक काव्य की दृष्टि में रखकर तथा दूसरा भावात्मक अभिनय की दृष्टि में रखकर बनाया गया है। और (ध्वन्यकार ने) रसिकों के हृदय में रहनेवाले भाव की दृष्टि में रखकर अपनी भाव की परिभाषा की है। अतः विषय भेद के कारण ध्वन्यकार और प्राचीन भाषायों के लक्षणों में कोई विरोध नहीं है।

ये भाव व्यभिचारी और स्थायी भी होते हैं इनके विषय में अभी बताया जाएगा।

पुष्पभाषा भवभर्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सारिथका ॥४॥

सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तत्त्व तद्भावभाषनम् ।

सारिथक भाव—सारिथक भाव यद्यपि एक तरह से अनुभाव ही है, पर सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इनकी गणना ध्वन्य अनुभावों में पुष्प की जाती है ॥४॥

सरथ—दूसरे के गुण गुण आदि बातों में ध्वन्य अन्तःकरण को प्रयुक्त उनके अनुकूल बना देने का नाम सरथ है। किसी ने कहा भी है—सरथ विशेष प्रकार के मनोविकार को कहते हैं जो एकाग्रचित्त में उत्पन्न होता है। सरथ को इस प्रकार में समझा जा सकता है कि जब जब कोई दुपी हा जाता है अथवा अत्यधिक प्रसन्न हा जाता है

तो इत्यन्त उसकी धाँसी से धाँसू गिरने लगते हैं। इसलिए सत्य के उत्पन्न होने के कारण हमें सात्त्विक कहा जाता है। अथ प्रभृति जो भाव है उनकी दो मिश्रितियाँ होती हैं। यदि ये किसी धाँगीक भाव की सूचना देनेवाले हों तो अशुभाव अग्न्या सात्त्विक भाव हैं।

सात्त्विक भाव घाटप्रकार के होते हैं—

१ स्तम्भ २ प्रलय ३ रोमाञ्च ४ स्वेद ५ वैश्वर्य ६ वेपथु ७ अथ घोर ८ वैश्वर्य (स्वर भय)।

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चा स्वेदो वैश्वर्यवेपथू ॥५॥

अथुबस्वयमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निति न्याय्यता ।

प्रलयो नृपसमस्तस्य शेषा सुख्यस्तपस्यता ॥६॥

१ स्तम्भ—कर्मवृत्तियों के लिये व्यापार के अचानक रुक जाने का नाम स्तम्भ है।

२ प्रलय—सुखों को प्रलय कहते हैं जिसमें प्राप्ति अंतम्यरहित हो जाता है। उसकी चेतनता जाती रहती है ॥ ५ ६ ॥

घोर भयों को बचाने की कोई भावस्थवृत्ता नहीं है क्योंकि उनके नाम ही उनके भक्षण को समझने में समर्थ है।

सबका उदाहरण एक ही पद्य में ऐसे—कोई भूमी जिन्ही नामक को उसके बिरुद्ध में होनेवाली अपनी सभी की पीड़ा का वर्णन करती हुई सोम रही है— 'पसीने से शरीर का शरीरवासी वह मेरी सभी बार-बार तेरी याद कर काँप रही है उसका सारा शरीर रोमांचित हो रहा है, कष्टता-वश समस्त हाथ के मुखर निशामठ निशककर धीरे-धीरे घातक कर रहे हैं मुझ उसका कामा पड़ रहा है, मुर्छा बार-बार आ रही है घोर कहाँ तक उसकी पीड़ा का वर्णन कर कुछ केबरा इसमें ही बाध है समस्त सच्यो हो कि भोगो माँगी जो उसकी मुक्तकी सदा है वह प्रभ भेद धारण करने में असमर्थ है।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।

स्याद्विपुलमङ्गनिर्मन्ता कस्सोला इव वारिणी ॥७॥

व्यभिचारो का सामान्य बलाए—जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं और उसी में किसी होती रहते हैं, उसी प्रकार से रति आदि स्यायोभावों में जो भाव उत्पन्न होकर मष्ट होते रहते हैं उनकी व्यभिचारीभाव कहने हैं ॥७॥

निर्वेदात्तानि शङ्का धमयुनि भङ्गात्ता ह्यप्ययौ प्रपञ्चिता-

स्मात्सेव्यामवगर्था स्मृतिमरत्यमदा सुप्तनिद्रा विबोधा ।

वीडापस्मारमोहा समस्तिरसतावेपतर्का वहिस्त्या

व्याध्म्युमादी विद्यावेत्सुकचपसयुतास्त्रिधा देते प्रयत्नः ॥८॥

तत्त्वज्ञानापरोप्यविनिर्वेदः स्वावमाननम् ।

तत्र चिन्ताधुनिःश्यासत्वेवर्ण्योत्पन्नासदीनता ॥९॥

ये १३ प्रकार के होते हैं—१ निर्वेद २ स्तामि ३ शङ्का ४ धम ५ मुक्ति ६ भङ्गात्ता ७ ह्य ८ वेम्य ९ उग्रता १० चिन्ता ११ मात १२ धमयुता १३ धमय १४ गर्व १५ स्मृति १६ मरत्य १७ मदा १८ सुप्त १९ विबोधा २० वीडा २१ अपस्मार २२ मोहा २३ समस्तिर २४ सता २५ वेपतर्का २६ वहिस्त्या २७ व्याधि २८ व्याध्म्युमादी २९ विद्यावेत्सुकचपसयुता ३० त्रिधा देते प्रयत्नः ॥८॥

निर्वेद—तत्त्वज्ञान आपत्ति ईर्ष्या आदि कारणों से मनुष्य का अपनी अवमानना करना निर्वेद कहलाता है ॥८॥

इसमें मनुष्य अपने लीर तथा सभी लौकिक पदार्थों की अवहेलना करने लगता है । इन वृत्तियों में चिन्ता निद्रा उग्रता शङ्का धमयुनि-वर्ण्यता और वेम्य ये कारण प्रकट होते हैं ।

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद जैसे—

“अगर हमने सकल मनोरथों को सिद्ध करनेवाली लक्ष्मी को ही प्राप्त कर लिया तो जगत् क्या हुआ ? अगर हमने सकल रिपुमण्डलों

दंका—दूसरी भी क्रूरता या घपने ही दुष्पथहारों से सबकी हड हानि की जो घातका पैदा होती है उसे रोकना कहते हैं। इसमें धीर का कौरव और धृष्टका विन्यासुक्त हृदि मिलेप विन्यासा और स्वर-नेत्र आदि लघु लघु मिलते हैं ॥११॥

दुबरे की क्रूरता के कारण होनेवाली रक्षा जैसे 'रत्नावली' नाटिका में महापद्म उद्यम रत्नावली के बारे में कह रहे हैं—“वह इस बात से सचकित रहती हुई कि कहीं ये लीव राजा के साथ चलनेवाले मेरे प्रेम-वर्तिका को घालते न हों जगज्जगत् मुँह को छिपाए रहती है। और जब वो वा लीव लोगों को घात में बाधनीत करते हुए देखती है तो सोचती है कि शासन में सोप हमारे ही विषय में जानाफुसी न करते हों। इसी प्रकार से होसती हुई सचियों को देख ली वह सचकित हो जाती है कि ये सब मेरे जहाँ सम्बन्ध में हों रहती हैं। इन प्रकार से मेरी विवतता रत्नावली (सावरिका) रूप-धरेण में रहे हुए घातक से पीड़ा पा रही है।

अपने दुष्पथहार से होनेवाली रक्षा जैसे 'महावीरचरित' में—“जिसने पर्वताकार शरीरवाले मायिक तावका मुवाहु आदि राक्षसों का संहार किया है वही राजकुमार मेरे रूप के लिए सन्तापकारी हो रहा है।”

इसी प्रकार से धर्मों की भी समझ लेना चाहिए।

धर्म स्वेबोद्धमरस्यावे स्वेबोद्धिस्मिन्मर्मावयव ।

धर्म—धर्म रति आदि कारखों से जो बकावद उत्पन्न होती है उसे धर्म कहते हैं। इसमें पत्नीता आना अथवाधों में रति आदि का होना आदि भास होता है।

रास्ती के परिधम से होनेवाला धर्म जैसे 'उत्तरधर्मचरित' में—“राम सीता से कहते हैं—युव मार्ग में चलने के परिधम से घातस्वपुन्य कोनय और सुन्दर हृद आभिसर्गों से बाने यद् और परिमहित कमल की बगियों के सहस्र दुर्बल रंगों को मेरी छाती पर रखकर तो मई भी।”

रति से होने वाला भ्रम जैसे माण में—

‘मुरत परिधम से भीगी लम्बी सटबानी कामिनिर्वा भारी कृप
मार तथा प्रेम की पराकाष्ठा को पाकर थक गई ।

इसी प्रकार से धीरे बातों को भी समझ लेना चाहिए ।

सतोषो ज्ञानशक्त्यावेष्टुं तिरव्यप्रभोगकृत् ॥१२॥

धृति—ज्ञान अथवा दानित आदि की प्राप्ति से जो अप्रतिहत ज्ञान
का देनेवाला समोप उत्पन्न होता है उसे धृति कहते हैं ॥१२॥

ज्ञान से होनेवाला धृति जैसे ‘मर्तृहरिदसक’ में—

मैं बसकृत माण से प्रसन्न हूँ और तुम सबकी की प्राप्ति से । हम
दोनों ही प्रसन्न हैं, हम लोगों की प्रसन्नता में कोई अन्तर नहीं है ।
बात ठीक भी है बरिद तो वह है जिसके पास बिद्यास तुलना पड़ी हुई
हो । मन की प्रसन्नता ही प्रमान बस्तु है । मन प्रसन्न है तो कौन धनी
है ? और कौन बरीय ?”

दरित से होनेवाली धृति जैसे ‘रत्नावली माटिका’ में—

“राज्य अन्धी तरह में पीठ का चुक है ऐसा राज्य है । राज्य मंचा
सन का समस्त मार योग्य सचिव को सोन दिया गया है । अन्धी तरह
से पालन होने तथा राम आदि के अभाव में प्रजावर्ष प्रसन्न है ।
महापना प्रदान की पुत्री मेरी प्रियतमा बासबबला पास डी हैं । बसन्त
का मनोमोदक समय है तथा प्रिय मित्र तुम भी बितमान ही हो ।
इन प्रचार चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है । अब एसी परिस्थिति में
मदन-महानुभव अपनी इच्छा के अनुकूल पूर्ण समुद्रि को प्राप्त करे ।
उपपुंजा बातों में ऐसा भयना है मागी मेरा ही अस्वय मनाया जा
रहा है ।”

अप्रतिपत्तिजडता स्याद्विष्टानिष्टदानभृतिभि ।

अमिमिदनयननिरीक्षणसूक्ष्मभाषाव्यसतम् ॥१३॥

जडता—जिसी इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु को देखने और सुनने आदि
से कुछ शक्तों के लिए कार्य करने की योग्यता के जो जाने को बढ़ता

कहते हैं। इसमें पलकों का न गिरना और मूक हो जाना यादि सबकुछ दिखाई देते हैं ॥१३॥

इस दर्शन से होनेवाली अकृता, जैसे 'कुमारसम्भव' में—

'पार्वतीजी की सखियाँ उन्हें सिखाया करतीं कि देखो सखि डरना मत और जैसे-जैसे हम सिखाती हैं जैसे-ही-जैसे आकाले चंकरबी के साथ करना पर इतने सीखने-पढ़ने के बाद भी वे सिनबी के सामने पहुँचते ही घबरा जातीं और सखियों की सब सीख उनके ध्यान से उतर जाती थी।

अलिङ्ग के सबकुछ से होनेवाली अकृता, जैसे 'उद्योत-राघव' नाटक में—

'राघव—ऐसे-ऐसे बीर राससों को बिनके सेनापति प्रसिद्ध योद्धा सररूपण बिन्दर यादि वे किसने मारा ?

दूसरा—बसुन्धरी नीच राव ने।

दूसरा—बिना देखे ममा किसको बिस्वास होया ? देखो हमारी सभा की रथा—धीम कटे हुए सिरबामे मुरों का समूह रक्त में डूबा हुआ पड़ा है तथा उनके कब्रियों का डेर ताल इतना ऊँचा दिखाई पड़ रहा है।

प्रथम—निश्च यदि ऐसी बात है तो फिर हम लोगों के लिए क्या करना उचित है ?" इत्यादि।

प्रसस्तिरत्सबादिभ्यो हर्षोऽभ्युत्थेवगाक्षया'।

हर्ष—प्रिय का आगमन पुनःअम्भ इत्यादि वात्सलों से चित्त के प्रसन्न हो जाने का नाम हर्ष है।

इसमें भाँकों में भाँसू का या जाना पसीना निकलना मसृम वचन शोभना इत्यादि अनुभाव परिसंस्थित होते हैं। जैसे—

"प्रोपितपठिका का पति जब ऊँट की सवारी से उसके पास पहुँचा तो वह मारे लुपी से भाँको में प्रमथन मरके पति के माहून की सेवा में यह साधकर लप गई कि इसी ने प्रियतम को इस विद्याभ बरकर भूमि की पार करने में सहायता की है। फिर क्या था, वह जस्ती से पीछे, धमी तथा करीर के पत्तों को तोड़-तोड़कर घास बना-बनाकर

जिसान सभी धीरे साथ ही प्रति-पादरस्य अपने जीवन में उमर के बचने के केजों पर सभी हुई धम की धीरे धीरे पौछने सभी ।”

निर्देश की तरह “सकी (हृय की) धीरे बातों की भी जान मेना चाहिए ।

दीर्घरयाधरनीजस्य वैम्यं काष्ण्यामृताविमत् ॥१४॥

वैम्य—दृष्टिगत धीरे तिरस्कार आदि से होनेवाली चित्त की उदासीनता का नाम वैम्य है । इस दृष्टा में मनुष्य के चेहरे का रस पीला पड़ जाता है धीरे बहनों की मतिनता आदि बातें देखी जाती हैं ॥१४॥

जब कोई बूढ़ा मोघ रही है—“मरे पति एक ता बूढ़ा हुआ अपने घर के कम मजान पर ही पड़े रहता है उनमें जनोपार्जन का सब पुनर्पार्य रह नहीं गया है । घर में केवल धूल ही मात्र बच पाया है । और इसर बरकात का समय भी आ गया है । लड़का कमाने के लिए परदेस गया पर कुछ भेजना तो घर की बात रही अभी तक उसने कोई बिट्टी-पत्री भी नहीं भेजा । बड़े दल के साथ देने एक मारी तैल मरके गया रहा तो नी देव दुर्बिपाक स कृष्ण रह निदसा सब क्या करे ? यदि कहना है कि माग अपनी गर्भमार में धलसाई हुई पुत्रवधु को देख ऊपर कविन काठों को साथ-साथकर बहुत देर से रा रही है ।”

मोर बानों को पहले ही के समान समझना चाहिए ।

दुष्टेऽपराधोर्मुस्यदीर्घदशव्यस्वमुपता ।

तत्र स्तेदगिरःकम्पतजनातादनादय ॥१५॥

उपता—जिसे कुछ के दुष्कर्म दुर्बचन क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रघट हो जाने को उपता कहते हैं । इसमें वेद का धाना कटुबचन बोमना तिर नीरना बूढ़े को मारने पर उताव होना धीरे लज्जना आदि पाया जाना है ॥१५॥

जैसे महावीरचरित्र में परशुराम—“लक्ष्मियों पर प्रबुद्धि हा देने इसकीम पात्र उनका संहार किया कीर संहार करन समझ उनके गर्भ में

पड़े हुए बच्चों को भी खुरेब-खुरेबकर मार डाला और जानियों के रक्त से भरे हुए तामाबों में मैंने अपने पिता के आखिरी संस्कार को सम्पन्न किया। इस प्रकार के मेरे कर्मों को देखते हुए भी मेरा स्वभाव क्या अभी तक प्राणियों से अविदित ही है ?”

ध्यानं विम्लेहितानाप्ते शुभ्यताइवासतापकुद् ।

बिन्ता—इस वस्तु के न प्राप्त होने पर जसीके विषय में ध्यान बने रहने का नाम बिन्ता है। इसमें परार्थ के न मिलने से जीवन का सुख मालूम होना सर्व का खोर है जलना शारीरिक ताप का बढ़ जाना प्राणि जाते पाई जाती हैं।

बिन्ता—जैसे कोई बूढ़ी प्रियतम के विषय से दुखी किसी प्रोपित पति का से कह रही है—“हे बड़ी-बड़ी आँखोवासी तुम अपनी पपनियों के भ्रमभाव में मोती की स्पर्धा करनेवाले स्वच्छ धीमधों को भरकर और हृदय में भयवान् संकर की हँसी के समान स्वच्छ मनोहर हारों को पहनकर, तथा कोमल-कोमल कमलनास के बसय (बिजायठ) वाले अपने सुन्दर हावों के ऊपर मुख को रखकर किस परम सीमाभ्युपगामी के विषय में सोच रही हो ?

अथवा यह बूढ़ा उवाचुरज—

“हट गया है विषय-वासनाओं से मन बिनका और बन्द हो गए हैं कमल के समान तेज बिनके बार-बार जल रही है स्वास प्रच्छ्वास किया बिनमें इस प्रकार की असह्य वस्तु का ध्यान करनेवाली वाता की बच्चा योगी के समान हा पर। [बोपियों की तरह नेत्रों को मूँदकर बार बार सिसकती हुई एकमात्र प्रियतम के विषय में सोच रही है।]

गञ्जितायेमन-लोमस्त्रासोऽमोस्कम्पितादयः ॥१६॥

बास—बादल के गर्जन तथा ऐसी ही अल्प मयप्रण यद्वानों से जो शोक उत्पन्न होता है उसे बास कहते हैं। इसमें कल्प प्राणि का अना देखा जाता है ॥१६॥

यका माय में—

बचन पोठी (प्रोष्ठी) मछली किसी सुन्दरी के उर युग्म में एक बार छू गई। डरकर वह रमणी नागा प्रकार की घंगरमियाँ बिखाने लगी। आश्चर्य है कि रमनियाँ बिना कारण बिभासनीमा में घुस्य हो जाती हैं तो फिर कोई कारण मिल जाय तो फिर क्या कहना ?

परोत्कर्षाक्षमासुषा गपद्यौर्जन्यमम्युजा ।

बोवोक्तयवत्ते छुद्रुटिमस्युकोयेङ्गितानि च ॥१७॥

असुषा—दूसरे की सम्पत्ति न सह सकने का नाम असुषा है। इसमें दूसरे के सम्यक् बोध मित्रासना व्यवसाय, बोध गीह का बढ़ना तथा सम्यक् बोधगुणक केष्टाएँ दिखाई देती हैं। यह तीन कारणों से हो सकती है १ धन से २ बुद्ध स्वभाव से तथा ३ श्रेष्ठ से ॥१७॥

गर्भ से होनेवाली असुषा जैसे 'बीरचरित' में—कोई राजब किर्त्ती से कह रहा है—

“मेरे स्वामी राजब ने सीतावर्षी फल की प्राप्ति के लिए निकुञ्ज बनकर याज्या भी की पर वह उन्हें न मिलकर स्वामी के बिरुद्ध साबरण करनेवाली राम की मिल गई। अब यह बात समझ में नहीं आती कि राम के मान और यश की वृद्धि और अपने हाथ का तथा शिवियों में राज उम सीता को दूसरे के हाथ में देय संसार के स्वामी राजब कैसे वर्णित कर सकेंगे।”

बुद्ध स्वभावबल होनेवाली असुषा जैसे—

“यदि तुम्हें दूसरे के गुणों को देख ईर्ष्या पैदा होती है तो फिर गुणों का ही अपार्जन क्यों नहीं करता ? हाँ इतना सत्य रती कि तुम दूसरे के यश को निम्ना के द्वारा भीगहों सकते। अगर तुमने अपनी इच्छा न प्रकाश्य ही दूसरे से हथ करना नहीं छोड़ा तो गुह्यता परिचय जैसे ही बेवार हो जाएगा जैसे मूय की बिरणों को रोदने के लिए हाथवर्षी छान का प्रयोग।”

श्रेष्ठ से होनेवाली असुषा, जैसे ‘अपमनातक’ में—

कोई पुरुष अपनी स्वनीय स्थिति का वर्जन अपने मित्र से कर रहा है—

“जब मैं अपनी प्रिया के पास गया तो बातचीत में अपना क मेरे मुँह से अपनी मूठन प्रेमसी का नाम आ गया फिर मैं मन्त्रों के भारों नीचे मुँह करके कुछ बोल ही मूठमूठ का निकलने लगा। सम्योगवश ऐसा हुआ कि मेरे हाथों ने बनायास ही ऐसी रेखा चीज की जिससे वही रमणी जिसका नाम मुँह से पहले आ चुका था परिनिमित्त होने लगी। उसका शरीर के सब अवयव हूबहू वैसे ही आ गए। फिर क्या था वह रेखा सरी बहीबी के पास कोच से आल हो आए धीरे धीरे अपने घोर घेस के साथ बाकी भी गद्गद होकर निकलने लगी घोर चित्त को दिखा दिखाकर लगी कहने—आश्चर्य की बात है कि इनकी कसई लुप्त गई। यह तो वही रमणी है जिसके विषय में मुझे बहुत दिनों से सन्देह बना हुआ था। उस क्या था उतने बह्मस्व स्वल्प अपने बाएँ पैर को मेरे चिर पर पड़ ही तो दिया।

अधिष्ठापयमानावेरमर्षो भिनिविष्टता ।

सत्र स्येवक्षिर-पश्यतर्जनाताडनादयः ॥१८॥

अमर्ष—क्षिती के दूरे बचनों अपनी क्षिती के द्वारा किए गए अपने मान शक्ति के कारण प्रतिकार में उस व्यक्ति से बचना मेने की आज्ञा को अमर्ष कहते हैं। इसमें पसीने का आना तिर की कंफकी बर्तना पुस्तक अपने मारपीट करने का उतावलापन इत्यादि बातें होती हैं ॥१८॥

वैसे ‘महावीरचरित’ में रामचन्द्र का परशुराम के प्रति यह कथन—
‘पूजनीय के सम्मान के प्रतिष्ठापन के असम्भव भले ही मुझे प्राप्त रिक्त करना पड़े पर मैं इस प्रकार ने अवग्रहण कपी महाव्रत को हूषित कहापि नहीं कर सकता।

अथवा वैसे ‘बेनीसंहार’ में— ‘आपक आज्ञास्मरण कपी जब मैं खड़ा हुआ मैं ऐसी सम्मानना करता हूँ कि आज्ञापालनरत भाइयों के बीच निम्ननीय भले ही समझा जाऊँ पर आज्ञा के साथ रजिस्त्र से सिद्ध

गदा को घुमात हुए तथा कीरवों का संहार करते हुए धाव एक दिन के लिए न ता घाय मेरे अग्रे आता है और न मैं घायका अनिष्ट भाई ।”

गर्वोऽभिजनसावध्ययनदवर्षाविभिर्मयः ।

कर्मप्याययस्यायता सयिलासाङ्गुलीक्षणम् ॥११॥

गर्व—अपने घेष्ठ कृत सुन्दरता, ऐश्वर्य पराक्रम आदि से होनेवाले मय को गर्व कहते हैं । दूसरे को घुला की दृष्टि से देखना तथा अपमान आदि करना इस अवस्था में देखे जाते हैं । साथ ही गर्वित पुरुष में विनाशपूर्वक अपमं अर्थों को देखने की बात भी पाई जाती है ॥११॥

जैसे ‘महावीरचरित’ में—रामचन्द्र परशुराम के आने पर मय विह्वल क्षत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहत हैं—‘हे क्षत्रियो डरकर क्षयना छाड़ दो निर्भय हो जाओ क्योंकि मुनि के साथ-साथ ये वीर भी हैं ऐसे पुरुष का सम्मान मुझे प्रिय सपता है । उपस्मा के बारे में चिन्ता हुई है और विनयी और वन के एवं से पुत्रसा र्ही हैं भुआएँ विनयी ऐसे परशुरामजी का सत्कार करने में मैं रघुज्योत्पन्न रामचन्द्र नाम का क्षत्री क्षमर्ष हूँ ।”

अथवा जैसे उसी ‘वीरचरित’ का यह पद—‘बाह्यजाति कमर्यामा’ आदि ।

[इसका अर्थ शिरीष प्रकाश में वीरोदात्त नायक के उदाहरण में बताया जा चुका है]

सहस्रशामधिस्ताद्यः सस्कारास्मृतिरयः च ।

जातरवेनार्यभासिण्यां च ससुम्भयनादयः ॥१२॥

स्मृति—पहले की देखी हुई पद्यों के सहस्र विधो अल्प वस्तु को देखकर संस्कार के द्वारा मन में उस पहली देखी हुई वस्तु का जो रूप सिद्ध आता है उसे स्मृति कहते हैं । इस वया में भीहों को तिरोडना आदि नारा देते जाते हैं ॥१२॥

जैसे—सीता को हरण कर से जाते हुए जटायु को देख रावण की यह चपलता है—

“क्या यह मैलाक तो नहीं है जो मेरे रास्ते को रोक रहा है ? (फिर सोचकर) पर उसको इतना चाहत कहाँ ? क्योंकि वह तो इन्द्र के बन्ध से ही बरता है । और यह यक्ष है ऐसा भी अनुमान करना ठीक नहीं ॥ कारण वह अपने प्रभु विष्णु के साथ मेरे पराक्रम को जानता है । (फिर सोचकर) घरे, वह तो बूढ़ जटायु है जो बुढ़ावस्था के बघोझत होकर (बुढ़ावस्था में कुछ ठीक नहीं रहती यही तात्पर्य ॥) अपनी मृत्यु चाह रहा है ।

अब बाँझे ‘मासतीमाचन’ में माचन—

‘जीन किशो प्रतिदिनित्त चिचित्त ऊँची उमारिकें खोदि गई है ।

पापित बज्जर सेपसों का पिपकाइ, बी बीन समान गई है ॥

कै चित पाँचहुँ बानन सों बकि सुन्दर काम ने ठीक ठई है ।

सोच निरन्तर तनु के आस सिई बुनिकें यह प्रम मई है ॥

मरण सुप्रसिद्धादमर्षत्वाच्च लोच्यते ।

मरण—मरण के सुप्रसिद्ध तथा अनर्बकारी होने से इसकी परिभाषा नहीं हो जा रही है ।

जैसे—

“पति के जाने की तिथि को विचार से उसके जाने का रास्ता या जगह ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही । कुछ क्षण तक इस प्रकार के कार्यक्रम को जारी रखने के बाद काफ़ी देर तक बैठकर उसने कुछ सोचा और उसके बाद बीड़ा में जानेवाली कुररी पक्षी को आँगुनों के साथ सन्धियों को समर्पित करके बट धात्र के साथ माधवी मठा क कल्याणपूर्ण पाणिग्रहण-संस्कार को सम्पन्न किया ।”

इस प्रकार से भूमार रत्न के धातुगर्भ के रूप में बहूँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ वास्तविक मरण का न दिखाकर मरण का नेत्रन आभास-मात्र ही दिखाना चाहिए ।

मृगार रस को छोड़ अन्य रसों के लिए कवि को पूरा स्वतन्त्रता है।
ह जिस प्रकार का चाहे वर्णन कर सकता है। जैसे 'महावीरपरिच'
—'माय जोग जरा ताकका को तो देखो—'रामचन्द्र के बाभों के
उसके हृदय के मर्मस्पर्श में सग आने से उसके सग रंग हो गये हैं और
उसकी नासिका की दोनों काहों से एक ही जैसा बुदबुद शब्द करते हुए
एक गिर रहा है। इस प्रकार वह एक तरह से मर-सी गई है।

हयोत्कर्वो मयः पामात्स्वस्तबद्धयधोगति ॥२१॥

निद्रा हासोऽत्र दक्षित श्येष्ठमध्याधमाविपु ।

मद—मदिरा आदि मादक पदार्थों के पान से उत्पन्न होनेवाली
अव्यक्त प्रसन्नता को मद कहते हैं। मद के कारण जब जागृती पति
विधिस पड़ जाती है। मद्यप सोम उत्तम, मध्यम और अथम तीन प्रकार
के होते हैं। उत्तम—मद्य पढ़ने पर सो जाते हैं। मध्यम थोड़ीबाले
हैं—मद्य पढ़ते हैं और अथम थोड़ीबाले रोने लगते हैं ॥२१॥

जैसे 'माय मे—

"बिसाही राज्य के समान गई मस्ती में अधिक सारा में (श्रीकाशों
के समान) भीसा मनोहरहास्य वाग्यों का कौशल तथा नयनों में विशेष
विकार भांती बकुलों में उत्पन्न कर दिया है।

सुप्तं निद्रोऽत्र तत्र श्वासोच्छ्वासक्रियापरम् ॥२२॥

सुप्त—निद्रा से उत्पन्न होनेवाली अवस्था को श्वासावस्था
(सुपुप्ति) कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास चलता है ॥२२॥

जैसे—

जों के पैर के कोने में पड़ी हुई छोटी बूटिया के भीतर गये बाभों
के गुपारों के बिछोने पर लटे हुए कण्ठ दम्पति की नीर को मृग
मन्दन की उल्लास के कारण रैतावय तुपार रंग कर रहा है ॥

मनःसमीकर्तृ निद्रा चिन्तासंशयममाविभि ।

तत्र सुम्भाङ्गादिमीलनोत्सवतावयः ॥२३॥

निद्रा—चिन्ता घामरस थकावट आदि से मन की क्रियाओं के रुक जाने को निद्रा कहते हैं। इसमें जगदी का जाना सपनों में घनदारी, घाँसों का बस हो जाना बड़बड़ाना आदि बातें पाई जाती हैं ॥२१॥

जैसे—

कोई पुरुष मन-ही-मन सोच रहा है— 'मर खं घमसाई हुई घोर नींद के कारण घापी मूँची हुई प्यारी के मुँह से निकलते हुए वे शब्द जो न सार्बक कहे जा सकते हैं और न निरर्थक ही इतन दिन के बाद भी भाव मरे हृदय की कुछ विचित्र स्थिति कर रहे हैं।

प्रथम जैसा 'माघ' में—

'काई पहरा बेनेबाला घपसा पहरा समाप्त करके निद्रा सेने की इच्छा से बूझते प्रहरी को 'जाय-जाग' ऐसा कह-कहकर ऊँचे स्वर से बार-बार बगाने लगा। उसको उस बूझते प्रहरी ने निद्रा के बंध में होकर अस्पष्टाक्षरों में अचानक माघ से बाग-बार उत्तर दिया परन्तु वह जाग न सका।

विबोध-परिणामावेस्तत्र कुम्भासिमवने ।

(१) विबोध—नींद के कुल जाने को विबोध कहते हैं। इस दशा में जगदी घाला घोर घाँसों का घमसा आदि क्रियाएँ होती च्छती हैं।

जैसे 'माघ' में—

कुराचारविभिर्बाह्या बाधुर्भाभावस्तमुन्मयेत् ।

साधीकृताङ्गायरणवर्ण्योमुक्ताविमि ॥२४॥

(१) वीडा—कुराचार आदि कारणों ॥ वृद्धता के घमाव का नाम वीडा है ॥२४॥

जैसे 'प्रमत्तक' में—

'प्रियतमा का पति जब उसके बस्त्रों में लज जाता है तो वह लज्जा से मुख को नीची कर लेती है और जब वह हटाव घासिमन को उधत होता है तो वह अपने घनों को सिकोड़ लेती है। सपनों से मुक्तान

के साथ देखी जाती हुई वह प्रियतम के घनेक प्रयत्नों के बावजूद भी मोक्षने प्रथमर्ष ही रहती है। इस प्रकार से तबेसी बहुत प्रियतम के प्रथम परिहास के प्रवसर पर सज्जा के मारे प्रन्तर ही-अन्तर नहीं जा रही है।

प्रावेक्षो ग्रहभुसाक्षरपस्मारो यथाविधि ।

भूपातकम्पप्रस्वेदसासाफेनोद्गमादयः ॥२५॥

अपस्मार—ग्रहों के योग से बिपत्ति तथा घम्य कारण से उत्पन्न आक्षेप को अपस्मार कहते हैं। इस वक्ता में पृथ्वी पर गिर पड़ना बलौना बहने लगना छाँस का खोर-खोर से चलना धीरे मुख से कंन का निकलना इत्यादि बातें होती हैं ॥२५॥

जैसे 'माघ' में—

“समुद्र पृथ्वी को आनिगन किये हुए था चंचल बाहुओं के समान उसकी बड़ी-बड़ी तरंगें इधर-उधर पड़ रही थीं वह उल्लस उग्र कर रहा था धीरे धम केंक रहा था। ऐसे उस समुद्र को श्रीकृष्णजी ने मृपी के रोगी के समान समझा।”

मोहो विक्षिप्ता मोतिनु सावेदामुपिस्तान् ।

तन्नामानभमापातभूर्णनादर्शनादयः ॥२६॥

मोह—अप्य कुछ आक्षेप तथा स्मरण करने आदि के कारण उत्पन्न हुए बिल के बिलप को मोह कहते हैं। इस वक्ता में अज्ञान भ्रम आघात घूर-घूरकर देखना आदि भल्लन दिखाई देते हैं ॥२६॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

“कामदेव को मृत देख उसकी स्त्री रति भ्रुण्णित होकर गिर पड़ी। उसकी इन्द्रियां स्तब्ध हो गईं, धीरे ऐसा जान पड़ा मानो ममबाद मे रुपा करके उसकी देर के लिए पति की मरु का आन हटकर उसे डूब से बचाये रखा।”

अथवा जैसे उत्तररामचरित में—

‘गुहारे प्रत्येक स्थान में इन्द्रियमनुह को बुझ करनेवाला विष्म

मेर मान को कभी विरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है । यह (निकार) सुख है या दुःख मूर्च्छा है या निद्रा विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न भद ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है ।

भ्रान्तिज्ज्ञेयोपबोधाभ्यां शास्त्रावेस्तत्पक्षीमतिः ।

मति—शास्त्र आदि के उपदेश हैं अथवा भ्रान्ति के नद हो जाने से भी तत्त्वज्ञान होता है उसको मति कहते हैं ।

जैसे 'किराताजु'नीयम्' में— 'बिना विचारे कोई भी कार्य न कर क्योंकि विचार करके न करना ही सब विपत्तियों का स्थान है । इसके सिवाय दुःख का मोक्ष करनेवाली सम्पत्तियाँ कुछ ही विचारकर काम करनेवाले के पास आ जाती हैं ।

और भी जैसे—

'पण्डित लोग भट्टपट कोई कार्य नहीं करते और किसी की बात को सुनकर पहले वे उसके उत्तर की छानबीन करते हैं और फिर उस उत्तर को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ-साथ दुष्टों के भी प्रमोदन को विवृण्वते हैं ।

आत्मस्य अमगमविर्ज्जयमुन्मासितादिमत् ॥२७॥

आत्मस्य—बड़ाबड़ पन का भार आदि के कारण उत्पन्न जड़ता को आत्मस्य कहते हैं । इस वस्था में जँघाई आती है और पड़े रहने की इच्छा बनी रहती है ॥२७॥

जैसे मेरा ही पक्ष— 'बड़ बड़ी मुश्किल न किसी प्रकार पतली फिरती है और ससिया के द्वारा पूछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ उत्तर देती है । इस प्रकार ऐसा जयता है मानो धर्म के भार से अमगम हुई सुम्बरी हमेशा बँडे ही रहना चाहती है ।

आवेगं सन्नमोऽस्मिन्मभिसारजनिन शास्त्रभागाभियोगो
यातात्पामूपद्विधस्तत्परितपवगतिर्भवेत्ते पिण्डिताङ्गः ।

उत्पातास्त्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते लोकहर्षानुभावा

वक्ष्ये धूमाकुलास्य किरणमनु मयस्तन्मकम्पापसारा ॥२८॥

भाव—यन के लक्षण को धारण कहते हैं। यह कई कारणों से होता है, जैसे—राम-विष्णु से वायु के प्रकोप से, वर्षा से जलाना प्रकार के वस्तुओं से अनिष्टवासी वस्तुओं से द्रष्ट वस्तुओं से अग्नि से, हाथी से, इसी प्रकार अन्य कारणों से भी होता है ॥२८॥

राम विष्णु या धारण से होनेवाले धारण में धारणाओं का रूढ़ना और हाथी-घोड़ा आदि का सजाया जाना होता है।

वायु के (धूम) द्वारा हान वाले धारण में धूम-वृद्धि हो जाना तथा बली-बस्ती बनना आदि बातें होती हैं।

वर्षा से होनेवाले धारण में शरीर को चिकनाई सेना होता है। उत्पादों से होनेवाले धारण में धर्मों में धिक्कता आ जाती है।

द्रष्ट से होनेवाले धारण में हृदय और अनिष्ट से होनेवाले में शोक परिलक्षित होता है। अग्नि से होनेवाले धारण में धूम के कारण धूमकृता आ जाना देखा जाता है।

और हाथी के द्वारा होनेवाले धारण में मय स्तम्भ कम्प और भावने का प्रयत्न देखा जाता है।

राम-विष्णु से होनेवाले धारण का उदाहरण—“बस्ती धारण बस्ती धारण लोगों को तैयार करो धरे अस्त्र मुझे तलवार दो कटार और कबज को मागो। धरे क्या मेरे शरीर में बाध भी मय दया? इस प्रकार के वचनों को धारण के अंग में छिप हुए राम स्वप्न में धारण के दर्शन-धाम से धारण में चिन्ताने मगते हैं।” इत्यादि

और भी—“शरीर का रक्त नवच कहाँ है? कबज कहाँ है? अस्त्र कहाँ है? इत्यादि वचनों को कहते हुए प्रसिद्ध धारण के और धर्म देखे गए।”

प्रश्न—“ये धारण-कम्पाएँ जो शरीरों के धारणवालों में अत सीध रही भी महता उमे छोड़ धारण हो गया है? धारण के

बन्ध भी बूझों के ऊपर चुप्पी साँस पड़ रहे हैं। इसके जसावा तपस्या में रत बानप्रस्थ भी धपनी सुमाधियों को मंत्र करके पौर के धधमान पर लड़े हो धपने घासम से ही बेच रहे हैं।”

जानी से होनेवाला आशेष—

धीसे—‘हवा के झोंकों से उत्तरीय बस्य हजर-उभर बिखर जाता है।

बर्बा से होने वाला आशेष—

जैसे—‘मूसलाधार कुष्ठ में मोहन बनाने के लिए घग्नि की खोज में स्त्रियाँ कीचड़ के डर से छलकों (बीच-बीच में रखी हुई इटों आदि) के ऊपर पैर रखकर घौर पानी से बचने के लिए सूप की छतरी घोंट कर घोरिवीनी के पागो को हाथ से फेंक-फेंककर एक घर से दूसरे घर आ रही हैं।

उत्पात से होनेवाला आशेष—

जैसे—‘राज्य की मोटी-मोटी भूबाधों के द्वारा सठाए हुए नैसास के हिलने से बचस नभबानी शिवा पारंगती के साथ झूठ-झूठ के दिवसा-बटी कोप के बहाने घालियनपुत्रक भववान् लंकर का हँसना घाप लोको का कस्याय करे।

अहित अर्थात् अविष्ट के द्वारा होनेवाला आशेष बचने और सुनने दो कारणों से होता है। जैसे उदात्तराज्य में—विजय (केम के साथ)—मगवान् रामचन्द्र रक्षा नहीं रक्षा करो इत्यादि।

किर मृगरूप को छोड़ पिछला मयानक खीर बनाकर इस राक्षस के द्वारा मुद्र के विषय में समर्पित लक्ष्मण ने जाए आ रहे हैं।

राम—‘अमर का समुद्र अर्थात् अत्यन्त निरर लक्ष्मण इस राक्षस में भयान्वित है यह कैसे हो सकता है? और इतर यह कहनेवाला व्यक्ति भी बरा हवा-सा कह रहा है इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि क्या सच है और क्या झूठ? और जानकी को धकेले छोड़कर जाना भी उचित नहीं है क्योंकि बुद्धजनों ने मुझसे यह कहा है कि अक्स जानकी का मत छोड़ना। इस प्रकार से अकुसाई हुई मेरी बुद्धि न ठा

जाने ही के लिए निर्णय ले रही है और न करने ही के लिए । क्या एक कुछ समय में नहीं आता ।

इष्ट-प्राप्ति से होनेवाला आशेष—

जैसे—वहीं पर (पटासोप के साथ समान्त बानर का प्रवेश) महाराज ! पद्मसूत हनुमान के धामन में उत्पन्न प्रह्व प्रह्व है । इत्यादि से धारण कर 'महाराज के हृदय को धामन देनेवाला मधुवन विदित कर दिया गया । यही एक ।

अथवा जैसे 'महावीरचरित' में—

पूर्विका के अन्त के समान रघुबन्धु को धामन देनेवाला अन्त रामचन्द्र धामो धामो मैं तुम्हारे मस्तक को चूमता तथा धामन करना चाहता हूँ । मेरे मन में आ रहा है कि तुम्हें अपना हृदय में रखकर दिन रात सोया कर अथवा कभराबन्धु करणों की ही धामना कर ।

अग्नि से होनेवाला आशेष—

जैसे—'विपुरासुर के नगर के दाह के समय भगवान् शंकर के घर से निकली हुई अग्नि वही की वृद्धियों के धर्मों में लग जाती है ता वह उस भटकरकर आप बड़ी है । वह धामे बड़े नपती है ता वह उनके धामन को पकड़ लेती है और यदि किसी प्रकार इससे भी वह निकलती है ता वहाँ में लग जाती है और यदि वहाँ की उनको जाग मिल गया तो वह वेरो में लग जाती है । इन प्रकार सब अपराध किये हुए अपराधी के समान धामन करनेवाली भगवान् शंकर की अग्नि धाम लोगों के पापों को नष्ट करे ।"^१

१ संस्कृत में अग्नि शब्द पुस्तिका है पर हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग । यदि वे अग्नि को लम्पट-गुण रूप में वर्णित किया है, इसलिए हिन्दी में यद्यपि अग्नि को स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग दिया गया है पर धर्म समाप्त समय जादूओं को पुस्तिका ही लम्पट लेना चाहिए धामन शब्द का भाव ही दिगङ्ग आया ।

प्रसन्न होते रहनावसी नाटिका में—

ऐन्द्रजातिक के द्वारा साकरिका को अग्नि में जलते हुए दिखाए जाने पर महाराज उद्वेग उसको बचाने की चेष्टा करते हुए अग्नि से कहते हैं—

अग्नि तू अपना अत्याचार बन्द कर शान्त हो जा। अपने भूम से कष्ट देना छोड़ दे। तेरी ऊँची ऊँची अग्नि की चिनमारियों से मैं बरने बाधा नहीं हूँ। प्रसन्न अग्नि के सहस्र प्रिया की बिरहाग्नि में जो (मैं) न जल सका उसका तू क्या बिगाड़ सकती है।

हाथी के द्वारा होनेवाला धाँव—

जैसे 'रघुवंश' में—

‘उस विद्वान् अयसी हाथी को देखते ही सब जोड़े भी रस्ता गुड़ा गुड़ाकर भाग बस। इस भगवत् में जिन रत्नों के धुरे टूट गए हैं वहाँ वहाँ फिर पड़े। सैनिक लोग अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिए सुपथित स्वान बूझने लगे। इस प्रकार धकने इस भयमत्त हाथी ने सेना में भारी भयङ्क मचा दी।’

तर्कों विचार संदेहाङ्गु शिरोऽङ्गुलिनसक ।

वितर्क या तर्क—सन्धेय को हटाने के लिए उत्पन्न विचारों को तर्क कहते हैं। इसमें व्यक्ति अपनी नीहों ज्यों, शिर और अङ्गुलियों को नचाता है।

जैसे—

लक्ष्मण अपने-आप सोच रहे हैं— ‘क्या जरूरत है सोम के चक्कर में पड़कर इस प्रकार से मरणा का प्रतिभ्रमण तो नहीं किया? जबका मरी मरिणी मैं ने स्वीकृत्य स्वाभाविक लज्जतावत् स्वयं ही ऐसा कर्म कर डाला? पर मेरा इस प्रकार का सोचना-विचारना ठीक नहीं है क्योंकि जरूरत बड़े बार्ह दार्य राम के लज्ज जाता है और मरिणी मैं भी ये पुष्करमोक पिता महाराज पदरत्न की बमपत्नी है।’

अथवा— यदि ऐसी बात नहीं है तो पुत्रों में श्रेष्ठ तथा अधिपति के पदार्थ अधिवारी बड़े बार्ह राम का निहासतन्त्रुत करन में वितर्की

कारणता स्वीकार कर ? (फिर सोचकर) मुझे तो ऐसा समझ है कि मेरे पुष्पों का ही यह फल है जिसके बंध बहाने ने इसी बहाने मुझे सबा करने का मजसर प्रदान किया ।

सम्बन्धार्थविक्रियायुक्तावयवहित्याङ्गविक्रिया ।

प्रवहित्वा—सम्बन्ध आदि भाषों के कारण उत्पन्न अंग के विकारों के विधानों को प्रवहित्वा कहते हैं ।

जैसे कुमारसम्बन्ध में—

देववि नारद जिस समय इस प्रकार की (पावटी क विवाह सम्बन्धी) बातें कर रहे थे उस समय पावटीजी अपने पिता के पास मुँह नीचा करके सीन्हा-कमल के पत्ते बीठी गिन रही थीं ।

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामयत्र विस्तरः ॥२६॥

व्याधि—सन्निपात रोग आदि को व्याधि कहते हैं । इसका विस्तृत बचन श्रीर ग्रन्थों में है इसलिए यहाँ पर इसका बखल संक्षेप में ही किया जा रहा है ॥२६॥

जैसे—

कोई दूरी किसी नायक से उसकी नायिका की बिरहजनित पीड़ा का बचन करती हुई कह रही है—“अनवरत प्रवहमान घामुषों को हमने अपने सम्बन्धियों के शिरो और चिन्ता कुम्बनों के लिए, अपनी गारी बीनता कुम्बियों का और सन्ध्या सखियों के हवाते कर दिया है । इस प्रकार स्वास-प्रच्छवासों के द्वारा परम दुखी वह तेजी मग रही है । गोया एक या दो दिन की ही और मेहमान है । इस प्रकार हमने अपने पारे दुखों का यथाचित स्थानों में बाँट दिया है अतः अब प्रायः विरमस्त रहे ।

अप्रेक्षा-रितोऽग्न्याद्यः सन्निपातप्रहादिभिः ।

प्रस्मिन्नवत्स्या रदितगीतहासासितादयः ॥३०॥

अग्न्या—बिना शोषे-सामने धान करने को अग्न्या कहते हैं । यह

अपना जैसे 'रत्नावली नाटिका में—

ऐन्द्रबासिक के द्वारा सागरिका को अग्नि में बलते हुए दिखाए जाने पर महाराज उदयन उसको बचाने की चेष्टा करते हुए अग्नि से कहते हैं—

'अग्नि तू अपना अत्याचार बन्द कर दान्त हो जा अपना बूम से दण्ड देना छोड़ दे तेरी ऊँची ऊँची अग्नि की चिममारियों से मैं डरने वाला नहीं हूँ । अन्नवाग्नि के सहस्र प्रिया की विरहाग्नि में जो (मैं) न जल सका उसका तू क्या बियाड़ सकती है !

हाथी के द्वारा होनेवाला आशेन—

जैसे 'रघुबंध' में—

'उस विद्याल जगमी हाथी को देखत ही जब मोड़ै मी रस्ता तुझा तुझकर भाप जब । इन मयवड़ में जिन रबों के बुरे दूट वण के बहाँ तहाँ गिर पड़े । सैनिक लोक अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिए सुरक्षित स्थान ढूँढ़ने लगे । इस प्रकार आकेले उन महामत्त हाथी ने सेना में भारी भगदड़ मचा दी ।

तर्कों विचार-संदेहाद्भु शिरोऽगुल्लिर्नर्तक ।

वितर्क वा तर्क—सन्देह को हटाने के लिए उत्पन्न विचारों को तर्क कहते हैं । इसमें व्यक्ति अपनी जहाँ जहाँ, चिर और संशुनियों को मचलता है ।

जैसे—

महामत्त अपने-आप सोच रहे हैं— 'क्या भरत ने लोभ के बल पर पड़कर इस प्रकार स मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं किया ? अपना मेरी मैमजी माँ ने स्वीकृत्य स्वाभाविक लज्जतावध स्वयं ही ऐसा कम कर दिया ? पर मेरा इस प्रकार का सोचना-विचारना ठीक नहीं है क्योंकि भरत बड़े भाई आर्च राम के लज्जु भाता हैं और मैमजी माँ भी मेरे पुष्परसोक पिता महाराज बलराम की बमपत्नी हैं ।

अपना— 'यदि ऐसी बात नहीं है तो कुर्णों में अथठ तथा अभिप्रेत के मन्त्रों अधिकारी बड़े भाई राम को तिहासनच्युत करने में किसी

कारणता स्वीकार कर्क ? (फिर सोचकर) मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरे पुण्यों का ही यह फल है जिसके बल ब्रह्मा ने हमी ब्रह्मने मुझे सदा करन का अवसर प्रदान किया ।

सज्जाद्याविक्रियागुप्तावबहिष्याम्नविक्रिया ।

प्रबहिष्या—सज्जा आदि भागों के कारण उत्पन्न भग के विकारों के छिपाने को प्रबहिष्या कहते हैं ।

जैन 'कुमारमम्मब' में—

“देवपि नारद जिस समय इस प्रकार की (पावती के विवाह सम्बन्धी) बातें कर रहे थे उस समय पावतीजी अपने पिता के पान में ही पीना करने लीला-कमल के पत्ते बँट्टे गिन रही थीं ।

व्यापय-सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तर ॥२६॥

व्याधि—सन्निपात रोग आदि की व्याधि कहते हैं । इसका विस्तृत बलन धीरे धीरे में है इसलिए यही पर इतना बलन सम्पन्न में हो किया जा रहा है ॥२६॥

जैन—

कोई दूती बिती नायक ने उनकी नायिका को बिरहजनित पीड़ा का बलन करती हुई कह रही है—“भगवन्त प्रब्रह्मान धामिनों को हमने अपने सम्बन्धियों के विम्व धीरे बिन्ता गुणवनों के लिए, अपनी गारी बीजता कुम्भियों को धीरे मन्ताप मन्त्रियों के हवाले कर दिया है । इन प्रकार स्वाम प्रच्छवासों के शय परम कुली बह लगी मय रही है गोया एक या दो दिन की ही धीरे मेहमान है । इस प्रकार हमने धन गारे दुर्गों को मयाचित स्वानों में बाँट दिया है धन धन धन विरजत रह ।

अप्रेक्षा-रितोम्माह-सन्निपातप्रहादिभि ।

प्रस्मिन्वस्था रदितगोनहासासितावय ॥३०॥

उम्मा—जिना सोचे-समझे काम करने को उम्माह कहते हैं । यह

अग्निपात आदि शारीरिक शोचों से तथा ग्रह आदि घाम कारण से भी होता है । इसमें रोना माना हूँसना आदि बातें पाई जाती हैं ॥३०॥

जैसे—

“घरे बुढ़ रातस ठहर-ठहर भेरी प्रियतमा को लिये कहाँ जा रहा है ? क्यों क्या ?” —घरे, यह तो अभी अभी बरसनेवाला बादल है रातस नहीं है । और यह जो टप-टप की आवाज था रही है यह उब राखस के आन नहीं अपितु बूँदें हैं तथा यह जो कसीटी पर बनी सोने की रेखा के समान चमक था रही है यह भेरी मिया सबंधी नहीं अपितु बिजली है ।

प्रारब्धकार्यासिद्धिपार्वेविषादः सत्यसंशयः ।

नि-रबासोऽङ्गबासहृसापसहायाम्येपरुषाविकृतु ॥३१॥

विषाद—किसी आरम्भ लिये हुए कार्य में सफलता न प्राप्त करने के कारण जैसे जो जाने को विषाद कहते हैं । इसमें निरबास और उच्छ्वास का निकलना हुआ जैसे कुछ का अनुभव करना और सहायकों को हूँसना आदि बातें पाई जाती हैं ॥३१॥

जैसे ‘महावीरचरित’ में—

‘हाय ! भार्वा तादिका ! क्या कहा जाए विजयिनी की बस में बुढ़ रही है और परवर तैर रही है ।’

‘मनुष्य के बच्चे के हाथ इस प्रकार की अस्मृत पराजय को प्राप्त करना निश्चय ही राससपति के स्तम्भित प्रताप का सूचक है । इस प्रकार का अपने इष्टमित्रों का बिनाश देखकर भी जीवित बचा हुआ मैं भीमता और बाबंश से जकड़ दिया गया हूँ । क्या एक कुछ समय में नहीं पाता ।

कामाशमस्वमीत्सुखं रम्येच्छावृत्तिसंभ्रमः ।

तमोऽप्यसंभ्रमि-रमासहृसापसहेदविभ्रमा ॥३२॥

धौलुख—किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से घनना प्रेमावा

की घबराहट के कारण समय न बिता सकने को घौस्तुबन कहते हैं । इसमें इबास प्रत्यक्ष का घाना हड़बड़ी हृदय की बेचना पातीना और भ्रम घाति बल्ले पाई जाती हैं ॥३२॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

घपन इस सखीस बप की देखकर पार्वतीजी ठक रह गई और महादेवजी से मिलने के लिए मजबूत उठीं क्योंकि स्त्रियों का गुंमार सभी सपस्त होता है जब उसे पति देखे ।

घपना उठी 'कुमारसम्भव' का यह पद—

'पार्वतीजी से मिलने के लिए महादेवजी इतने उतावल हो गए कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी कठिनाई से काटे । बताइए, जब महादेव जैसे लोगों की प्रेम में यह क्या हो जाती है तो क्या हमारे लोग अपने मन को कैसे संभाल सकते हैं ।"

मात्स्यद्वेयरायावेण्वापसं हवनवस्थिति ।

तत्र भर्त्समपादव्यवस्थाद्वयाचरणारम्भ ॥३३॥

अपस्तम्भ—राग द्वेय मात्स्य आदि के कारण एक स्थिति में न रह सकने की घपलजा कहते हैं । इसमें भर्त्सना, कठोर बचन स्वच्छन्द आचरण आदि लक्षण पाए जाते हैं ॥३३॥

जैसे 'विन्द नितम्बा' का यह पद—

'हूँ भ्रमर' तू अपने बचल मन का रमजस्थल ऐसी सुन्दर मठा बनाओ तो तेरी भजनाज बरदास्त कर सकूँ । पर जिसमें रज का प्राग्भ ही अभी नहीं हो पाया है ऐसी नूतन नयमस्त्रिका की बलियों को प्रकाश ही में कष्ट पहुँचाना तो ठीक नहीं है ।"

घपना जैसे—

विन्द नितम्बा कह रही है— 'परपर संघर्ष से चम्पकज कठोर गीत स्त्री पारों से बरा हुआ बन्दरा के समान अध्ययान बना लेता क्या क्या प्रयुक्ति होकर अभी अभी तुम्हारे ऊपर गिरे ?"

उपनिबद्ध भावों के प्रतिरिक्त धर्म्य वित्तवृत्तियाँ इन्हीं सबके भीतर बिनाब अनुभाव आदि स्वरूपों के द्वारा भा जायेंगी । घट टनका धमन नहीं गिनाया गया ।

स्वायीभाव

विच्छेदरविच्छेदा भावयिच्छिद्यते न य ।

आत्मभाव नयस्यम्याम्स स्वायी सक्ताकर ॥३४॥

स्वायीभाव—विरोधी धर्म्य आविरोधी भावों से जिसका प्रवाह विच्छिन्न न हो तथा जो धर्म्य भावों की आत्मसात् कर से उसे स्वायी भाव कहते हैं ॥३४॥

सवातीय एवं विजातीय भावान्तरों से जो तिरस्कृत न होकर वाध्य में उपनिबद्ध होते हैं उन रत्यादि भावों को स्वायीभाव कहते हैं । उदाहरणार्थ हम गृहस्थमा में गरबाहनरत्न का मदनमंजुका क प्रति जो अनुपम है उसे से कहते हैं । वह अनुपम धर्म्य नायिकाओं के अनुपम से दृढ़ता नहीं है अर्थात् यहाँ सवातीय अनुपमों से मदनमंजुका के अनुपम न बाधा नहीं पहुँचती है । उसका प्रवाह मतिधीन ही बना रहता है ।

विजातीय भावों से स्वायी का उदाहरण मातृभावन के समानाह्न में भावन का मातृ के प्रति अनुपम में दिखाई देता है । यहाँ यद्यपि भावन की वित्तवृत्ति बीभत्स रस से आप्लावित है जो एक विजातीय भाव है, फिर भी इससे मातृ के प्रति जो रति की भावना है वह दृढ़ता नहीं है । यहाँ उसके हृदय में मातृ का कदम नखन कुछ धन के लिए रके हुए रति भाव को जगा देता है । भावन का यह भाव हमें प्रभाव है—

“मेरे उस संस्कार के जागृत रहने से प्यारी की स्मृति-भाग इतनी प्रबल हो गई है कि न तो उसका प्रवाह धूमरी भावों द्वारा रोके रकता है और न उसके मार्ग में कोई विषमाम्तर का विचार बाधा पहुँचा

सकता है। बात तो यह है कि उसका अद्विराम स्मरण होने से मेरे अन्तःकरण की वृत्ति सदाकार (प्रियतमाकार) हो गई है। भीतर-बाहर सबैव उस प्राणप्यारी का रूप अनुदृष्टियोचर हो रहा है। वस इसी ज्ञान प्यान ने मुझे तत् (प्रियतमा) यव बना दिया है।

अतः इस प्रकार से विरोधी और अविरोधी का समावेश काव्य में स्वाधी का वाचक नहीं होता क्योंकि विरोधी दो प्रकार का होता है—
१. सहानुभूतिमान और २. आत्मवाचकभाव।

यहाँ पर दोनों प्रकार के विरोधों की सम्भावना नहीं है क्योंकि इसका पारम्यिक अवसान एवाकार होकर होता है।

स्वामी के विरोध-स्वयं में सहानुभूतिमान' हा नहीं सकता क्योंकि रसादि भावना से उपरक्त अन्तःकरण में अविरोधी अभिचारियों का उपनिबन्धन अकमूब म्याय से समस्त भावकों की अपनी समवेदना से सिद्ध है।

वैसे वह अनुभव से सिद्ध है वैसे ही काव्य-व्यापार के आवेय में अनुनाय में भी निवेष्टित विद्या द्वारा साधरणीकरण के माध्यम से उर्ध्व प्रकार धानन्वात्मक ज्ञान के उन्मीसन में कारण बनता है। अतः भावा का सहानुभूतिमान सम्भव नहीं है।

रहा 'आत्म वाचक भाव'—इसका तात्पर्य है 'एक भाव का दूसरे भाव से विरक्त हो जाना' जो वह स्वाधीभावों के अद्विराधी अस्ति चारियों से हो नहीं सकता क्योंकि के स्वाधी के अविरोधी इसीनिष्ठ ही है। यदि के अस्तिचारी भाव प्रपान (स्वाधीभावों) के विरोधी ही हो जाएँ तो फिर उनकी अंगता (अप्रमाणत्व) ही कहाँ रह जाएगी ? इसी प्रकार आत्मगत विरोध का भी परिहार हो जाता है। हमारा उदाहरण नामतीमाधर में देना जा सकता है जहाँ अंगार के अन्तर हीमरत का वर्णन होने पर भी—यद्यपि इनका पारम्यिक विरोध है फिर भी इस स्वयं में किसी प्रकार की विरक्तता पैदा नहीं होती है। अतः यदि ऐसी बात है तो एक आत्ममय के प्रति विरक्त रस भी, यदि किसी

प्रतिरोधी रमाय्यर से व्यावहित होकर उपनिबद्ध हो तो नहीं विरोधी नहीं हो सकता है वैसे शास्त्र के इस श्लोक में—^१

प्रश्न—ही (३) मान लिया कि जहाँ एक तात्पर्य से विरुद्ध और अविरुद्ध भावों को धंग रूप से रखा जाता है उनमें कोई विरोध नहीं होता क्योंकि एक प्रधान रहेगा दूसरा (विरुद्ध और अविरुद्ध) उसका धंग रहेगा अतः विरोध नहीं होया पर जहाँ पर दोनों समप्रधान रहेंगे वहाँ पर क्या स्थिति होगी ? वैसे विम्वरिखित श्लोक में—

“एक तरफ प्रिया रो रही है दूसरी तरफ समर-मुन्मुषि का भिर्बोप हो रहा है अतः प्रेम और रण के धायेय से बीर का मन दोसापित हो रहा है।”

यहाँ रति और उत्साह सम प्रधान है। इसी प्रकार नीचे के श्लोक में—

हे सम्जन मोक्ष प्राप कपट की छोड़ निष्पक्ष दृष्टि से विचार करके मर्यादा के साथ निर्णय दें कि पर्वतों की कंबराएँ सेवन के योग्य हैं। प्रपञ्च कामदेव के बाणों से बिड़ बिड़ाधिनियों के निरन्ध्र ?

यहाँ पर रति और प्रेम भाव की समप्रधानता है। ऐसे ही—रावण की यह उक्ति है—‘उपर गङ्गा (सीता) तो विभुवन की सुन्दरियों में श्रेष्ठ चंचल नेत्रवासी है और उबर यह कुप्टात्मा बही है जिसने मेरी बहन के साथ दुर्ध्वबहार (सूर्यवक्त्र की नाक काटना) किया है। उबर इसको दैत्य काम की बलवती मानवा जाग्रत होती है उबर उसे वैद्य शोष के मारे छारा छीर बन छटता है। और मैंने भी तो अपने नेत्र की रचना (साधु नेत्र) भी विचित्र ही कर ली है क्या कर्क कुल ममय में नहीं आ रहा है ?

यहाँ पर रति और क्रोध रूप दोनों रक्षाधीनताओं का समप्रधानत्व है। ऐसे ही—

“इन विद्याधिनियों ने अन्तर्द्वियों का रक्षामुख बाँध रखा है। एन्होंने १ यह श्लोक इतना अद्विष्ट है कि इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

स्त्रियों के हाथकपी रक्तकमल का धिरोनूपन धारण किया है। धीरे-
 मुन्धों धीरे हृदय-प्रदेश-कपी कमल से माता गूँथकर अपने को सजावा
 है। इन्होंने रक्त के कीचड़ से ही कृकुम्भ का लेप किया है तथा ये कपास
 कपी व्यासे में भर-भरकर अस्थियों में बधी हुई परवी को प्रसन्नतापूर्वक
 अपने-अपने प्रियतम के साथ पी रही हैं।”

यहाँ पर रति और कुपुष्पा का सम प्राधान्य है। और जैसे—

‘भयवान् रुंकर अपने एक नेत्र को समाधिस्थ किये हुए हैं और
 दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल और उनके स्तन प्रदेश पर मृगार भार से
 झनसाया हुआ है तथा तीसरा नेत्र दूर से चाप मारने वाला कामदेव के
 ऊपर प्रेषाम्नि को फेंक रहा है। इस प्रकार समाधि के समय भिन्न
 भिन्न रस का आस्वाद लेनेवाला भगवान् शंकर के तीनों नेत्र हमारी
 रक्षा करें।

यहाँ पर काम और रति स्वाधीनताओं का सम प्राधान्य है।

ऐसे ही—

‘संप्रकाश में प्रियतम के विषय की धार्यकावासी चक्रवाकी
 अपने एक नेत्र से शोक के साथ आकाश में बिबरन करनेवाले सूप
 बिम्ब को देख रही है तथा अपने दूसरे नेत्र से धीसों में धाम् भगकर
 अपने प्रियतम का देख रही है। इस प्रकार दो संकीर्ण रसों की रचना
 बहु (चक्रवाकी) प्रथमा भर्तृकी के सखान मूर्धास्त होने के समय में कर
 रही है।

यहाँ पर रति शोक और शोष इन तीन स्वाधीनताओं का सम
 प्राधान्य है तो फिर यहाँ इनका आपस में विरोध कैसे नहीं होगा ?

उत्तर—इन स्थितियों में भी एक स्वाधीनता है क्योंकि एकलौ
 दमई दिमा’ इस स्थिति में उत्साह स्वाधीनता है। यहाँ बितरु है
 व्यभिचारी भाव और इस व्यभिचारी भाव का जनक होता है सन्देह
 तथा उत सन्देह की व्यक्ति क लिए (प्रिया रहन) करण एवं रदन का
 उत्पादन है। अतः उत्साह स्वाधीनता होने से यहाँ भीर रक्त का ही पोष

होता है। इस पक्ष में 'मष्ट' पक्ष का उपादान धीर भी प्रमाण रूप में है। इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं कि कश्यप एवं उत्तराह का समप्रमाण्य पारस्परिक धर्माधीनता का प्रतिबन्धक है। दूसरी बात यह भी है कि जब संज्ञा का धारम्भ हो चुका हो उस समय सुभट जोम कार्यान्तर में प्रवृत्त हों वह तो महान् अनुचित है। अतः जहाँ की संज्ञा में यह रसिकता ज्यों की ही प्रकाशित करती है। धीर फिर विवशता के कर्म विप्रमन्त्र से धीर रस का ही पोष होता है। अतः दोनों समप्रमाण नहीं प्रयुक्त धर्माधीनतापन्न हैं।

इसी प्रकार 'भास्वर्य' इत्यादि श्लोक में चिरकाल से प्रवृत्त रति वासना का हेतु बुद्धि से उपादान होने के कारण सममात्र के प्रकाशन में उत्पत्ता जान पड़ती है। और इसके पोष में 'ध्यायी समर्थादमिदं बद्धन्तु' में बद्धन्तु बद्ध परिकर होकर बड़ा है। इसी प्रकार 'इयं सा लोभाश्री' आदि इत्यादि में रागस्य प्रतिपन्न नायक है और वह निष्ठाचर होने से माया-अज्ञान है। अतः निष्ठाचर प्रकृति के व्यक्ति में रीतिरस का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ रति एवं अभव के व्यवहक का उपादान सन्देह का प्रत्यापक है जिससे 'विचर्क' व्यक्तिचारी भाव का जन्म होता और इस विचर्क व्यक्तिचारी भाव का रीतिरस के पोष के लिए उपादान आवश्यक है।

'धर्म्म' कल्पित मन्त्र प्रतिस्तरा इत्यादि श्लोक केवल हास्यरस का ही व्यवहक है। 'एकं ध्यानं निमीलनान्' इत्यादि भी एकमात्र 'धर्म' के प्रत्यायन में उत्पन्न है। यहाँ 'धर्म' भाव में स्थित धम्म को आबान्तर घाकृष्ट नहीं कर रहे हैं। यह धम्म योगिनी की अपेक्षा धम्म की विलक्षणता है। फिर विमर्शण योगी के 'धर्म' को आबान्तर स्थानित करें यह असम्भव है। इसी पक्ष का पोष करनेवाला 'समचित्तममे' यह पक्ष भी है। 'एकेनादया' इत्यादि में समस्त भाव्य भावी विप्रलम्भपरक ही है।

(यह स्थिति घटितपट्यार्थक श्लोकों में रही) पर स्थित श्लोकों में यहाँ घने रसों के तात्पर्य से पक्ष पक्षों की संघटना है यहाँ पर भी

विरोध की सम्भावना नहीं है। कारण यह है कि विरोध समप्राधान्य रहने पर होता है। निम्नलिखित स्थिति में दो स्थितियाँ हो सकती हैं—पहली तो यह जहाँ दोनों पक्षों में उपमानोपमय भाव स्थापित हो जाता हो और दूसरी यह जहाँ दोनों पक्ष स्वतन्त्र हों। इस प्रकार प्रथम स्थिति में उपमान भाष्य का धरा बन आण्य। यहाँ दोनों भाष्यों में संश्लेषभाष्य की व्यवस्था सम्भव है। यहाँ समप्राधान्य नहीं है। दूसरी स्थिति में भी पृथक्-पृथक् भाष्याय दो विभिन्न रसों के प्रतिपादन में उत्तर होवे। इस स्थिति में भी प्रति भाष्य पीछे एक पक्ष की ही प्रधानता रहेगी। इस तरह से यहाँ अनेक प्राधान्य सम्भव न होने से उक्त प्रकार का विरोध असम्भाव्य ही है। उदाहरणार्थ—

[सुवर्णकर] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है। [यद्यपि सुवर्णकर पद्म होने से सुवर्णकर विष्णु] जिन्होंने केवल चरमार्थविद के सौन्दर्य से [यद्यपि पाद निक्षेप से] तीनों ओरों का आशान्वित किया है और जो अग्रजप [से केवल] नेत्र को धारण करते हैं [यद्यपि जिनका केवल एक नेत्र ही अग्ररूप है] ऐसे विष्णु ने अस्मिन् देहव्यापी सौन्दर्यसाक्षिणी गर्वाङ्ग सौन्दर्य से त्रैलोक्य विजय करनेवाली और अग्रसदृश सम्पूर्ण मुझ को धारण करनेवाला जिन [शक्तिमती] का उचित रूप से ही अपन धारी से उत्पन्न देना यह शक्तिमतीदेवी तुम सबकी रक्षा करें।

[यहाँ व्यक्तिरेक की छाया को परिपूर्ण करनेवाला स्वेय भाष्य रूप में प्रतीत होता है।]

इस प्रकार उक्त विधि से रसार्थ स्थायीभावों का उपनिबन्धन करने से सर्वत्र विरोध की स्थिति परिहृत हो जाणगी। जिन प्रकार उन भाष्यों का भी जिनमें इत्यादि बाधक पद उपनिबद्ध हैं तात्पर्य एक ही स्थायीभाव में है इन बात को हम ध्यान दिवाएँगे। यस्तुतः अथावाधूमभाष्य का वर्णन करना चाहिए। 'वा—धूमभाष्य इत्यादि'—यद्यपि उन भाष्यों का तात्पर्य जिनमें इत्यादि स्वबाधक पद से उद्घाटन न हो तभी तो व्यञ्जना के द्वारा या सूत्रों पर मनोव्योमी

स्वामित्व को प्राप्त कर सकेंगे । यद्यपि वाच्य वृत्ति है धामिनिष्ठ रहने पर तो दर्यादि भाव नहीं कहे जा सकेंगे और फिर उनके लिए स्वामित्व की प्राप्ति असम्भव हो जाएगी ।

धीर धे [निम्नलिखित स्थायीभाव है]—

रस्युस्ताहृषुगुप्ताः क्रोधो हासः स्मयो भय शोकः ।

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नतिर्येषु नैतस्य ॥३३॥

‘नति’ अस्ताहृषुगुप्ता क्रोध हास स्मय भय शोक ये छान्त स्थायीभाव हैं । कुछ लोग छान्त को भी स्थायीभाव मानते हैं पर इसकी पुष्टि नाट्य में नहीं होती । ॥३३॥

इस स्थल में छान्तरस से प्रतिपादितों की अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं । उनमें से एक बात यह कहना है कि शान्त नाम का कोई रस ही नहीं है । इसमें कारण है व्याचार्य के द्वारा इसके विभाषादिकों का वर्णन न करना तथा सञ्जम का अभाव ।

कुछ का कहना है कि केवल व्याचार्य परस में विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया है इसीलिए छान्तरस नहीं है यह बात नहीं है प्रत्युत बन्तुल छान्तरस नहीं है । इसका कारण स्पष्ट है—छान्त की पुष्टि ही शान्त है और छान्त की उत्पत्ति राग-द्वेष के समूह भट्ट होने पर निर्भर करती है । यह राग-द्वेष को अनादि काल से अन्तःकरण में अमत्ता जमा था रहा है उसका उन्मेष आतन्त्रिकता के बिना व्यावहारिक व्यवस्था में होना भी असम्भव है ।

तीसरा बात यह कहना है कि छान्तरस का अन्तर्भाव धीर भीमत्स आदि ही में किया जा सकता है । इस प्रकार कहते हुए वे ‘छान्त’ भाव का भी सङ्गन कर देते हैं ।

आहे जो भी हो पर इतना तो सुनिश्चित है कि व्यक्तों में छान्त का स्वामित्व मुझे शक्य नहीं है । कारण यह है कि नाट्य परिदृश्यारमक होता है और ‘छान्त’ समस्त व्यापारों का प्रबलन कथ है । छान्त इस दोषों (छान्त और अधिनय) का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात्

कैसी प्रकार इन दोनों का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता ।

कुछ लोगों ने नायानन्द में 'सम' को स्थायीभाव माना है । उनके फल का स्पष्ट विरोध आप्रवण्यप्रवृत्त मसमबती के अनुराग एवं विद्याधर की अकर्मितत्व प्राप्ति से है । कर्मों का भाव यह है कि यदि बीजवृत्तबाह्य सम प्रधान होता तो उसे मसमबती में अनुराग और अकर्मितत्व की प्राप्ति स्वीकार नहीं होती । एक ही अनुकाम स्वरूप विद्या का साध्य करने परस्पर-विरोधी सम एक रति (छान्त एवं शृंगार) की उपलब्धि नहीं भी नहीं देखी गई । अतः वस्तुतः वहाँ समा और के स्थायीभाव उल्लाह का ही उपनिषद् मानना चाहिए । इस प्रकार से वहाँ शृंगार का अंशभाव तथा अकर्मितत्व की प्राप्ति का विरोध हट जाता है । कर्तव्य-भाव में इच्छा विषयी ही रहती है । अतः परोपकार रूप कर्तव्य में सामिन्नाय प्रवृत्त विजयीवृ (विजय की इच्छा रखनेवाले) को फल की प्राप्ति अवरुध्दायी है । सामिन्नाय कर्तव्य और फल का निरव्यवहार है । इस विषय की अर्था द्वितीय प्रकाश में ही पर्याप्त रूप से की जा चुकी है । अतः वस्तुतः मात्र ही स्थायी (भाव) होते हैं ।

प्रश्न—उक्त विज्ञान पर कुछ लोगों की यह प्रतिक्रिया है कि वस्तुतः मधुर शृंगार प्राप्ति रसों के समाप्त ही इन निर्देश प्राप्ति की रस रूप की प्राप्ति रसन अर्थात् आस्वाद के कारण ही है । क्योंकि किन्ना प्रकार शृंगार प्राप्ति आस्वाद होने के कारण रस बड़े पाते हैं वह आस्वाद रूपता जब रस प्राप्ति में भी पर्याप्त दिखाई देती है तो क्यों उन्हें रस न माना जाए ? इन प्रश्नों से धन्य रसों की भी वस्तुना कर उनके विभिन्न स्थायीभावों की कल्पना की गई है । फिर इस प्रकार जब कई रस हो माने हैं तो 'अभ्यास' में रसों की संख्या को घाट हो में बाधना कहाँ तक युक्ति-संगत है ?

उत्तर—[इसका उत्तर आचार्य पण्डित निम्नलिखित प्रकार से है—]

स्वामित्व की प्राप्ति कर सकेंगे। अतः वाच्य वृत्ति से धर्मनिष्ठ रहने पर तो रत्यादि भाव नहीं बड़े जा सकेंगे और फिर उनके लिए स्वामित्व की प्राप्ति असम्भव हो जायेगी।

धीर ने [निम्नलिखित स्वाधीनाम है]—

रस्युत्साहकुपुप्ता क्रोधो हास स्मयो भय शोक ।

शममपि केचित्प्राप्तुं पुष्टिर्जाटियेषु नैतस्य ॥३५॥

अति उत्साह कुपुप्ता क्रोध हास स्मय भय शोक, ये धर्म स्वाधीनाम हैं। कुछ भय शम को भी स्वाधीनाम मानते हैं पर इसकी पुष्टि नाट्य में नहीं होती। ॥३५॥

इस स्वप्न में धान्तरस से प्रतिधारियों की अनेक प्रकार की विमति पतियाँ हैं। उनमें से एक वक्ता का कहना है कि धान्त नाम का कोई रस ही नहीं है। इसका कारण है धात्र के द्वारा इसके विभाषिकों का बर्णन न करना तथा मलय का अभाव।

कुछ का कहना है कि केवल धात्र धरत में विषाद धादि का प्रतिपादन नहीं किया है। इसीलिए धान्तरस नहीं है यह बात नहीं है। प्रत्युत वस्तुतः धान्तरस नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है—धम की पुष्टि ही धान्त है और धम की उत्पत्ति राग-द्वेष के समूह नष्ट होने पर निर्भर करती है। यह राग-द्वेष जो अनादि काल से अस्त-कर्म में जलता बना आ रहा है उसका उन्मूलन धात्रविक्रम के बिना प्यास शारिक प्रवृत्ति में होगा भी असम्भव है।

तीसरा वक्ता यह कहता है कि धान्तरस का अस्तमय धीर बीजत्वं धादि ही में किया जा सकता है। इस प्रकार कहते हुए वे 'धम' भाव का भी अन्त कर देते हैं।

चाहे जो भी हो पर इतना तो सुनिश्चित है कि कर्मों में धम का स्वामित्व मुझे वाह्य नहीं है। कारण यह है कि नाट्य अधिन्यात्मक होता है और 'धम' समस्त व्यापारों का प्रवर्धन कर्म है। अतः इन दोनों (धम और अधिन्यात्मक) का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? धर्म

किसी प्रकार इन दोनों का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता ।

कुछ लोगों ने नामानन्द में 'धर्म' को स्थायीभाव माना है । उनके कथन का स्पष्ट विशेष भाष्यप्रबन्धप्रवृत्त मत्तयवती के धनुराम एवं विद्याधर की अकर्मविरह प्राप्ति से है । कहने का भाव यह है कि यदि बीजसूतबाह्य सम प्रमाण होता तो उसे मत्तयवती में धनुराम और अकर्मविरह की प्राप्ति स्वीकार नहीं होती । एक ही धनुर्कार्य स्वरूप विभाव का धाव्य करके परस्पर-विरहो सम एवं रति (शान्त एवं शृंगार) की उपलब्धि नहीं भी नहीं देखी गई । अतः वस्तुतः वहाँ न्या बीर के स्थायीभाव उल्लाह का ही उपनिबन्ध मानना चाहिए । इस प्रकार से वहाँ शृंगार का धर्मभाव तथा अकर्मविरह की प्राप्ति का विरोध हट जाता है । कर्मव्य-मान में इच्छा विषयी ही रहती है । अतः परोपकार रूप कर्तव्य में साभिभाव प्रवृत्त विजिगीषु (विजय की इच्छा रखनेवाले) की धर्म की प्राप्ति अकर्मविरह की है । साधिताय कर्तव्य धर्म कर्म का निरूप सम्बन्ध है । इस विषय की चर्चा द्वितीय प्रकाश में ही पर्याप्त रूप से की जा चुकी है । अतः वस्तुतः बात ही स्थायी (भाव) होती है ।

प्रश्न—उन विद्वान्त पर कुछ लोगों की यह प्रवृत्ति है कि वस्तुतः मधुर शृंगार आदि रसों के समान ही इन निर्वेद आदिषु की रस रूप की प्राप्ति रसम धर्मान् आस्वाद के कारण ही है । क्योंकि विद्य प्रकार शृंगार आदि आस्वाद होने के कारण रस बड़े जाते हैं वह आस्वाद स्वता जब रस धर्मा में भी पर्याप्त निगाई देती है तो क्यों इन्हें रस न माना जाए ? इन मुक्तिजनों से धन्य रसों की भी कल्पना कर उनके विभिन्न स्थायीभावों की कल्पना की गई है । फिर इस प्रकार जब कई रस हो सकते हैं तो 'अप्यवेष्ट' में रसों की संख्या को धार हो में बाँटना वहाँ तक मुक्ति-संबन्ध है ?

उत्तर—[इसका उत्तर धाव्य धनिक निम्नलिखित प्रकार से देते हैं—]

स्वाधित्व को प्राप्त कर सकेंगे । अन्यथा बाध्य वृत्ति से आसिद्धि पाने पर तो रत्यादि भाव नहीं रहे जा सकते और फिर उनके लिए स्वाधित्व की प्राप्ति असम्भव हो जाएगी ।

धीर वे [निम्नलिखित स्वाधीभाव हैं]—

रत्नपुस्तान्मुकुटान् कोषो हासः स्मयो भय शोक ।

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्माद्वयेषु नतस्य ॥३५॥

रति पराहा मुकुटा कोष हास स्मय भय शोक, ये पाठ स्वाधीभाव हैं । कुछ लोग शम को भी स्वाधीभाव मानते हैं पर इसकी पुष्टि नाश्व में नहीं होती । ॥३५॥

इस स्थल में चान्तरस से प्रतिपादितों की अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं । उनमें से एक बात का कहना है कि चान्त नाम का कोई रस ही नहीं है । इसमें कारण है व्यापार्य के द्वारा इसके विभावों का वर्णन न करना तथा लक्षण का अभाव ।

मुक्त का कहना है कि केवल व्यापार्य अरुत में विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया है इसीलिए चान्तरस नहीं है यह बात नहीं है प्रसुप्त बन्तुन चान्तरस नहीं है । इसका कारण स्पष्ट है—शम की पुष्टि ही वांछित है और शम की उत्पत्ति गद-द्वेष के समूह नष्ट होने पर निर्भर करती है । यह रस-रूप जो अनादि काल से अन्तःकरण में अलगाव बना आ रहा है उसका अन्तःकरण वास्तविकता के बिना व्यावहारिक अवस्था में होना भी असम्भव है ।

तीसरा बात यह कहना है कि चान्तरस का अन्तर्भाव धीर बीभत्स आदि ही में किया जा सकता है । इस प्रकार कहते हुए वे शम भाव का भी वर्णन कर देते हैं ।

बाह जो भी हो पर इतना तो सुनिश्चित है कि कहीं में शम का स्वाधित्व मुझे प्राप्त नहीं है । कारण यह है कि नाट्य अभिनयार्थक होता है धीर 'शम' समस्त व्यापार्यों का अभिनय रूप है । यत इव दोनों (धम धीर अभिनय) का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात्

किन्ती प्रकार इन दोनों का सम्बन्ध नहीं बैठ सकता ।

कुछ लोगों ने भाषाण्ड में 'सम' को स्वाधीभाव माना है । उनके कथन का स्पष्ट बिरोध आश्रयप्रवृत्त मलयवती के धनुराय एवं विद्यावर की चकवर्तित्व प्राप्ति से है । नहने का भाव यह है कि यदि बीजवृत्तबाह्यतः सम प्रमाण होता तो उसे मलयवती में धनुराय और चकवर्तित्व की प्राप्ति स्वीकार नहीं होती । एक ही धनुराय स्वल्प विभाव का आशय करके पररार-विराची सम एक रति (छाया एवं गूँमार) की उपलब्धि नहीं भी नहीं देखी गई । अतः वस्तुतः वही दया और के स्वाधीभाव सरमाह का ही उपनिषत् मानना चाहिए । इस प्रकार से वही गूँमार का संयभाव तथा चकवर्तित्व की प्राप्ति का विरोध हट जाता है । वर्तमान-भाव में इच्छा विषयी ही रहती है । अतः परोपकार रूप वस्तु में साभिजाप प्रवृत्त विजिगीषु (विजय की इच्छा रखनेवाले) को कल की प्राप्ति अवश्यभावी है । साभिजाप वर्तमान और कल का निरव सम्बन्ध है । इस विषय की चर्चा द्वितीय प्रकाश में ही पर्याप्त रूप से की जा चुकी है । अतः वस्तुतः भाठ ही स्वाधी (भाव) होते हैं ।

प्रश्न—उन विद्वान्त पर कुछ लोगों ने यह धक्का है कि वस्तुतः मधुर गूँमार आदि रसों के समान ही इन निरंज आदिकों की रस रस की प्राप्ति रसम प्रमाण आम्हार के कारण हो है । क्योंकि विर प्रकाश गूँमार आदि आम्हार होने के कारण रस बने जाते हैं वह आरवाद काता अब हम आदि में भी पर्याप्त दिखाई देती है तो क्यों इन्हें रस न माना जाए ? इन युक्तियों से धन्य रसों की भी वस्तुना कर उनके विभिन्न स्वाधीभावों की कल्पना की गई है । फिर इस प्रकार जब कई रस हो सकते हैं तो 'अष्टावेव' में रसों का संख्या को साठ हो में बाँटना वही एक युक्ति-नग्न है ?

उत्तर—[इसका उत्तर आचार्य बनिक निम्नलिखित प्रकार से देते हैं—]

निर्वेदादिरताद्रूप्यावस्थायां स्वयते कथम् ।

घरस्यायम् तत्सोपस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥३६॥

निर्वेद आदि भाव अपने विरोधी एवं अविरोधी भावों से उन्निष्ठ न हो जाते हैं अतः स्थायित्व के मूल कारण का अभाव होने से ये अस्थायी हैं । फिर इनमें भला रस कोटि का आस्था ही कैसे सकता है ? इन स्थिति में भी यदि इसे स्थायी मानकर इसकी अन्य रसों की भाँति पोष करने के लिए सामग्री इकट्ठी की जाएँगी तो उनसे वरस उत्पन्न होने को छोड़ सरसता कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती ॥३६॥

किसी भी भाव के स्थायी होने का तात्पर्य है उसका विरोधी एवं अविरोधी भावों से उन्निष्ठ न होना पर निर्वेदादिकों में यह स्थिति न हान के कारण इन्हें हम अस्थायी ही कहेंगे । उनका स्थायी की भाँति आस्था न होने ही के कारण अपने व्यवसायी भाव चिन्ता आदि का बीच-बीच में निसिप्त होने से परिपुष्ट किया जाता हुआ भी वस्तुतः विरमता ही बनी रहती है । इसकी अस्थायित्व का कारण इसकी निष्कलता नहीं है अथवा हास्यादिकों के भी स्थायीभावों की निष्कलता बचाव अस्थायित्व ही सकता है । हास्यादिकों में इस बोध (निष्कलता) से मुक्ति पाने के लिए यदि यह कहा जाए कि हास्य के स्थायीभाव की परम्परा सफलता मिले हुए है, निष्कल नहीं है क्योंकि राजा आदि व्यंक्त बल्लभ हैं प्रसन्न होकर मन-सम्पत्ति का हान नहीं को प्रदान कर सकते हैं । अतः हास्य आदि की सफलता उसके स्थायित्व की राशिका ही इसी शक्ति की बाधिका नहीं ।

पर स्थिति यह है कि यदि हम प्रकार परम्परा या फल-कल्पना की पर्षा तो शान्त आदिमियों के भी स्थायीभावों को है फिर तो यह (शान्त) भी स्थायीभाव की कोटि में आ जाएगा । अतः निष्कलता स्थायीभाव का प्रयोजक नहीं है प्रत्युत विरस एवं अविरस भावों से उन्निष्ठ न हाना ही स्थायित्व का प्रयोजक है । निर्वेद आदि में इन प्रयोजक के न होने से उनकी स्थायित्व नहीं बन सकती । अतः निर्वेद आदि को रस

की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसलिये अस्वादी होने के कारण इनकी परसता है अर्थात् ये रस नहीं हो सकते।

यह निवारणीय यह है कि इन भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? काव्य से भावों का वाच्य-वाचक भाव-सम्बन्ध इसलिये सम्भव नहीं है क्योंकि वाच्य भी स्वयम्भू से कबित नहीं होते अपितु बिनावाचिकों से बोध्य होते हैं। गृन्थार आदि रसों से युक्त काव्यों में गृन्थार आदि अथवा रसार्थि अथवा कभी भी व्युत्पन्नोत्पन्न तो होते नहीं जिससे हम इन भावों के अथवा इनके वर्तमान स्वरूप को अभिप्रेय कहते। अथवा मान लिया जाए कभी रसार्थिकों का स्वयम्भूवाचक अथवा (रसि या गृन्थार) से वाच्य होता भी हो तो वहाँ इसकी अस्वादिता का कारण वह अभिप्रेयक अथवा नहीं होता अप्रयुक्त बिनावाचिकों के ही कारण इनकी रसस्वता सम्भव है केवल अभिप्रेयक अथवा मान से ही वह अस्वादि होता हो गया कभी सम्भव नहीं है।

भावों का काव्य के भाव सत्य-सम्यक् भाव-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता क्योंकि विषय रस की प्रतीति के लिए सामान्य पद (रस) का प्रयोग होता ही नहीं है। रस सामान्यवाचक है और प्रतीति किसी विषय रस की होती है। सामान्य रस गृन्थार आदि विषय के वाचक हो नहीं सकते।

यहाँ कथित सद्यथा भी नहीं हो सकती है क्योंकि जिस प्रकार 'गंगा में घोष है रस स्वयं में अस्त-म्वरूप गंगा में घोष की अपारता (रहता) सम्भव नहीं है अतः गंगा अथवा विवक्षित अर्थ की प्रतीति करने में पूर्णतः असमर्थ है। अतः स्वार्थ साध से निरर्थक सम्बन्ध टटक्य अर्थ को वही गंगा अथवा कथित करता है। इसी प्रकार किसी भी रस की प्रतिनिधि कराने के लिए प्रयुक्त अर्थ विवक्षितार्थ के बोध करने में सक्षम बल (अवस्था) नहीं होता है तो फिर अर्थ के क्यों सत्यता से रस की प्रतीति करायेंगे? यदि हमारे इन पदों की सत्यता की भी जाए तो हम यह ब्रूय हैं कि अर्थ ऐसा भी होना जो नई या प्रयोग के

बिना ही अन्याय में अन्यायवाचक शब्द का औपचारिक प्रयोग करना ? इन कारणों से ही 'सिंहोभाषक' आदि की भाँति शुभश्रुति की भी सम्भाषना नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि यदि रस वाच्य रूप से प्रतीत होता तो इस स्थिति में वाच्य-वाचक मान का ज्ञान रखनेवाले असहृदयजनों की भी काव्य के रस का आस्वाद होने लगता ।

यह रस की प्रतीति केवल कास्मिक नहीं है जो इसे नकारा (प्रस्तीकार करना) जा सके क्योंकि सभी सहृदय रस की सत्ता का एक मत हो समर्थन करते हैं । इसीलिए इस धर्म की सिद्धि के लिए परिकल्पित प्रमिता लक्षणा एवं गौणी से अतिरिक्त व्यञ्जकत्व लक्षणवाया व्यञ्जनाभ्यापार स्वीकार करते हैं ।

बिना अनुभाव और व्यभिचारी के द्वारा अनुभूत होती हुई रसादि की प्रतीति वाच्य कैसे हो सकती है ? जैसे 'कुमारसम्भव' में—

‘पार्वतीजी फले हुए नये कण्ठ के समान पुसकित धँसों से प्रम जलनाही हुई, लजीली आँखों से अपना अत्यन्त सुन्दर मुख कुछ ठिगठा करके लड़ी रह गई ।’

इत्यादि में अनुप्रास से उत्पन्न होनेवाली जो अवस्था विशेषरूप अनुभाव है उससे कुछ विरिजाक्य बिभाव के वर्णन से ही रस की प्रतीति होती है । यद्यपि रसादिवाचक शब्द वहाँ नहीं हैं । अन्य रसों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए । केवल रस ही की बात नहीं है बल्कि मान में भी वही स्थिति है । जैसे—

“हे धार्मिकजी आप आत्म के साथ विचरण करें, क्योंकि जिस दुस्ते से आप डरा करते थे उसे पास ही में छोटावरी नदी के किनारे रहनेवाले सिंह ने मार डाला ।”

[यही वह विधि प्रयुक्त भ्रमण है पर व्यञ्जन या प्रकरण के परि-
टीतन से विषय पर में धर्म की विमान्ति होती है]—इत्यादि में निवेद्य ज्ञान स्ववाचक पर ही अनुपस्थिति में भी व्यञ्जना की महत्ता से ही होता है ।

यह बात धर्मकारों में भी पाई जाती है। उसे—

हे बचल धीर विद्याल मेघोबाली सावध्य धीर वान्ति से विमन्तर को परिपूरित कर विनेवासी तुम्हारे मुख के मन्द मुस्काम से मुक्त होने पर भी इस समुद्र में डरा भी सोम पैदा नहीं होता है अथ मामूम होता है कि यह वास्तव में भूकता से भरा हुआ है [जसराधि का बड़ राधि करना पड़ता है क्योंकि सस्रुत में न धीर इ में भेद नहीं माना जाता] इत्यादि में तम्बी का बहमारविन्द बात्र के तुल्य है इत्यादि उपमा धर्मकार की प्रतीति व्यञ्जना चरित के ही कारण है। इस प्रतीति को सर्वापत्ति से धारा हुआ नहीं कह सकते क्योंकि सर्वापत्ति के लिए अनुपपद्यमान व्यप की धवेता रहती है पर व्यञ्जना के लिए इसकी कोई प्रावश्यकता नहीं है। इस प्रतीति को बाध्यार्थ भी नहीं कह सकते क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ है तृतीय कथा का विषय। उदाहरणार्थ 'अम धार्मिक विद्यम्ब' इत्यादि स्वयं में पहले पदार्थ प्रतीति होती है जो धर्मिणा का कार्य है। इस प्रथम कथा की पदार्थ प्रतीति है अनन्तर द्वितीय कथा में क्रिया कारण संवर्ग स्वयं बाध्यार्थ की प्रतीति होती है तदनन्तर तृतीय कथा में 'अमण निषेध' स्वयं व्यङ्ग्यार्थ जो व्यञ्जना शक्ति के अधीन है स्पष्ट ही आसित होता है। अथ द्वितीय कथा में प्रतीति बाधना से तृतीय कथा में प्रतीति होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ सदैव भिन्न है। अथ व्यङ्ग्यार्थ और बाध्यार्थ कथमपि एक नहीं हो सकता।

यद्यपि 'विषं भुङ्क्ते' इत्यादि वाक्यों में जहाँ पदार्थ-तात्पर्य समस्त धूममाण नहीं है और तात्पर्य है 'मोक्षन निषेध' आदि। वही बाध्यार्थ की तृतीय कथा है ही। इस स्वयं में व्यञ्जनावादी को भी 'निषेधार्थ प्रतीति' बाधनार्थ मानना ही पड़ेगा क्योंकि तात्पर्य से ध्वनि सर्वथा भिन्न है। यही निषेध का ही तात्पर्य है व्यङ्ग्य का नहीं और बहु स्पष्टतः तृतीय कथा का विषय है। तथापि इस प्रकार तात्पर्यार्थ स्वरूप बाध्यार्थ भी तृतीय कथा का विषय हो गया यह कहना ठीक नहीं है।

अस्तुतः 'विषं भुङ्क्ते' जैसे वाक्यों का स्वार्थ द्वितीय कथा में

प्रविशान्त ही रहता है—उस कक्षा में अभिया की सहायता प्राप्त पराबों के परस्पर संसर्ग रूप बाण्यार्थ से जो द्वितीय कक्षा में प्रतीत होती है—विश्रांति प्राप्त नहीं होती। यद्यपि जब तक स्वार्थ में बाण्यार्थ विभाज्य न हो जब तक द्वितीय कक्षा ही चलती रहती है। तृतीय कक्षा तो स्वार्थ विभाज्य के अनन्तर प्रारम्भ होती है और उसे व्यंग्य (कक्षा) कहते हैं। यही द्वितीय कक्षा में क्रिया कारक मसर्ग रूप बाण्यार्थ अनुपपन्न इसलिए है कि इस बाण्य का प्रकृता पिता अपने पुत्र को विप भक्षण में निपुण्त कैसे करेगा ?

पर सरस बाण्यों में विश्रांति भावि की प्रतीति द्वितीय कक्षा में होती है, रसों की नहीं। यद्यपि उस रूप व्यंग्यार्थ की तृतीय कक्षा निविशान्त सिद्ध हुई। कहा भी है—‘स्वार्थ में प्रतिष्ठित न होने के कारण प्रविशान्त बाण्य को तात्पर्य बोधित करना चाहता है उस तात्पर्य में तात्पर्यवृत्ति का ही मानना उचित है। किन्तु जब बाण्य स्वार्थ में विभाज्य होकर प्रतिष्ठित हो चुका हो और फिर भी किसी अन्य अविभाज्य अर्थ को बताने में समर्थ हो तो उस अर्थ में निश्चय ही ध्वनि की स्थिति है। इस प्रकार सर्वत्र रस सर्वत्र व्यंग्य ही रहने। परन्तु वस्तु और अर्थकार तो कहीं व्यंग्य और कहीं बाण्य होमे। इस स्थिति में सभी व्यंग्य ध्वनि नहीं रहे वा सकते प्रत्युत वहीं वही प्रधानतया तात्पर्य विषय का हो। वही व्यंग्यार्थ में प्रधान रूप से तात्पर्य नहीं हो वही व्यंग्य के प्रधान न होने से शुचीयुत व्यंग्य की स्थिति होती। कहा भी है—

“जिस स्थान में अपने अर्थ की शुचीयुत बनाकर सत्य एवं अपने ही को प्रधान बनाकर अर्थ अन्य अर्थ के शोचन में उत्पन्न होता है उसे विद्वानों ने ध्वनि नामक काव्य का एक (उत्तम) भेद माना है।” परन्तु वही द्वितीय कक्षा बाण्यार्थ ही प्रधान होता है और रस भावि उसके अर्थ होते हैं ऐसे काव्य में रस भावि प्रधान के उपकारक होने के कारण अर्थकार ही होते हैं।”

जैसे 'उपोद्धरण' इत्यादि स्वयं में रसादि धर्माकार हैं।

उस ध्वनि के विवक्षित बाष्प और अविवक्षित बाष्प दो भेद होते हैं। विवक्षित बाष्प के भी अत्यन्त तिरस्कृत और अत्यन्त संक्षमित दो भेद होते हैं। विवक्षित बाष्प के भी दो भेद होते हैं—

१ असंलक्ष्यक्रम और २ समक्ष्यक्रम। हममें रसादि असंलक्ष्यक्रम में पाते हैं। ये रसादि अङ्गीकृत (प्रधान रूप) में रहें वही ध्वनि कहे जाते हैं और यदि अग्रधान हो जाएँ तो रसवद् धर्मकार कहलाने लगते हैं। अग्रधान रहने पर ध्वनि नहीं रह जाते हैं।

इस प्रकार तृतीय कला में आठ धर्म की व्यंगता का पूर्व पक्ष में रसकर उसके तात्पर्यता सिद्धान्ति करने के लिए सब 'बाष्पा' इत्यादि से आरम्भ करते हैं।

बाष्पा प्रकरणाविध्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।

बाष्पाम कारकैर्युक्ता स्याथी भावस्तथेतत् ॥३७॥

जिस प्रकार बाष्प यथा प्रकरण धारि के द्वारा सम्य क्रिया कारकों से युक्त होकर बोधाय बनता है उसी प्रकार विषयाधिकों से युक्त स्वाधीभाव भी बाष्पाम की बुद्धि में प्राप्त सकता है ॥३७॥

जिस प्रकार 'आमम्याज' इत्यादि साक्षिक बाष्पों में स्वबाधक पर से भूयमाण तथा 'हार हार' इत्यादि में प्रकरण धारि यथा बुद्धि में उपारङ्ग क्रिया ही कारकों से संसृष्ट होकर बाष्पार्थ बनती है उसी प्रकार बाष्पों में वही 'प्रीत्यै नवादा प्रिया' इत्यादि स्वयं में स्वबाधक धर्म (प्रीतिबाधक धर्म) के उपादान करने से भूयमाण एवं वही प्रकरण धारि यथा नियत रूप से प्रमिषा के द्वारा प्रतिपादित विभाव धारि के भाव निरय सम्बन्ध होने के कारण साक्षात् भावक के चित्त में स्फुरित होता हुआ रसादि स्वाधीभाव ही अपने अपने उन विभावान्त्रिकों से जो इनके प्रविधायक शब्दों द्वारा आवेदित किये गए हैं संस्कार परम्परा से वराप्रौढ को प्राप्य कराया जाता हुआ रस पदवी को प्राप्त करता और वह बाष्पार्थ ही है।

है इस पर यदि आप यह कहें कि वाक्यार्थ पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से अभिनिष्पन्न होता है अतः वाक्यार्थ में पद से अभिविहित पदार्थों की ही (संसर्गसहित) प्रतीति होगी जो पद से अभिवा के द्वारा आवेदित होने ऐसे अपदार्थों की प्रतीति वाक्यार्थ में सम्भव नहीं। रति आदि भावों की यही स्थिति है वे दूसरे के द्वारा कभी भी बोधित नहीं हो सकते अतः अपदार्थ ही होंगे। और अपदार्थ इत्यादि (पुष्ट अथवा अपुष्ट) वाक्यार्थ कैसे बन सकते ?

इस पर हमारा कथन यह है कि तात्पर्यार्थ तो वाक्यार्थ है ही इसे तो आप कबनपि अस्वीकार नहीं करेंगे और तात्पर्य कार्यसिद्धि करने पर पर्यवसित हुआ करता है। कहने का भाव यह है कि सभी वाक्य दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—वीक्ष्य और अपीक्ष्य। और वे द्विविध वाक्य किसी-न किसी उद्देश्य से प्रयुक्त होते हैं। यदि इनका कोई तात्पर्य नहीं—उद्देश्य नहीं तो वे जन्मलों के प्रभाव से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकते। काव्य वाक्यों का यदि अन्वय व्यतिरेक से जिस कार्य के प्रति कारणता देखी जाती है वह निरतिशय सुखात्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः आनन्दोत्पत्ति ही कार्य रूप से निर्भात किया गया है। इस आनन्द के अतिरिक्त किसी मान्य पदार्थ का न तो काव्य प्रतिपादक है जो प्रतीतिपत्र में आया और न तो इसके अतिरिक्त प्रतीतिपत्र में आनेवाला कोई पदार्थान्तर प्रतिपाद्य ही है। इस आनन्दोद्भूति का निमित्त विभाव आदि से सम्बन्धित स्थायी ही प्रथमतः होता है। अतः वाक्य की अभिवान धारित (तात्पर्य) अतः स्वतः के (वाक्यार्थ रस रूप) स्वार्थ की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अवान्तर विभावधारिकों का प्रतिपादन करती हुई परवसम्भ होती है। ऐसी स्थिति में आप विभाव आदि को तो पदार्थ स्थायीय समझें। अभी से संसृष्ट इत्यादि स्थायीभाव वाक्यार्थ परवी प्राप्त करते हैं धर्मात् रस इस प्रकार द्वितीय कक्षा में प्रविष्ट होनेवाला वाक्यार्थ ही है। इस प्रकार काव्य वाक्य ही है जिसका अर्थ पदार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों ही हैं।

इस पूर्वकथित सिद्धांत पर यह पूर्वपक्ष खड़ा हो सकता है कि जिस प्रकार गीत धारि का उसके द्वारा उत्पन्न सुख से बाध्यवाचक भाव नहीं है उसी प्रकार काव्य वाच्य से उत्पन्न रसादि का भी काव्य वाच्यों से बाध्यवाचक भाव का घभाव होना चाहिए ।

पर यह कथन भिन्नमितित कारणा से घाह्य नहीं हो सकता—

यहाँ तो रसास्वादि ज्यों का हो सकता है जिन्हें धर्म से निवेदित धर्मीकिक विभाव धारि सामग्री का ज्ञान है तथा उक्त प्रकार की रसादि भावना हो चुकी है, अतः यहाँ गीत धारि की भाँति बाध्य वाचक भाव का उपभोग नहीं है यह कथन ठीक नहीं है । बिना बाध्य-वाचक भाव ज्ञान एवं सहृदयता के रस के कारणों का ही अन्तःकरण में उपस्थित होना असम्भव है । इस युक्ति से अब यह घोषित नहीं की जा सकती कि गीत धारि से उत्पन्न होनेवाले सुख का आस्वाद लेनेवाला जिस प्रकार बाध्य-वाचक भाव धारि से रहित व्यक्ति भी हो सकता है उसी प्रकार काव्य से उत्पन्न आस्वाद का भी वह आस्वादक बन सकेगा । बाधयार्थ का इस प्रकार निरूपण हो जाने पर परिकल्पित धर्मिणा प्रभृति धारि की सहजता से ही समस्त रसादि रूप बाधयार्थ का बोध हो जाएगा अतः व्यञ्जना-जैसी बूमरी शक्ति की कल्पना प्रयास-मात्र ही है जैसा कि हमने काव्य निबन्ध में बताया है—

ध्वनि काव्य की मिति है । व्यञ्जना-व्यापार और उक्त रीति से यह स्पष्ट हेतु लिया कहा गया है कि व्यञ्जना-व्यापार तात्पर्य से पुनः कोई तरव नहीं है । अतः ध्वनि काव्य भी कोई वशार्थ नहीं है अथवा ध्वन्य पदार्थ नहीं है । यदि हमारी उक्त व्यवस्था आपको स्वीकार नहीं है—
धर्मात् अथवा तात्पर्य को ध्याप तृतीय वक्ता का विषय मानकर ध्वन्य की एक ठोमरी कोटि बनात हैं और उसे बाधयार्थ से भिन्न मानकर ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं तो आपन पूछते हैं कि जहाँ बाध्य का तात्पर्य धर्म से निवेदित नहीं है एमी धर्मोक्ति अलङ्कृति में ध्याप क्या करेंगे ? यहाँ भी तो आप ध्वनि काव्य स्वीकार करेंगे ? वरदादि

नहीं कर सकती । फिर इस धर्मव्यवस्थित व्यवस्था में क्या घास्ता ?

अथवा इस लोक के पूर्वादि को तात्पर्यवादी का एवं उत्तरार्ध को धर्मवादी का मत समझिए । फिर पूर्वादि की व्याख्या तो ऊपर के अनुसार दीजिए । यही बात उत्तरार्ध की भी उसे यों समझिए—

‘मां विद्धि साकोटकम्’ इत्यादि धर्मोक्ति के उदाहरण में यही तात्पर्य समस्त अनुमान नहीं है—आप क्या कहेंगे ? अर्थात् यहाँ अनुक्त तात्पर्य है, यह कैसे कह सकते हैं ? बात यह है कि—‘तात्पर्यं वस्तुनिष्ठा’ तात्पर्य वक्ता की इच्छा का नाम है । यहाँ पर साकोटक में इच्छा सम्भव नहीं है अतः इस स्थान पर तात्पर्य कहाँ सम्भव है ? अतः यहाँ निर्बल को छोड़ित हो रहा है, उसे साकोटक का तात्पर्य कैसे कहेंगे ? इस स्थिति में यह तात्पर्य भी न बन सकेगा । पर व्यप्याप्त के होने में क्या हानि है ? अतः व्याख्या की पूर्णक कल्पना करनी ही पड़ेगी जिसके ऊपर ध्वनि की अनुमिति सह्य करी की जा सकती है ॥१॥

‘विषं मज्जय मां वात्स्य’ इत्यादि व्याख्या से प्रतीयमान में प्रमाणतः तात्पर्य के होने से प्रसङ्गमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है ?

व्यतिवादी धर्म एवं तात्पर्य का भेद बिछाटे हुए कहता है कि ध्वनि तब होती है जब स्वार्थ में प्रतिष्ठित होकर बाह्य धर्मांतर का बाध करता और बहि स्वार्थ में प्रतिष्ठित होकर धर्मांतर की प्रतीति बाध्य करता हो या तात्पर्य कहला जाता है ॥२॥

परन्तु ध्वनिवाकियों के इस भेद कथन में धर्मांतर का कारण यह है कि वाक्य की तब तक विधायित्व ही नहीं होती जब तक पूर्व धर्मिणेत धर्म को न दे भेदा हो अथवा यह कह सकते हैं कि यदि धर्मांतर भी उससे निकलता है तो उसके पूर्व वाक्य की विधायित्व ही सम्भव नहीं है । इस प्रकार यह उक्त भेद बिना विधायित्व के आधार पर किया गया है यही असम्भव है । वस्तुतः यह भेद का कारण नहीं है अतः तात्पर्य और ध्वनि एक ही चीज है, इनमें भेद नहीं है ॥३॥

एतावन्मात्र धर्म में ही विधायित्व होती है । यह विषय किन्तु

बनाया है ? तात्पर्य तो कार्यपर्यवसायी होता है—जब तक अभिप्रेत धर्म नहीं मिलता तब तक बाध्य का कार्य समाप्त नहीं होता । तात्पर्य तराजू पर रखकर तोमा थोड़े ही पमा है जो तात्पर्य एक घरा के भीतर ही रहेगा । तात्पर्य यही तब होगा धीरे धीरे व्यंग्यार्थ होगा इसका कोई नाप नहीं है । इस रीति से व्यंग्य और तात्पर्य अभिन्न है ।

ध्वनिवादी ध्वनि के लिए फिर इसीज वेध करता है—

अन्य धार्मिक विध्वज इत्यादि बाध्य प्रमण-रूप धर्म का ही प्रतिपादक है । यही पर प्रमण का निषेधबोधक पद तो है नहीं जिससे बाध्य धर्म से प्रमण के निषेध का बोध हो सके । पर हमारे मत से ता बाध्य अनन्यकाल में विध्वज प्रमण रूप विध्वान्तक धर्म का बोध कराकर एक प्रकार से बाध्य विध्वान्त हो जाता है उससे बाद झुलटा स्त्री की विधेयता के ज्ञान होने से उसका उद्देश्य प्रमण के निषेध-रूप धर्म में जात होता है । इस प्रकार व्यंग्यार्थ की पृथक् सत्ता विध्वान्त के अनन्तर प्रतीति से पूर्ण ही होमे हैं सम्भव है ॥३॥

[ध्वनि के लक्षण करनेवाले ध्वनिकार इसका उत्तर निम्नलिखित प्रकार से देते हैं]—

धोठा की झाँझला निवृत्ति के लिए यदि उक्त बाध्य में विध्वान्त मान भी जाती है और विध्वान्त के सम्भव होने से व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर भी जाती है तो हम यह कह सकते हैं कि वक्ता के विवक्षित धर्म का साम जब तक नहीं होता तब तक विनिगमन के प्रभाव में बाध्य की ध्वनिध्वान्त ही क्यों न मान भी जाए ॥५॥

पौरुषेय बाध्य किसी-न किसी सामान्य विवक्षा से उन्मूलित होते हैं यत वक्ता का अन्तर्मुख अभिप्रेत धर्म बाध्य का तात्पर्य ही कहा जाएगा और जब तक अभिप्रेत धर्म का विवक्षित धर्म न आ जाए तब तक विध्वान्त ही नहीं क्योंकि जब बाध्य विध्वान्त ही जाएगा तो फिर वह धर्म धर्म का प्रत्यागमन क्यों करेगा ? और यदि फिर भी करता है तो इसका स्पष्ट धर्म है कि धर्म वह विध्वान्त नहीं हुआ है ॥७॥

इस रसादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यञ्जक भाव भी सम्भव नहीं है। तो क्या फिर हमका सापेक्ष में भाव्य भावक सम्बन्ध होगा ?

हाँ वस्तुतः काव्य है भावक और रस है भाव्य। ये स्वयं होते हुए प्रतीतिक विभाव का ज्ञान रसमेवासे सङ्ख्य से भावना के विषय बनाए जाते हैं। यद्यपि ध्वन्यनवर्ति काव्य से अतिरिक्त वेदादि बाह्यमयी ध्वन्य साक्षात् में ध्वन्य का प्रतिपाद्य के साथ भाव्य भावक सम्बन्ध नहीं देखा गया है परन्तु यहाँ स्वीकार करने में कुछ व्यंग्य प्रतीति द्वारा तथापि भावना-व्यापार माननेवालों ने ऐसा काव्य ही में होने के कारण स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि ध्वन्यनवर्ति का रसादि के प्रति ध्वन्य-व्यतिरेक ब्रह्मात् कारणता नहीं देती गई है और यहाँ सतथा सङ्ख्य से ध्वन्य से अनुमृत है। इस पर क अनुमृत एक उक्ति भी है—

माटप प्रयोजनान्नो न भाव की सजा इसलिये भी है कि इनसे और प्रमितय से ध्वन्य भाव के प्रमितय से इनका सम्बन्ध होने के कारण ये रस को भावित करते हैं।

प्रश्न उठता है कि पदों से स्थायी आदि भावों की प्रतिपत्ति कैसे होती? पर उन्हीं के प्रत्यायक हो सकते हैं जिन पदों की शक्ति होती है। भावनाभावियों का उत्तर यह है कि लोक में जिस प्रकार के भावों की बोधिका जो चट्टाई होती है। स्त्री पुरुष में वैसा ही यदि काव्य में भी उपनिबद्ध है। ती रसादि भावों के निरूपण के चट्टाई के प्रति पादक ध्वन्य के सुनने से ध्वन्य प्रतीति चट्टाई रूप प्रमितय स्वसम्बन्ध भाव की प्रतीति कराया है। प्रतीति 'प्रमितयविनामृत' होने के कारण साक्षात्की कही जायेगी। काव्यार्थ की भावुकता और भी धाये बढाई जायेगी।

रस स एव स्वाद्यस्यावसिक्तस्मयवर्तमात् ।

नामुकायस्य युक्तत्वात्काव्यस्मात्तत्परत्वं ॥३८॥

रस पर से काव्य में बहिष्कृत विभाव आदि से पुनः स्थायीभाव की हो प्रतीति होती है क्योंकि आश्वासन नहीं है। वस्तुतः तर्क है उत्तरी

रसिकनिष्ठता का अर्थात् वह रसिक में उन्नत स्थायी ही रहता है । उस रस का अनुकाय से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह रसकाल में वर्तमान ही नहीं रहता और रसवान् काव्य अनुकार्य के लिए तिथे भी नहीं आते ॥३८॥

दृष्ट्वा प्रतीतिर्द्योऽप्यारोग्येऽप्यप्रसङ्गत ।

लौकिकस्य स्वरमणोसमुक्तस्येव वर्णनात् ॥३९॥

अनुकार्य से सम्बन्ध मानने पर अग्न्य आपत्ति यह है कि वह अपनी सभी से संयुक्त किसी लौकिक नायक का शृंगार आदि का प्रतीति भाव होना उसमें रसता नहीं रहेगी । अथवा देखनेवाले के स्वभावबदा बीड़ा ईर्ष्या राम कृष्ण का भी प्रलय भा सजता है ॥३९॥

‘त’ (वह) इस सबनाम से काव्यार्थ का उद्भावित रसिक निष्ठ रसवादि स्थायीभाव का परामर्श किया जाता है वह आत्मन्वात्मक आनन्द भास्वादिनामा रस रसिकवर्ती इसलिए है कि उस स्थिति में (स्वाधत्त्व प्रतीति काल में) रसिक ही वहाँ वर्तमान है अनुकार्य राम आदि से उस रस का सम्बन्ध इसलिए नहीं है कि वह उस समय है ही नहीं वह तो प्रतीति की मोद में बना गया है ।

यद्यपि वह अनुकाय शब्द के माध्यम से अवर्तमान होना हुआ भी वर्तमान की भाँति जान पड़ता है फिर भी अनुकार्य का अवमान हम मोहों को स्पष्टतः अनुभूत नहीं होता अतः वह न जाने के ही ममान है और जो कुछ थोड़ा-बहुत अवमानित होता है वह तो आवश्यक ही है क्योंकि उसने के बिना राम आदि की विभावगुणता भी तो नहीं बनयी । विभाव राम आदि यदि किसी रूप से भी नहीं रहेंगे तो रसान्धता ही नहीं हो सकती । दूसरी बात राम आदि को रसानुभावकों की कोटि में न बिनाने का यह भी है कि काव्य का अनुभव अनुकाय की नहीं प्रत्युत सहृदयों को होता है । अतः रसानुभूति हो इसलिए इसका निर्माण होता है । यह मध्य ममस्त भावकों को स्वयं अनुभूत है ।

यदि राम आदि अनुकार्य को शृंगार आदि रस अनुभूत होना तो नाटक

में उसको देखने से शीकित शृंगार की भाँति उस शृङ्गारी शौकिक नायक के समान जो अपनी स्त्री से समुपत है वर्णन से केवल यही प्रतीत होता है कि यमुक नाम का यह शृङ्गारी है। इसके अतिरिक्त वहाँ रसास्वाद्य नहीं होता है। सत्पुरुषों का तो जिस प्रकार शौकित शृङ्गार का वर्णन अन्यास्य है उसी प्रकार यह भी होता। धन्य बुद्धों की ईर्ष्या असूया अनुराग अपहरण इत्यादि की भावनाएँ भी जागृत होती। [पर ऐसा नहीं होता पर अनुकारों में प्राप्ति शृङ्गार आदि रस नहीं होते।]

इस प्रकार रस व्यंग्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि व्यंग्य वही कहा जा सकता है जिसकी सत्ता अभिव्यक्त से पूर्व ही स्थित हो सदाहरणार्थ जैसे प्रदीप से (व्यंग्य) घट। व्यक्त प्रदीप से घट की सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है। अभिव्यक्त अभिव्यक्त से अपनी सत्ता प्राप्ति नहीं करता केवल प्रकाशित मात्र होता है। और वह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रेक्षकों में रस विभाव आदि से प्रकाशित न होकर अनुभवमान होते हैं।

अब एक संधा यह होती है कि सामाजिक में होनेवाले रस का विभाव कीत है? और किस प्रकार सीता आदि ऐश्वर्या को पूज्य हैं उनके भी विभाव बनने में कोई विरोध नहीं होता? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया जाता है।

भीरोदास आदि अवस्थाओं के अभिनायक राम आदि रत्नादि को सामाजिकों के अन्तःकरण में अंकुरित कहते हैं और वे अंकुरित रत्नादि रसिक का आस्वाद्यमान होते हैं।

हाँ ध्यान देने की बात यह है कि कवि कोई योगी तो है नहीं जो अपनी समाधि में ध्यान द्वारा वैयक्तिक रूप से राम आदि अवस्थाओं को इतिहासकार की भाँति काव्य में निरूपित देता। फिर होता क्या है?

होता यह है कि कवि अपनी कल्पना से केवल उन अवस्थाओं की सामान्य रूप से सम्भावना कर किसी भी उत्तम पात्र में उनका वर्णन कर देता है।

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादि प्रतिपादकः ।

पिभावयति रस्यावीन्स्वदम्ते रसिषस्य ते ॥४०॥

और फिर वही सीता प्रभृति साधारण नायिका के रूप में रस के समाधि बन जाती हैं । और तब सीता आदि शब्द जनक की पुत्री के इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले नहीं रह जाते । इस अर्थ के प्रतिपादन की उनकी (सीता आदि) की शक्ति खरित हो जाती है ॥४०॥

वे स्त्री मात्र के बाधक रहकर अविष्ट उत्पादन से रहित हो जाते हैं । फिर प्रश्न यह हो सकता है कि यदि उनकी प्रतीति सामान्य रूप से ही उपयोगी होती है तो उनका विशेष रूप से काव्य में ब्यन करने की क्या आवश्यकता है ? भाव यह कि यदि सीता को सीता रूप से जान मन से कोई मान नहीं तो उन्हें काव्य का विषय बना ही क्यों जाता है ?

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेनव ।

हीदृता मृगमयपुद्गलानां द्विरवाचिभिः ॥४१॥

इतना उत्तर यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के बने अक्षरों द्वारा आदि से देखते हुए जानकों को उत्साह और आनन्द मिलता है उसी प्रकार अक्षरों द्वारा आदि से मोतालों को अपना उत्साह भी अनुभूत होने लगता है ॥४१॥

कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक मृगार में स्त्री आदि का उपयोग होता है उसी प्रकार वहाँ भी होता हो वा बात नहीं है । वस्तुतः उन्मत्त रीति से लौकिक रस से नाट्य रसों की विसमता है । कहा भी है—

‘नाट्य में पाठ ही रस होते हैं ।

स्वोदाहृत्य स्वदत्ते सङ्कटोत्प्लवणमश्रु नाविभिः ।

वाग्यार्थभाषनास्वादो नतरस्य न वायते ॥४२॥

यदि काव्यार्थ की भावना बनाम जनक को भी आश्चर्य हो जाए तो हम उसे आश्चर्य नहीं करते ॥४२॥

प्रमिद-काल में जो नर्तक को रस का आस्वाद होता है वह सौक्य-रस की भाँति नहीं होता है। कारण यह है कि वह अभिनय-काल में अभिनेत्री को अपनी स्त्री के रूप में नहीं समझता। काव्यार्थ की भावना से बची-भूत होकर यदि वह भी सामानिकों के समान ही रस का अनुभव करे तो उसे हम नहीं रोकते।

काव्य से किस प्रकार स्वानन्द की उत्पत्ति होती है और उसका स्वरूप क्या है, अब यह बताया जाएगा—

स्वाद्य-काव्यार्थसंभेदादात्मनान्भवसमुद्भवः ।

विकाशविस्तरकोभविशेषः स असुविद्यः ॥४३॥

आपमान काव्यार्थ से अनुभूयमान आत्मानन्द है वही रस पर का अर्थ है। वह स्वाद्य, भूषण, वीर, वीमल एवं रौद्र में क्रमशः मन के विकास विस्तार, विलोम और विशेष प्रवृत्ति बढाते हुए प्रकार का होता है ॥४३॥

शुद्धारण्यवीमलरौद्रेषु मनसः प्रमात् ।

हास्यानुतमयोत्कर्षकरणामा त एव हि ॥४४॥

अतस्तद्वदन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

क्रमशः हास्य अनुतम मय एवं उत्कर्ष में भी मन की वही अवस्थाएँ होती हैं। यही कारण है कि पुरुष के चारों ओर (भूषण-वीर-वीमल रौद्र का) अनन्तर अनुभव (हास्य अनुतम-अपमान-वदन्यता का) का अनन्तर कहा गया है। वीर वही रहस्य अज्ञान (केवल भाव ही) में अवधारण का भी है ॥४४॥

काव्यार्थ विभाव आदि से सम्बन्धित स्थायी स्वरूप है। इस प्रकार के काव्यार्थ से भावक का चित्त अनुकार्य की चित्तावस्था की समता प्राप्त कर लेता है। जहाँ राम-द्वेष का मूल मी-नुम का भाव विवर्धित हो जाता है—“म अवस्था के अनन्तर भी प्रवर्धित स्वानन्द की अनुपत्ति होती है वही है स्वाद्य। यद्यपि यह स्वाद्यरूपता सकल रसों में एकत्र है तथापि नियत विभाव आदि के कारण चित्त की चार अवस्थाएँ होती

है। चित्त की अवस्था को ही सत्य में रसकर हास्य भादि का शृंगार भादि के साथ अन्य-जनक भाव कहा गया है। कार्य-कारण को दृष्टि में रखकर नहीं कहा गया है।

रसोकार्थ—'शृंगार से हास्य रीत्र सं कल्प बीर से ध्वमुत्त भीर बीमत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।

इस उत्पत्ति का रहस्य उसी चित्तवृत्ति की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। शृंगार से हास्य उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत अपने ही बिम्बावशिकों से होता है—'शृंगारानुवृत्तिर्मानु' इत्यादि श्लोक से शृंगार एवं हास्य की एक ही प्रकार की चित्तवृत्ति की अवस्था का स्फुटीकरण होता है। और सबकारण भी इसीलिए उपपन्न हो जाता है—चित्तवृत्ति की बार अवस्था दुपुनी होकर घाट ही होती है अतः उदनुकूप रसों की भी नियत संख्या = ही है। भेदान्तर के अभाव से रसों रस नहीं हो सकता।

सभी रसों की सुप्रकृता—श्लोक में शृंगार, बीर हास्य प्रभृति के प्रभोदात्मक होने (संका) से सुखस्वरूप होने में किसी बात की रक्षा नहीं होती पर दुःखारम्भ करण भादि से सुखारम्भकता का अनुभव होना किस सम्भव है? कारण यह है कि दुःखारम्भ करण काव्यों के अवग स दुःख का भाविर्भाव एवं ध्वमुपात भादि रसिकों को भी अनुभूत है। यदि वे सुखारम्भ होते तो ऐसा क्यों होता?

समाधान—बात तो ठीक ही है परन्तु यह सूर वैसा ही सुख शृंगारमक है वैसे कि सम्मोमावस्था के कुट्टमित में प्रहरण भादि करने पर स्त्रियों को होता है। दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करण से काव्य का करण कुछ विभक्षण होता है। यही उत्तरोत्तर रसिकों की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यदि लौकिक करण के समान यहाँ का भी करण दुःख देनेवाला होता तो बर्तकों भीर (पाठकों) की कभी प्रवृत्ति ही (मादक बेगने भीर काव्य-ध्वन में) नहीं होती। फलस्वरूप कदम रस का निधान समायण भादि में कितनी की प्रवृत्ति न होने से रसका उद्भेद ही हो जाता। रही ध्वमुपात की बात तो वह सावन्त

के आकर्षण से शैक्षिक विकसता के समान विकसतावश यदि हो ही जाए तो उसका हमारे पास से कोई विरोध नहीं है। अतः रसान्तर के समान कबल रस को भी ध्यानान्तरक ही मानना चाहिए।

शान्त रस के अभिनेयन होने के कारण मद्यपि नाट्य में उसका समुपवेश असम्भव है। तथापि अथर्व काव्य में उसका निवेश इसलिए नहीं अस्वीकार किया जा सकता क्योंकि वही तो शब्द का राज्य है। शब्द से जब असम्भाव्य बातें भी बाँधी जा सकती हैं तो फिर शान्त का वर्जन क्यों नहीं हो सकता ? कहा जाता है—

शान्प्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तथात्मता ॥४५॥

‘अम का प्रकय (शान्त) अकथनीय है, मुदिता प्रभृति वृत्तियों से उसे प्राप्त किया जा सकता है ॥४५॥

यदि शान्त रस का स्वस्व—

‘वही सुख कुछ चिन्ता इष राग या इच्छा आदि का समाज हो वही शान्त रस का स्वस्व है ऐसा मुनीश्वरों का कहना है, पर सभी भावों में यह अम प्रधान है।’

यही है तो उसकी प्राप्ति मोक्षारब्धा ही में स्वस्व-प्राप्ति पर होती है। स्वस्वतः उसकी अभिवर्जनीयता का प्रतिपादन श्रुति भी ‘निर्वि’ ‘निर्वि’ कहकर अग्रापोह रूप से ही करती है। इस प्रकार के शान्त रस का आस्वाद सहजियों को नहीं होता। फिर उसके आस्वाद के उपान सूत मुदिता आदि वृत्तियाँ हैं और वे कमसे विकास विस्तर शोभ विबोध रूप हैं अतः इस उक्ति से ही शान्त रस को आस्वाद का निरूपण होता ॥

इस समय विभागादि से सम्बन्धित जो अन्तर्गत काव्य-व्यापार हैं उनके प्रवर्तन के साध-साध प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—

पदार्थैरिन्धुनिर्वेहरोमाञ्ज्वालस्वरूपकैः ।

काव्यादिभावसञ्जायनुभासप्रक्यतां यती ॥४६॥

भावित स्वयंते स्मायी रस स परिकीर्तितः ।

काव्य व्यापार के द्वारा कृष्ण अर्जुनी तरह से वर्णन किया गया जो अम्भुमा आदि अहीपन विभाव और प्रमदा आदि वष आभस्मन विभाव रोमाञ्च, धम्पुपात अ और कदास्त विशेष आदि अनुभाव तथा निर्बल आदि अंकारीभाव जो पदाय स्वाधीन हैं इनसे अन्तर्गत व्यापार के द्वारा पद को प्राप्त होनेवाला स्वाधीभाव रस नाम से पुकारा जाता है। इतना ही पहले प्रकरण में किये गए वर्णन का तात्पर्य रहा है ॥४६॥

अब इनके विशेष मक्षणों को बताया जा रहा है। आचार्य (मन्थ) ने स्वाधीभावों रसाधिकों और शृंगार आदि रसों का पृथक्-पृथक् संलग्न न लेकर केवल विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही दे दिया है। [अतः मैं भी वैसा ही कर रहा हूँ।]

सक्षमवय विभावैक्याबभेदाऽसभावयो ॥४७॥

शृंगार आदि रसों और रसादि स्वाधीभावों के संलग्न एक ही हैं अतः शृंगार आदि रस और रसादि भावों में कोई अन्तर नहीं है ॥४७॥

रम्यवेशकसावाजवेधनोगाविसेधने ।

प्रमोदात्मा रतिः सब धूनोरन्योन्यरसतयो ।

प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविधेहिते ॥ ४८॥

एक वस्तु के दो व्यक्तिगी (पृथक् और मूकती) में आनन्दस्वरूप रति का सुन्दर स्थान (वाय-अगीचे एकान्त स्थान आदि) सुन्दर कलाओं (विभक्तता आदि में निपुणता), सुन्दर समय (सन्ध्या आदि) और सुन्दर भोग विभागी तथा मधुर भांगिक चेष्टाओं (कदास्त विशेष आदि) के द्वारा परिपोष के प्राप्त होने को शृंगार (रस) कहते हैं ॥४८॥

इस प्रकार का वर्णन मुक्त काव्य शृंगार के आस्वार की योग्यता को पारण करता है अतः कवियों का धरने बभन में बातों का ध्यान रखना चाहिए।

रेश (स्थान) के विभाव का वर्णन अतः 'उत्तर रामचरित' में राम की यह उक्ति—

‘हे सुन्दरि उस पर्वत में लक्ष्मण द्वारा की गई धूपूपा से स्वल्प हम दोनों के उन दिनों की याद करती हो ? धपवा बहूँ स्वादु जलवासी पोदावरी की याद करती हो ? तथा गोदावरी के तट पर हम दोनों के खूने की याद करती हो ?

कला का विभाव जैसे—“अन्तर्निहित है वचन जिनमें ऐसे हावों द्वारा धन्वी तरह से धर्म की सूचना मिल जाती है। पाद निक्षेप से रस में सम्मिलन के साथ सब प्राप्त हो जाती है। मृदु अमिनय इहों प्रकार के अमिनयों का उत्पत्ति स्थान है। और प्रत्येक भाव में रागद्वेष विषयों को व्यक्त करते हैं।”

धपवा जैसे—जीमूतबाहन कह रहे हैं—“इसकी बीजा के तन्मियो से इसी प्रकार के व्यंजन धातुओं (बीजा बाध के स्वर के १० भेदों) का प्राकट्य हो रहा है। इतु मध्य और लम्बित ये तीनों प्रकार के धम भी बिसकुल स्पष्ट सुनाई पड़ रहे हैं। इतने योपुच्छ धादि प्रमुख मतिपों का भी सुन्दर सम्पादन किया है इसी प्रकार बाध के विषय में तीनों प्रकार के धमों का जो समूह है वे भी धन्वी तरह से दिखाए गए हैं।

कास के विभाव का अणुन जैसे कुमार सम्भव में—

‘अष्टोक का वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तों से सब पया और उसने भ्रमभजाते विदुषोंवासी सुन्दरियों के चरण के प्रहार को बाट तक भी नहीं देखा। यहाँ से प्रारम्भ कर—

‘नील धपनी प्यारी भीरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा। कासा हरिण धपनी उस हरिणी को सींग से पक-साने समा जो उसके स्पर्श का भुल भिती हुई धीक मूँदे बैठी थी।

वेप का विभाव जैसे बहूँ पर—

‘उस समय पार्वतीजी के शरीर पर माला यन्त्र को लज्जित करने वाले अष्टोक के पत्तों के सोने की जमक की घटाने वाली कजिहार के फूलों के घोर मोतियों की माला के समान उजले चिन्मुर के बासन्ती फूलों के आभूषण सजे हुए थे।”

उपभोग के विभाव का वर्णन उसे—कोई अपनी सखी से कहती है कि ऐ मान करमेवाली ! ऐसा लगता है कि तेरे प्रणयी ने किसी प्रकार से तेरे मान को तोड़ डाला है और इसीसे तुम्हारा कुछ मन भी बड़ा हुआ-सा लग रहा है । तेरा मान भंग हुआ है इसमें ये भीड़ प्रमाण रूप में प्रस्तुत हैं—१ तेरी घाँव का काजल साफ हो गया है । २ घघर भाग में लगी हुई पाम की समझी चाट डाली गई है । ३ कपोल-कलक पर केशपाश बिखरे पड़े हैं और ४ तुम्हारे शरीर की कान्ति भी प्रोन्नत हो गई है ।

आत्मस्वभाव रति का उदाहरण जैसे मानती माधव में—

‘नव इन्दु कलावि विभाव सबै बय के बिरही मन भीतर हुआ ।
हिम औरनु के सहस्रवत हैं उलटे हठ वही लगावत स्वास ॥
कई को यह सोचन अश्रिका बाब बसे हन नैननि बय रसास ।
बस मेरे तो जग में सोही महोउज (महोसब)

एकहि बार में होई निहास ॥”

मुक्ति का विभाव जैसे ‘मानविकान्तिमिष’ में—

‘तब मन-ही-मन सोच रहा है—‘बाह ! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है । क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी घाँवें कमरता हुआ घरद के बग़मा जैसा मुख कंधों पर बोड़ी झुकी हुई मुबाएँ, उमरछे हुए कपड़े स्तनों से जकड़ी हुई छाती बुँधे हुए-से पारब प्रवेष्ट मुट्ठी भर भी कमर मोटी-मोटी घाँवें और बोड़ी-बोड़ी झुकी हुई बानों पैरों की जंगलियाँ बस ऐसी जान पड़ती हैं मानो हगका शरीर इसके नाटयगुद (गणराजनी) के कहने पर ही पड़ा गया हो ।

पुनः और मुक्ती दोनों के विभाव उसे ‘मानती माधव’ (१।१८) में—

मगरी की पसीन में बारहि बार भभै यह माधव घाड़हूँ जाय ।
निब ऊँची घटारी से बँठि के बारहि बार विभोक्ति मानती बाय ॥
यह नाम-यो बय निहारि निहारि पकी बियनी रति-सी अगिराम ।
जलक पुनई हुआये झुगये घद बाँधे नुशोपन भंग समाय ॥

दोनों का पारस्परिक प्रभुत्वा जैसी नहीं (मा० मा० में १।१२)—
 बहु बार मरोरि के पीछा निहान्ति कृत्वि कंजमुखी बहु बास ।
 घने फारे बडे इक कोर है बेजि गई कोर लीकी कटाच्छ करास ।
 नहि जानि परे कि सुधा सों सनी कियो बोरी भई है हुसाहुल बास ।
 जो हिये में बँसी सो यँसी कसिके ब कटाच्छ की कील मुकीभी कसाम ॥

घण्टों की प्रभुर बेध्याए बीते नहीं (मा० मा० १।१०)—
 कबहुँ सङ्कुच कबहुँ बिचरि कबहुँ छठे ग्रीह तरपित पाठ ।
 कबहुँ बिचनह सनेह सों मुद्रित कानन सों बबहुँ बनि जात ।
 बहि बज्रमुखी की बिछीनि कबो सङ्कुच किम्भई सनई रसमाति ।
 घनभाबनी ऐसी बिकोकनि को मैं निसानी बस्यो नितही बहु भीति ॥
 ये सस्वका स्थायिन एव चाट्टी प्रिभलत्रयो ये व्यभिचारिरुद्वह ।
 एकीनपट्टचागवमी हि भावा युक्ता निबद्धा परिपोययन्ति ।
 मानस्यमौघम मरणां कुपुप्ता तस्यापयातितविषमिष्टम् ॥४६॥

पहले जिन आठ आत्मिक भावों आठ स्थायीभावों और तैतीस व्यभिचारी भावों को बता आए हैं वे सभी भूगाररस की पुष्टि के लिए उपयोग में आते हैं । पर ही एक बात अवश्य है कि वे पुस्तिक के साथ उपनिबद्ध किए जाएँ तो ही नहीं तो दख-विरोध होने के कारण प्राप्त-जन में व्यवधान ही पड़ेगा ।

आत्मिक उग्रता मरणां कुपुप्ता इनको साध्य-मेव के अन्वया एक ही आत्मजन विभाव के सम्बन्ध में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए सम्यक्ता रस को अन्वया में लाया पड़ेगी ॥४६॥

घयानो विप्रयोगश्च सभोगश्चेति स विधा ।

भूगाररस के विध—भूगाररस तीन प्रकार का होता है—१ घयोग,
 २ विप्रयोग और ३ संयोग ॥४७॥

घयोग और विप्रयोग ये विप्रकल्प के विध हैं । विप्रकल्प दूर आनायवाचक है ।

[प्रश्न]—विप्रयोग का वा. धात्विक धर्म है वही विप्रसम्भ का भी है फिर विप्रयोग के स्थान पर विप्रसम्भ ही क्यों नहीं रखते ?

[उत्तर]—विप्रयोग ने स्थान पर विप्रसम्भ के रखने से विप्रसम्भ में सहाया करके विप्रयोग धर्म जाना पड़ेगा। ऐसी बधा में सहाया के बिना काम नहीं चल सकता क्योंकि सामान्यवाचक शब्दों के विशेष धर्माभिप्रायी शब्दों में सहाया हुया करती है। पर वही सहाया करना समीप्य नहीं है। यदि धर्मिणा से ही धर्मात् सीधे-सादे ही धर्म निकल आए तो सहाया धर्मात् पुनः-फिराकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से जाने की क्या आवश्यकता ? इसी बात को ध्यान में रखकर विप्रयोग के स्थान पर विप्रसम्भ को नहीं रखा। अब विप्रसम्भ राज्य के बारे में बताते हैं कि यह केवल तीन ही अवयव मुख्य धर्म में व्यवहृत होता है। इन तीनों स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र सहाया करनी पड़ती है। जैसे—

१. धाने का लकैत देकर नायक का न धाना २ नायक के द्वारा अपने धाने की धर्मिणा अतिश्रमण कर जाना और ३ नायक वा धर्म नायिका में आसक्त हो जाना।

केवल इन तीन स्थानों पर विप्रसम्भ राज्य अपने मुख्य धर्म धर्मात् बंधना देने के धर्म में व्यवहृत होता है।

तत्रायोमोऽनुरागोऽपि नवयोरेकचित्तया ॥५०॥

पारतन्त्र्येण वैवादा विप्रकर्षाविसगमः ।

अयोग्यगार—अहाँ पर गई अवस्थावाले नायक-नायिकाओं का एकचित्त होते हुए भी परतन्त्रतावाला व्यवसा नायकवा या दूर रहने आदि से बार-बार संयोग न हो सके इसको अयोग कहते हैं ॥५०॥

एक का दूसरे के द्वारा स्वीकार कर लेने का नाम योग है और इनके समाज का नाम अयोग है। [इनमें नायक और नायिका का आसक्त में संवाग हुया ही नहीं रहना।]

परतन्त्रता के कारण होनेवाले अयोग वा असाहचर्य सामरिकता का वासराम से और जालती वा माधव से लयों न हो सकता है।

रैवत्य धर्वात् भाव्य धादि के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण पार्वतीजी का भगवान् धँकर से (विवाह के पूर्व उपस्थाकन तक समापन का न हो सकना है।

वसावस्थ स तत्रावावभिसायोऽयं विस्तृतम् ॥५१॥

स्मृतिर्गुरुकथोद्भोगप्रभापोम्भवसञ्चरा ।

जडता मरणां चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥५२॥

अयोग की वस्तु अवस्थायें होती हैं। पहले दोनों के हृदय में अमिता किर चित्रन उसके नाम स्मृति किर पुनःकथन तदुपरान्त उद्भोग किर प्रसादस्मार, सञ्चर (ताप का बड़ जाना) जडता और मरणा ये क्रमशः व होते हैं। पहले की अवस्था दूसरा दूसरे की अवस्था तीसरा इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर होनेवाली अवस्थायें पहले की अवस्था उत्तरोत्तर अमि कुञ्जधापिनी होती हैं ॥५१ ५२॥

अमितायं स्पृष्टा तत्र कान्ते सर्वाङ्गमुन्धरे ।

दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसा ॥५३॥

साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु वर्त्मनम् ।

श्रुतिव्याजासफीगीतभागधादिगुणस्तुते ॥५४॥

अमिताय—सर्वाङ्ग मुन्धर दिव्यतम के देखने अथवा उसके गुणों अथवा के द्वारा उसकी प्राप्त करने की इच्छा को अमिताय कहते हैं। इसके उत्पन्न होने पर नायिका में विस्मय आनन्द और भीति ये ती अनुभव होते हैं। नायिका को निम्नलिखित प्रकारों में से किसी भी प्रकार से नायक को देख लेने से अमिताया उत्पन्न होती है। नायक नायिका द्वारा निम्नलिखित प्रकार से देखा जाता है—१ साक्षात्कार के द्वारा २ चित्र देखकर, ३ स्वप्न में ४ छाया और ५ नाया के द्वारा। इस प्रकार नायक के गुण का अथवा भी नायिका को निम्नलिखित प्रकार होता है—१ तन्त्रों के द्वारा २ बंदोबन धादि के द्वारा नायक विषय स्थापनीय गुण-वर्णन से। [इसके भी नायिका के हृदय में नायक

प्रति अभिलाषा जागृत होती है। नल के प्रति समयन्ती का अनुराग बहीजनों के बर्तन से भी जागृत होता रहा।] ॥११३-१४॥

अभिलाषा का उदाहरण जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त शकुन्तला को देख सोच रहे हैं—जब मेरा पवित्र मन भी इस पर रीझ उठे तब निश्चय ही अभिय के साथ इसका विवाह हो सकता है क्योंकि सखि-स्वस में सब पुरुषों का धन्य करण ही उचित और अनुचित का निर्णय देता है।

विस्मयपुस्त अभिलाषा जैसे—

"पल्लवे शरीरवासी नायिका के बड़े-बड़े स्तनों को देख भुवक का चिर काँप रहा है। मानो वह दोनों स्तनों के बीच गड़ी हुई दृष्टि को उखाड़ रहा है।

ध्यानरपुस्त अभिलाषा जैसे 'विद्वत्साल मञ्जिका' में—

कोई नायिका राजमहल के घेरे के ऊपर टहल रही है। उसको उसका नायक अपने मित्र से दिखाकर बता रहा है—

"सुधा-सेवन में उत्तर उपवन के बहोरों से मलय किन्ना पाठा हुआ लुके-लुके पके हुए लवली फल के समान धीरे अपनी स्वच्छ किरणों को बिखेरता सुधा यह कौनसा भुवर्हित मित्रलोक चन्द्रमा बिना आकाश के बहारबीबारी के ऊपरी आम को घर्षण कर रहा है। मित्र धरा अपनी धाँवी को वहाँ पोंको तो सही धीरे चोड़ा बिचारो तो सही कैसी धारचर्यजनक बटना है।"

साम्बल (नय) का उदाहरण जैसे 'कुमारसंभव' में—

"अगवान् धरकर को देख नार्वतीजी के शरीर में कंपकंपी छूट गई धीरे के पमीने-गतीने हो गई। इसके धमाका धागे चलने को उठाए हुए अपने पैरों को उम्होने जहाँ-ना-तहाँ रोक लिया जैसे धारा के बीच में पहाड़ पड़ जाने से न तो नदी धागे बड़ पाती है, धीरे न पीछे ही हट पाती है। जैसे ही हिमालय की कन्या भी न तो धागे ही बड़ पाई धीरे न पीछे ही हट पाई जहाँ-की-तहाँ लड़ी ही रह गई।

धपवा जैसे—

‘पार्वतीजी इसकी लबाड़ी थी कि बंकरजी के कुछ घुड़ने पर भी बोलती न थी और वे यदि इनका घाँघस पकड़ लेते थे तो भागने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार धपमकास में भी ये बूझती ही तरफ मुँह करके सोती थीं। पर पार्वतीजी द्वारा इस प्रकार का व्यवहार भी बंकरजी के लिए कम आनन्दप्रद नहीं होता था।

सानुभावविभावास्तु चिन्तायां पूर्ववर्तिता ।

अनुभाव और विभावों के साथ चिन्ता प्रादि को पहले बताया जा चुका है। [अतः यहाँ इनको पुनः उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं।] भुव-कीर्तन के बारे में लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है।

दशादस्यस्वमाचार्ये प्रायो वृत्त्या निर्वासितम् ॥२५॥

महाकविप्रजम्पेवु हृदयते तबममत्ता ।

अबोध में प्रायः दस अवस्थाएँ रहती हैं। अतएव आचार्यों ने दस ही भेद विनियुक्त हैं। पर महाकवियों की रचनाओं की आलोचना से इनके अनन्त भेद होकर पड़ते हैं ॥२५॥

दृष्टे श्रुतेऽनिलापाण्य कि नौत्सुनयं प्रजायते ॥२६॥

अप्राप्ती कि न निर्बोदो र्मानि कि नासिचिन्तनात् ।

उदाहरणार्थ संक्षेप में उनका विश्लेषण किया जाता है। ऐन्द्रिय—नायक को देख धपवा उसके घुड़ों के अदृष्ट-भाव है यदि नायिका के अम्बर अविभावा कायुत होती है तो क्या उसके अम्बर अविभावा समापन के लिए अत्युक्तता नहीं हो सकती? और अत्युक्तता और अविभावा के होते हुए भी यदि वह उबै नहीं जाता तो क्या उसके अम्बर निर्बोद बँदा नहीं हो सकता है? इसी प्रकार यदि वह अत्यधिक चिन्ता करे तो क्या उसके भीतर मानि का प्रावृत्ति नहीं हो सकती है? ॥२६॥

इसी प्रकार की द्वि-द्विचर समापन करना इत्यादि बातों की

जानकारी जानसूझ से भी बा सकती है ।

विप्रयोगस्तु विप्रसेषो बहुविश्रम्भयोर्द्विधा ॥५७॥

मानप्रवासभेदेन मानोर्द्वय प्रणयेत्ययो ।

विप्रयोग—एक-दूसरे के प्रेम में जाग्रत (जातवत) घतएव विश्रसित और संयुक्त रहनेवासे नायक-नायिकाओं के विप्रुत हो जाने का नाम विप्रयोग है । यह दो प्रकार का होता है—मान-जनित और प्रवास-जनित । मान भी दो प्रकार का होता है । एक प्रणयमान दूसरा ईर्ष्यामान ॥५७॥

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ॥५८॥

प्रेम से बड़ीसुख होने का नाम प्रणय है । इसके भंग होने से जो कलह होता है उसे प्रणयमान कहते हैं । यह नायक-नायिका दोनों में हो सकता है ॥५८॥

नायक में होनेवासे प्रणयमान का उदाहरण रस 'उत्तररामचरित' में—इसी सतागृह में आप सीता के आपसम मार्ग में दृष्टि लगाए हुए थे और सीता हमों से कीतुक कर गोदावरी के तट में बहुत काम कर रही थी । इसके पश्चात् वहाँ से जाकर घाटी हुई सीता ने आपको चिन्तित-चित्त की तरह बेलकर कातरता से कमल के मुकुट की तरह सुन्दर प्रभामाञ्जलि को बांध लिया ।

नायिकायत प्रणयमान का उदाहरण जैस बापमतिराजदेव का यह पद्य—

प्रभवदुपित जगज्जमनी पायसी की रंग आदर्शचरित हो वेद के साथ विभुवन गुरु भयवान् संकर भय से तल्लव उनके चरणों पर पद मल हो गए । मगजान् संकर क समनत जाने पर मंदाओ को दैव और प्रभुपित हो पार्वतीजी ने उन्हें चरणा से छुकरा दिया । रस प्रकार छुकराए जाने आदि के कारण विकृता की प्राप्त भयवान् संकर की बयनीय बड़ा आप सोचों की रत्ना करे ।

दोनों (नायक और नायिका) में रहनेवासे प्रणयमान का उदाहरण

बैसे—

प्रलय-कलह के कारण झूठमूठ का बहाना करके मानकर "नायक और नायिका दोनों एक साथ सोए हुए हैं। दोनों प्रलय-कलह से क्रुपित हो सोए तो अवश्य हैं पर उनके मन में एक-दूसरे के प्रति इस प्रसन्न पर संकल्प-विकल्प कम रहा है कि यह सम्मुख सो तो नहीं गया ? और वे दोनों अपने स्वास को रोक-रोककर एक-दूसरे के सोने की परीक्षा कर रहे हैं। इस स्थिति को देख उनकी सखियाँ आपस में बातचीत कर रही हैं कि देखो इस होड़ में कौन विजयी होगा है।

जीगामीर्ष्याकृतो मान कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।

भुते बाऽनुमिते दृष्टे भुतिरतत्र सखीमुक्तात् ॥५६॥

उत्स्वप्नापितमोगांकगोत्रस्वसनकल्पित ।

विद्यानुमानिको दृष्ट साक्षादिभ्रमयोगोचर ॥६०॥

नायक किसी दूसरी स्त्री में अनुरक्त है इस बात को सुनने देखने प्रथमा अनुमान के द्वारा नायिका के भीतर प्रक्रुपित होने से जो ईर्ष्या पैदा होती है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं।

सुनना सखियों के द्वारा ही हुआ करता है क्योंकि नायिका का उन (सखियों) पर विश्वास बना रहता है। अनुमान से होनेवाला ईर्ष्यामान भी तीन प्रकार का होता है—१ स्वप्न में कहे गए वचनों के द्वारा। २ नायक के शरीर में द्रव्य नायिकाकृत भोग-चिह्नों को देखकर तथा ३ अनजाने बातचीत के प्रसंग में द्रव्य स्त्री का नाम मुख से निकल जाने से ॥५६ ६०॥

आँख से प्रत्यक्ष कर लेने ही को देखना कहते हैं।

सखियों के कहने से नायक पर अन्वेष्ट कर ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण हमारे (बनिक के) ही इस पृष्ठ में देखिए—

नायक नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हुए कहता है कि हे सुन्दर बौहोवाली प्यारी ! तेरा हृदय तो मन्मथन के समान कीमत

उहृष्ट पता नहीं तुम्हें कौन-सा ऐसा पुष्ट मंगला देनेवासा मिस गया जो
अगर से तेरा द्वितीय मनु के समान भीठा बचन बोलकर तेरे धन्य
मेरे प्रति प्रकोप पैदा करवा दिया। पर हे मृगमयी ! मेरे कहने से एक
क्षण के लिए भी बरा इस विषय पर विचार तो करो कि वास्तव में
तेरा द्वितीय प्राप्ति कौन है ? क्या वह भाषी की सङ्कीर्षितने तेरे
कानों में मेरे विषय में सम्बेद को मरा है ? बचवा तेरी सन्धियाँ ? या
मेरे मित्र ? बचवा स्वयं मैं ?”

स्वप्न में अम्ब नायिका का नाम मुझ से धा जाने के कारण अनु-
मानत ईर्ष्यामानवासी नायिका का उदाहरण—

जैसे— ‘राधा से आकर सखियों ने कहा कि कृष्णचन्द्र जिस समय
बलश्रीड़ा कर रहे थे उस समय उन्होंने कामदेव कंसरों से प्रेरित हो किसी
नायिका का आभिगम किया। इन बातों को सुनकर राधा प्रकुपित हो
गई। इसके बाद जब कृष्णचन्द्र घर आए तो किसी प्रकार राधा के कोप
को दान्त किया। उसी दिन रात को जब राधा और कृष्ण एक-दूसरे के
कण्ठ में भुजा डालकर सोए तो कृष्णचन्द्र को नींद आ गई और नींद
में ही वे दिन के समान राधा को मनाने लगे। राधा को इस सितविले
में उसी सखी का नाम कृष्णचन्द्र के मुख से सुनकर ईर्ष्या हो भाई
सो उन्होंने किसी प्रकार कृष्णचन्द्र की गले में पड़ी हुई अपनी भुजाएँ
विपिन कर लीं। कवि कहता है कि राधा की वे विपिन भुजाएँ
भापको कस्याय प्रवास करें। कृष्णचन्द्र ने स्वप्न में जो शब्द कहे वे वे
ये—हे राधा तुम्हें किसी ने झूठमूठ आकर यह बतला दिया कि मैंने
बलश्रीड़ा करते समय जब मैं भूँसे हुए कामदेव के घर से संतप्त किसी
सखी का आलम्बन किया है। तुम ध्यान में ऐसी बातों पर विस्वास कर
दुबिध हो रही हो।”

भोप के जित्नों को देखकर अनुमान के द्वारा ईर्ष्यामान करनेवासी
नायिका का उदाहरण—

जैसे— ‘अग्य स्त्री द्वारा किए हुए ठावे गलत को तो तुमने क्या?

से डंक लिया है और उसके द्वारा किए गए बन्धनत्व को भी हाथों से डंक लिया है पर यह तो बताया कि परस्त्री के संभोग को व्यनत करनेवाला जो मुन्बर मुबास मुम्हारे इर्ष गिर्ब नील रहा है, ममा उसको कैसे रोक सकतीये ?”

योमरुजलन से ईध्याभाववाली नायिका ॥ उवाहरण—

कैसे—“धनवान में बातचीत के प्रसंग में अपने नायक के मुख से किसी नायिका के नाम को सुनकर प्रदुपित हुई नायिका की सखी नायक को फटकार रही है— ‘धरे दुष्ट ! कुटिलता से धनभिन्न मेरी भोली भाली प्रिय सखी से तुने परिहास में किसी धन्य नायिका का बुन-कपन कर दिया फिर क्या था वह भोली माली तरे कबल को सत्य मानकर रो रही है। नायक के अपराध छावि को देख ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका का उवाहरण कैसे मुन्बरज का प्रथम कुपिता ।

(इससे पूर्व ही नायिकामत प्रणयमान का उवाहरण देते समय दस पद्य का प्रश्न था चुका है वे पृ० २११)

यबोत्तर गुरुः पञ्चमिदपार्यस्तमुपापरेत् ।

साम्ना भेदेन बानेन नत्पुपेक्षारसस्तर्त् ॥६१॥

तप प्रियवचः साम भिदस्तत्सत्पुपापार्जनम् ।

बार्म व्याजेन मुपावे पावयो पत्न नति ॥६२॥

सामादी तु परिकीले स्यादुपेक्षावधोरणम् ।

रमसत्रासहृषि कोपञ्च प्रो रसाग्नरम् ॥६३॥

कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रायेण प्रतिपादिता ।

ऊपर बताए हुए तीनों कारणों में धर्मात् (१) मुनकर (२) अनुमानकर और (३) देखकर हमस होदेवाले ईर्ष्यामान उत्तरोत्तर अधिक अभयकर होते हैं । इनको उपाय से दान्त करना चाहिए । दान्त करने के छ उपाय हैं—१ साम २ भेद ३ बान ४ नति ५ अपेक्षा और ६ रसाग्नर ।

१ साम—प्रियवचन बोमने का नाम साम है ।

२ मर—नायिका की सखियों को अपनी ओर भिन्ना सने का नाम मेर है ।

३ वान—आभूषण साड़ी आदि लेकर प्रसन्न करने की कोशिश करने की वान कहते हैं ।

४ मति—पौधों में पड़ने का नाम मति है ।

५ उपेक्षा—साम आदि उपायों के बिच्छम हो जाने पर नायिका की उपेक्षा करने को उपेक्षा कहते हैं ।

६ रसांतर—हराना घबकावा हव आदि के द्वारा भी कोप-अप किया जा सकता है । यह अन्तिम उपाय है जिसे रसांतर कहते हैं । सखियों की कोपपेष्टा का पल्लव पहले किया जा चुका है अब उनके बारे में फिर बताने की आवश्यकता नहीं है ॥६१ ६२॥

प्रिय वचन के द्वारा प्रसन्न करने के प्रयत्न का सान कहते हैं जैसे मेरा हों पद्य—कोई नायक मान की हुई घरनी नायिका से कहता है—“तुम्हारा मुनक-स्मितरूपी ज्योत्स्ना से मेरे बिरब को प्रभावित कर रहा है । तेरी धीरे धीरे तरफ मानो प्रभुत्व बरसा रही है । तेरा प्रतीक दिशा में माधुसूदन भावपूर्ण को बिन्दे रहा है पर पता नहीं तेरे हृदय में कटोरता न कहीं से स्फाट कर लिया है ?”

अपवा जैसे—कोई नायक अपनी प्रियकी से कह रहा है—हे प्रिये ब्रह्मा ने तेरे लक्ष्मी को मोसक्रम से मुक्त को सान कम से तेरे दाँतों को कुण्ड के दन्त पुत्रों से अपरों को नष्ट-नाश साथ वस्तुओं के तथा अविष्ट धर्मों को अन्धक के पुत्रों से बनाया है पर पता नहीं तेरे विल को पत्थर में क्यों बनाया ?

नायिका की सखियों को अपनी ओर भिन्ना लेनेवाले मेर नामक उपाय का उदाहरण जैसे मेरा (पनिक् का) भी पद्य—

“नायक अपनी प्रियकी से कहता है कि आज के मुहारे कोप को त में प्रतीम धीरे प्रभु ही नम्र बीटा का कर्षण इनक दूर करने ।

लिए सक्षियों द्वारा की गई मधुर वाणी का प्रयास भी व्यर्थ हो गया था। पर मुझे अपनी इस सकलता पर आश्चर्य हो रहा है कि तुने ऐति मेरे द्वारा प्राप्त भोग किए जाने पर भी अपने अर्गों पर मत होते देखा हैकर हाथों से मुझे छटा लिया। साथ ही तू अपने शोच को छोड़ने में भी प्रयत्नशील थीक रही है।”

आसुपल आदि लेकर अस्मन् किए जानेवासे दान नामक उपाय का उदाहरण जैसे 'मात्र' में—कोई नायिका अपने नायक से कहती है—‘बार-बार भ्रमरों से उपहसित इस मंजरी को मुझे काहे को दे रहे हो। ते हुष्ट, तुने तो पात्र रात को उसके पास जाकर मुझे बहुत बड़ी मंजरी प्रदान कर ही थी है।

बांधों में पड़ने को नति रहते हैं जैसे—‘नायिका के अर्गों पर मिरे हुए नायक के केशपात्र उसके नूपुरों में ऐसे भग गए हैं मानो वे उससे कह रहे हैं कि सम्मान प्रदानार्थ उन्मुक्त हृदय तेरे पास आया हुआ है।”

उपेक्षा नामक उपाय का उदाहरण, जैसे—“नायक मनाकर नायक हो गया। उसके जाने के बाद नायिका अपने किये हुए पर पड़ा साप कर रही है। उसी से कहती है—अब उसके पास (मनाने के लिए) जाने से क्या लाभ? पर है सखि वही न जाना भी ठीक नहीं है क्योंकि समर्पकान् से कठोरता का बरताव भी ठीक नहीं होता। तो तुम उनके पास जाकर अनुमन-विनय करके जिस प्रकार से हो सके उस प्रकार से माओ। नायिका बोली देर रुककर फिर कहती है—अच्छा जाने दो उसकी बुझाने की आवश्यकता नहीं है। धीरे बिसने मेरे साथ ऐसा अग्रिम कार्य किया है उसकी प्रार्थना करना उचित नहीं है।

रसांतर नामक उपाय का उदाहरण

[शुक्लाश्रयित भयभय के उदाहरण में पहले दिखाया जा चुका है।]

कायत संभ्रमाच्छापात् प्रवासो भिन्नदेशात् ॥६४॥

द्वयोस्तत्राभुनिऽश्वासकाश्यसम्भासकाविता ।

स च भावी भवभूतस्त्रिधाऽऽद्योबुद्धिपूर्वकः ॥६५॥

नायक और नायिका का अलग-अलग देहों में रहने का नाम प्रवास है । यह तीन कारणों से हो सकता है—१ कार्यवशात् २ संभव से और ३ आप से ।

प्रवास की वृत्ता में नायक और नायिका की निम्नलिखित वृत्ताएँ होती हैं—एक का दूसरे को बार-बार रोना-धोना, निनवास वृत्ता और केशों का बड़बाना आदि ।

प्रवास तीन प्रकार का होता है—१ भविष्यत् अर्थात् आगे आने वाला २ वर्तमान और ३ भूत ।

१ इसमें का पहला अर्थात् कार्यवशात् होनेवाला प्रवास समुद्र यात्रा सेवा आदि कार्यों के लिए होता है । यह तीन प्रकार का होता है—१ भविष्यत्, वर्तमान और भूत ॥६४ ६५॥

भविष्यत् प्रवास जैसे—प्रियतमा प्रिय-विरह के विषय में संचिंतित मजाती हुई पड़ोसियों के घर पहुँची फिरती है कि—‘विरहा पति परदण जानेवाला होता है उसकी स्त्रियाँ कैसे बीती हैं ?

वर्तमान प्रवास का उदाहरण जैसे ‘अमरदातक’ में—

कोई पुरप सैकड़ों देहों अनेक नदियों पर्वतों और जंगलों से अन्तरित किसी दूर प्रदेश में स्थित अपनी कान्ता से विभुवत् है । वह यद्यपि इस बात को जानता है कि कितने ही प्रयत्नों के बावजूद भी वहाँ से मैं अपनी प्रिया को दण नहीं सकता फिर भी अपनी प्रिया के स्मरण में इतना विभोर हो उठता है कि अपने पंखों के बल राड़ा होकर आँखों में पानी भरकर उसी दिशा में बिभर उसकी प्रयत्नी का स्थान है कुछ सोचता हुआ बहुत देर न देता रहा है ।

यस प्रवास अर्थात् भूतकालीन प्रवास का उदाहरण जैसे ‘मिदूत’ में—

“हे मित्र अब तुम मेरी प्रिया के पास पहुँच जाओगे तो देखोगे कि वह अपने शरीर पर अतिशय बस्त्रों को धारण किये हुए अपनी मोर में

साव मन्मदसागर में गोते लगाते रहते हैं ॥१६॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में—

राम सीता से कह रहे हैं—“भनुराग के सम्बन्ध से घाम सटाकर कुछ-कुछ धीरे-धीरे कम के बिना कहते हुए धीरे एक-एक बाहु को नाक धालिगन में लगाते हुए हम दोनों को बीँसे हुए ग्रहरों का भी पता न समझकर रातें यों ही बीत जाया करती थी ।

अबदा जैसे 'उत्तररामचरित' का यह पद्य—

रामचन्द्र सीता से कहते हैं—“प्रिये यह क्या है ?

“तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय-समूह को झुक करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी विरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है । यह (विकार) सुख है वा दुःख मुञ्छा है वा निद्रा विष का प्रसरण है वा नाशक इन्द्र से उत्पन्न मद्य है ? यह निश्चय नहीं कहा जा सकता है ।”

अबदा जैसे मेरा (जनिक का) ही पद्य—

“कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है कि हे प्रिये नावध्यस्त्री प्रसूत की बर्पा करनेवाला काले अण्ड के समान कृष्ण वर्ण का चौतरफा (चारों तरफ से) अत्यधिक ऊँचा उठा हुआ तेरा स्तनमण्डल काले-काल अण्ड की आभावाले तथा चारों दिशाओं में जमीन तक मड़के हुए मेघमण्डल के समान सुसोमित हो रहा है ।” [बर्पा शब्द में केठकी का पुष्प बर्पा की वृष्टि से विकसित होता है और इन्धर नामक के शरीर के अवयव स्तनमण्डल-स्त्री मेघमण्डल के नावध्य-स्त्री वस वृष्टि से विकसित हो रहे हैं ।] हे प्रिये तेरी नासिका सुन्दर केठकी पुष्प की तना है, सुन्दर मीहीं की बनावट ही उसके बत्ते हैं माथे पर लमा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हैमायुक्त ठेठ घमक ही पुष्प रस के पान करनेवाला भ्रमर है ।”

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाया बश योयिताम् ।

वासिष्यमार्दवप्रेम्णामनुवपा प्रियं प्रति ॥७०॥

पुण्यियों के अन्तर सीता आदि रघु सेवार्थ होती हैं । ये शर्तों
केवार्थ प्रिय के प्रति वासिष्ठ्य, मुकुता धीर प्रेम के अनुबन्ध होती हैं ॥७०॥
इनको द्वितीय प्रकाश में नायिकाओं के चारे में बताते समय कह
पाए हैं ।

रगदेव्याट्टकुरास्त एसाकीवाविभिद्वय ताम् ।

न ग्राम्यमाचरेत् दिग्दर्शनं वाकरं न च ॥७१॥

नायक नायिका के साथ आटुकारितामुक्त मधुर बचनों से घोर
करा कीड़ा आदि के साथ रत्न कर अपवा कराए । पर इन क्रियाओं
के साथ ग्राम्य (निम्ननीय) कार्य नहीं होना चाहिए । घोर न नर्म का
अल करनेवाले ही काय होना चाहिए । रगमय पर ग्राम्य सम्मोह का
बिज्ञाना तो निषिद्ध ही है, फिर वहाँ ग्राम्य के निषेध करने का तात्पर्य
यह है कि ग्राम्यकाय में भी इसका अवन नहीं हो सकता है ॥७१॥

राजा वत्सराज वासवदत्ता से कह रहे हैं कि प्रिय कामदेव की
पूजा की समान्ति के बाव सेने हाथ का लार्थ किया हुआ असोक ऐसा
गम रक्ष है मानो इनके अन्तर अपने घोर दिससयों से भी मुकुतर
स्मितय निकल पाए हैं । वहाँ पर वासवदत्ता के हाथों की मृगुनियों
पर बरसेवा की गई है ।

नायक नायिका कैंसिकी वृत्ति नाटक घोर नाटिका आदि के
सतनों को जानकर घोर कवि-गरम्परा से अवगत होकर तथा स्वयमपि
छोबिय की सम्भावना के अनुकूल अस्पना करत हुए नई-नई मूर्तों को
दिखाता हुआ प्रतिभाशाली कवि शृङ्गार रस की रचना करे ।

घोर प्रतापविनयाध्यवसायसह्य

मोहापिवादमयविस्मयविरुमाद्य ।

उत्साहमू ॥ च श्यारगुजानयोषा

रयेषा विसात्र गतिगदयुनिप्रहर्षा ॥७२॥

घोरता—प्रताप विनय मध्यवसाय सत्य (पराक्रम) ध्विपार

(हर्ष) जब बिस्मय विजय भादि से विभावित होकर कहता पुत्र
 दान भादि से अनुभावित और यथ क्षति हर्ष धर्म स्मृति मति
 बितक भादि से भावित होता हुआ उरसाह नाथ का स्वाधीनता औररस
 की संज्ञा को प्राप्त करता है ॥७२॥

वही अपनी भावना करनेवाले के मन को विस्तृत करनेवाला
 तथा भावन्द का कारण होता है । यह तीन प्रकार का होता है ।—
 १ दवाबीर, २ युद्धबीर और ३ दानबीर ।

दवाबीर के उदाहरण 'नामानन्द' माटिका के प्रधान नायक भीमूत
 बाहुन हैं । युद्धबीर का उदाहरण 'महावीरचरित' में वर्णित मर्दाना
 पुस्तोत्तम राजा हैं । दानबीर का उदाहरण परशुरामजी और राजा
 बलि भादि हैं । द्वितीय प्रकाश में त्याग सप्त समुद्र भादि श्लोक के
 द्वारा इसका उदाहरण दिया जा चुका है । राजा बलि के विषय में उदा
 हरण दिया जा रहा है—

राजा बलि की परीक्षा लेने समय जबवान् ने जब अपना बाण कप
 त्यागकर अपना बिराद कप धारण किया उसी समय का यह वर्णन है
 "जबवान् के शरीर की छोटी-छोटी पाँठों में जब सन्धि के बन्धन से
 मुक्ति पाई तबान् जब जबवान् का शरीर बढ़ने लगा तब उनके बिक-
 सिट बलस्वर पर कीस्तुम मणि जमकने लगी निकलते हुए नाभिकमल
 के कुम्भस कुटीर से यम्भीर सामन्नि होने लगी । अपने बाणक को
 इस प्रकार पा उत्सुकतापूर्वक घीर भागन्द के साथ राजा बलि उन्हें
 देखने लगे । कवि कहता है कि क्रमशः बदन की महिमावाता घटएव
 धारणकारी जबवान् बिष्णु का शरीर घाय लोभों की रक्षा करे ।"

जबवा जैसे मेरा (बलिक का) ही पद्य—

ये वे ही राजा बलि हैं जिनके द्वारा सखी के स्तनभण्ड में लगे हुए
 कुम्भ-से घटन वर्णवाले जबवान् बिष्णु भिक्षुक बनाये गए ।

बीररस के ऊपर बताये हुए तीनों भिन्न की कुछ लोग मानते हैं
 और कुछ नहीं भी मानते ।

मुड़बीर में प्रसवेद (पसीना) होना भूँह का सात हो जाना नेत्रों में जोष आदि अनुभावों का होना आदि बातें नहीं होती। यदि ये सब बातें रहें तो फिर यह रोग कहलाएगा।

बीमत्स रस—इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। यह तीन प्रकार का होता है—१ उद्वेग से २ लोभ से और ३ गुद।

बीमत्स इमिप्रूतिगन्धिवमसुप्रार्थ्यर्जुगुप्सकम्

छ्दोगी वधिरात्रकोकसवसामांसादिभि क्षोभण ।

वैराग्याज्जघमस्त्पनादिषु घृणाद्युदोऽभुभावैवृत्तो

नासायश्नत्रिकूलनादिभिर्पिह्रावेणातिशकादयः ॥७३॥

१ हृदय को बिमकुल हो घण्टे न लगनेवाले कीड़े लड़न पीन की आदि बिभावों से पैदा हुआ जुगुप्सा नामक स्थायीभाव को पृष्ठ करनेवाले लसलों से युक्त उद्वेगी नामक बीमत्स होता है।

२ वधिर अतड़ी हुई और मज्जा मांस आदि क देखने पर्याप्त इन बिभावों से होनेवाले लोभ से उत्पन्न होनेवाला बीमत्स होता है।

३ वैराग्य के द्वारा निग्रहों को मुन्दर पंचाग्यों तथा स्तन आदि अंगों में भवानक विजति को देखकर होनेवाली जुगुप्सा को गुद बीमत्स कहते हैं।

बीमत्स रस में नाक का तिकोड़ना और मुख धोड़ना आदि अनुभाव और आवेग व्याधि तथा ज्वर ये लक्षारीभाव होते हैं ॥७३॥

उद्वेग से होनेवाला बीमत्सरस का उदाहरण 'मात्तटीमापय का यह पद्य—

उठिन उठिन चाम कैरि ताहि नाइत है

मायि को पटा अरै ऐसे के अर्थक है।

लखा नाम कहा जीव पीठ घी निगम्बु की

मुचम पचाइ सैत वधि मों निभंक है।

रौबि डारें नाभी मेव घात धी निवारें बीत

लियरे सरीर बिग सोनित नी पंक हैं ।

धस्विन पै ठेकी नीची धीर तिमपीच हू की

बीरे-बीरे कसे मांस घात प्रेत रंक है ।

सोम से होनेवाले भीमस्त का उदाहरण जैसे 'भद्रावीरचरित म—

“घाँठो में बड़े-बड़े मुण्डो के युंके हुए घाभूपनो ॥ घुसज्जित ठाड़का राम-सदमय पर बड़े बेव के साथ झुमट रहो है । बेव के साथ दौड़ने से मुँहों की वे नसें बिमको उसन बंकण के रूप में पहन रहा है घापस में लगकर भयानक झनझनाहुट पैदा कर रहे हैं । मुण्डो की मानाकपी घाभूपन की कर्तन आकाश मग में व्याप्त हो रही है । सरीर का ऊपरी भाग विशेषतः स्तनमण्डल बड़ा ही भयानक लग रहा है ।

गुद्ध भीमस्त जैसे—

किसी विरक्त पुरुष की उक्ति है— 'काम के बशीमूत पुरुष भुवतियों की सार को मुखमदिग भासपिण्डो को कुच धीर हाड़-मांस को बजन ममझने हैं ।

[यहाँ पर छान्तरस नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह किसी विरक्त के द्वारा बुना के साथ कहा हुआ है ।]

लोपो मस्तग्वरिषेकृतमयं पोषोऽस्य रोगोऽनुब-

लोम स्वाधरवदाकम्पमृकुटिस्वेदास्यरागमुत ।

दस्रोत्लासबिदत्थनासधरणीघातप्रतिशाघै

रमामर्यमवो स्मृतिश्चपलतासूयोऽप्यदेगादय ॥७४॥

रोगरत—रोगरत का विभाव शत्रु के प्रति मत्सरता धीर बुला धारि हैं । इसके शत्रुभाज जोम अपने घोंठों को दबाना कम्प होना, मृकुटि का ठीका करना पसीना आना मुख का लाल हो जाना शस्त्रास्त्रों को चमकाना सर्वोचित के साथ कम्पों को पैलाना घृष्णों को खोर के साथ पैरों से आपना प्रहार करना धारि हैं ॥७४॥

और इसके सचारीभाव—अथवा यह स्मृति अपमत्ता प्रसूया
उपता प्रायेण आदि हैं।

ऊपर कहे हुए विभाव धनुभाव श्री सचारीभावों में पुष्ट होता
हुआ शेष नामक स्थायीभाव रीदरस की संज्ञा प्राप्त करता है।

मात्सर्य भावक विभावनामा रीदरस जैसे—

प्रकृति परधुगम विद्वामिन् से कहते हैं— तुम इस समय
तपस्या के बल से प्रसूयि हो पर धम्मना शत्रिय हो। अतः यदि तुम्हें
अपनी तपस्या का भ्रमण है तो मेरे अन्तर तपस्या का वह बल है कि मैं
अपने तपोबल से तुम्हारी तपस्या को नष्ट कर सकता हूँ और यदि तुम्हें
शत्रिय होने का गर्व है तो फिर अस्त्रास्त्रों के साथ या बाघों उमका
नी मुझसे उत्तर देनेवाला फलता मेरे पास ही विद्यमान है।

वैरिहृत रीद का उदाहरण जैसे—

“भीमसेन गंगमपाठ करनेवालों का बाँटत हुए यह रहे हैं—जिन
धूतपट्ट के गुत्रों में ज्ञाननिमित्त महान विषमिधित साहाय तथा
धूत श्रीद्वार्य समागृह प्रवच आदि के द्वारा हम लोग के प्राण और मन
के अपहरण की चेष्टा की श्रीपदी के कैचपाना को लीचा वे मेरे रहते
शक्य हों ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

‘महावीरचरित और बेनीमहार’ में वर्णित परधुगम भीमसेन
और दुर्वाचन के व्यवहार रीदरस के उदाहरण हैं।

विद्वताकृतियां ध्वेयशरमनोऽय परस्य वा।

हास स्यात्परितोपोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृति स्मृत ॥७५॥

हास्यरस—अपने या अन्य के विद्वत माहृति वाली और वेद के
द्वारा पैदा हुए हास के परिपुष्ट होने का नाम हास्यरस है। इस रस के
दो भाष्य होने हैं—१ आत्मस्थ और २ परस्य ॥७५॥

आत्मस्थ का उदाहरण है—राज्य द्वारा वर्णित यह पद्य—

मेरे गरीर में लगी विपुलि ही चण्डन की घूमि का लेप है यत्रो

पवीत ही मुग्धर द्वार है इधर-उधर बिखरी हुई, विसृष्ट बटाएँ ही छिरो-
नूपन हैं। यसे में पड़ी हुई छास की मामा ही रत्नबटित घामूपन
है। वस्त्र ही बिनापुक है इस प्रकार से मैंने सीता को मुझसे सायक
(बोम्ब) कामीमनोचित मुग्धर बेस-विन्यास किया है।

परस्पर हास्य जैसे—किसी दाता ने किसी मित्रक से पूछा—'क्या
तुम मांस भी खाते हो ?' उधर से उत्तर मिला—'मांस के बिना मांस
का सेवन कैसा ? दाताजी ने फिर पूछा—'क्या तुम्हें यक्ष भी प्रिय है ?'
उधर से उत्तर आया—'वैश्वाधी के साथ ही मुझे तो मद्यपान में मजा
आता है। दाता ने पुन प्रश्न किया—'वैश्वाधी तो अपने की मानकी
होती है तेरे पाठ बन कहाँ से आता है ?' उत्तर मिला—'जुमा सेनकर
वहा बोरी से। दाता ने फिर पूछा—'घरे तुम बोरी भी करते हो और
पुषा भी खेलते हो ?' उत्तर मिला—'को अपने को मर्द कर चुका है
जसकी इसके समाना और क्या मति हो सकती है।

स्मितमिह बिकासिनयम किञ्चित्सदयद्विज सु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वर बिहसितं सस्मिन् कम्पमिबभुपहसितम् ॥७६॥

अपहसितं सास्त्राक्षं विलिप्ताङ्गं मन्त्रत्यतिहसितम् ।
हे इ हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽथमे क्रमज्ञ ॥७७॥

हास्य के आत्मस्थ और परस्पर जेदों को बता चुके। वे दोनों जी—
उत्तम पुरुष मध्यम पुरुष और अधम पुरुष के प्रकृति-वैष से प्रत्येक तीन

तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार हास्य छः प्रकार का होता है। वे
हैं—स्मित हसित बिहसित उपहसित अपहसित अतिहसित।

जित हास्य में केवल नैम विकसित हों उसे स्मित कहते हैं।

जित हास्य में कुछ-कुछ बात भी बिखाई हो उसे हसित कहते हैं।

जित हास्य में हँसते समय मधुर स्वर भी होता है उसे बिहसित
कहते हैं।

जित हास्य में तिर भी हिसने लगता है उसे उपहसित कहते हैं।

जिस हास्य में हँसते-हँसते शीशों में आँसू तक आ जाय उसे धन हसित कहते हैं ।

जिस हास्य में सारा शरीर काँपने लग जाय उसे व्यतिहसित कहते हैं ।

ये कथन शुभ के ही उत्तम पुरुष में उसके चार के कथन हो मध्यम पुरुष में और शेष अथवा पुरुष में होते हैं ॥७६-७७॥

निद्रासत्यधमन्तानिभूच्छाश्वि सहचारिणः ।

अतिलोकं पदार्थं स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ॥७८॥

कर्मास्य साधुवाचाधुवेपथुस्वेवगवगवाः ।

ह्याविगपुतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ॥७९॥

इनके उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिए । निद्रा सत्य धम, मन्तानि भूच्छा, ये इसके व्यभिचारीमात्र होते हैं ।

अद्भुत रस—लौकिक सीमा को व्यतिक्रमण करनेवाले अतिसर्यजनक पदार्थों से विभावित (ये जिसके विभाव हैं) साधुवाद धर्म, नैपथु, स्वेद गन्धर वाची आदि से अनुभावित (ये जिसके अनुभाव होते हैं) हर्ष धावेन कृति आदि से व्यभिचारित (अर्थात् ये जिसके व्यभिचारी मात्र होते हैं) होता हुआ तथा बोधल भास विस्मय नामक स्वाधीनरस अद्भुत रस कहलाता है ॥७८-७९॥

जैसे सत्यध की यह उक्ति—

“मुजाशों के द्वारा बड़ाया गया जो भयवान् धंकर का धनुष उसकी टंकार की ध्वनि ध्वनि नहीं है अपितु बड़े भाई रामचन्द्र के बाणधरिण का गयाड़ा बज रहा है ।”

“यदि शीघ्रता से भरा हुआ माग ही मिला हुआ क्पाट सम्पुट कपी बद्धान्त भाण्ड के चन्द्र घूमती हुई निष्ठीमृत हुई सम्म-ध्वनि की चण्डिमा (बह) क्या धमी तक शान्त न हो लगी ?”

विहृतस्वरसस्यावेर्भयमाद्यो भयानक ।

सर्वाङ्गभेदपुस्वेदपोषवैद्यस्यमक्षण ।

वेम्पसंभ्रमसमोहत्रासाबिस्तरसहोदर ॥८०॥

भयानक रस—विहृत स्वर, (भयानक डरावने आदि) व्याप्त सिंह
आदि जीवों के रोपने-सुनने आदि विभावों से उत्पन्न अथ स्वामी भाव स
भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इसमें सब धर्मों में डर के मारे
कौन्हेपी पत्तने का घागा छोड़ से बैहरे का कीटा पड़ जाना आदि
समूनाह तथा वेम्प सभ्रम सम्भोह भास आदि व्यभिचारी भाव होते
हैं ॥८०॥

जैसे—'घमन को छोड़कर कुम्हे की तरह नल होकर धीरे-धीरे येन
कैजप्रकारेण (जैसे-जैसे) जा सकत हो।

इसी प्रकार से पहल बछाये हुए 'रत्नावली नाटिका' के मजबूत
है। इस दृष्टिकोण को भी इसका उदाहरण समझना चाहिए।

हस्तादि । और भी जैसे—

"कोई कवि किसी राजा से कहता है कि महाराज आपकी विजय
माना की तब रस आपकी शत्रुओं की बुद्धि बकराई और वे डर के मारे
वर से भाव छोड़े हुए। फिर उनके मन में यह चका धाई कि कहीं पकड़
न लिए जाएं, मर जंगल में बसे गए। फिर वहाँ से पर्वत पर और जब
वहाँ भी मय में छुटकारा नहीं मिला तब बने वृक्षोंवाली पर्वतों की
चोटियों पर और उसके बाद उनकी कन्दराओं में बसे गए। कन्दराओं में
राहते हुए भी उन्होंने अपने सारे धर्मों को ऐसा छोड़ दिया है। मानो
उनका एक धर्म बूझने में प्रविष्ट होता जा रहा है। सो है महाराज आपके
शत्रुओं की यह क्या है, वे कहीं चले कहीं जाएं इस विषय में उनकी
बुद्धि काम नहीं दे रही है।

दृष्टनाशावन्निष्ठाप्तौ दोषात्मा करणोऽनु सप्त ।

निःश्वासोच्छ्वासद्वितस्तम्भप्रसवित्तादय ॥८१॥

स्वापापस्मारार्थेन्यायिभिरणासस्यसभ्रमा ।

विपादकडतोम्मादचिस्ताद्या व्यभिचारिण ॥८२३॥

कहल रस—यह शोक नामक स्वाधीमाव से पैदा होता है । इष्ट का नाश अनिष्ट की प्राप्ति आदि इसके बिनाब और निदबास उद्भास स्तम्भ प्रलाप आदि अनुभाव तथा निद्रा व्यस्मार ईश्वर व्याधि मरल आनन्द आशेष, विपाद अङ्गता उद्भास और चिन्ता आदि संचारी भाव होते हैं ॥८१-८२॥

इष्टनाश से उत्पन्न कहल जैसे कुयारसम्भव में—

‘हे प्रामनाब क्या तुम बीठे हो यह कहती हुई वह क्यों ही कड़ी हुई या देखती क्या है कि छंकर के कोब से कत्ता हुआ पुष्प के आकार का राख का एक डर सामने पृथ्वी पर पड़ा हुआ है ।’

इत्यादि रसि का प्रभाव]

अनिष्ट-प्राप्ति का उदाहरण ‘रत्नाबसी नागिका’ में सागरिका का कंद किया जाना है ।

प्रोतिभक्त्वाद्यो भाषा मृगयाक्षाद्यो रसा ।

हर्षोरसाहादियु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीतिता ॥८३॥

प्रीति और भक्ति आदि भावों को और मृगया चूत से होनेवाले रसों का हर्ष और आसक्त के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है । स्पष्ट होने के कारण इसको व्याख्या नहीं की गई ॥८३॥

यद्विज्ञानभूषणाद्योनि सामादीग्येयविज्ञाति ।

लक्ष्यसंभ्यन्तराङ्गानि शालंकारेषु तेषु च ॥८४॥

३१ विद्वज्ज आदि का उद्भास आदि धर्मकारों में और २१ साम आदि का हर्ष उद्भास आदि के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है । यह बात स्पष्ट है अतः इसको ध्यान से बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई ॥८४॥

रम्य जुगुप्सितमुदारमयावि नीच

भुयं प्रसादि गहनं विद्वत् न वस्तु ।

यथाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं

तस्मास्ति यन्न रसभावमुपैति सोके ॥८५॥

रमणीय हो यावत्वा युक्ति अश्ली हो या बुरी वय यावत्वा याङ्कार
कारी, यहन हो यावत्वा बिभृत् [किसी भी प्रकार की क्यों न हो] बिभृत्
में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है वस्तु हो क्यों यावत्वा भी जो कवि और
भावक के भावना के विपरीत होने पर रस और भाव को पैदा न
करे ॥८५॥

विप्लवो सुतेमापि धर्मजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतु ।

आविष्कृत मुञ्चमहोशागोष्ठीवैराग्यभावा ब्रह्मपमेतत् ॥ ८६ ॥

विप्लव के पुन धर्मजय जिनके पाण्डित्य की वाक महाराज मुन के
पण्डित परिवार में लगे हुई है कर्तुनि विद्वानों के मनबहुलाह के लिए
ब्रह्मपक नामक इस जन्म की रचना की ॥८६॥

[ब्रह्मपक समाप्त]

विप्लव के पुन जिनक द्वारा ब्रह्मपक के अन्त लिखी गई 'ब्रह्मपक
लोक' नाम की व्याख्या का रस विचार नामक चतुर्थ प्रकाश समाप्त ।

परिशिष्ट

धनिक की संस्कृत वृत्ति

इह सदाचारं प्रमाणवद्विरुद्धिनेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थे निष्पद्यो
प्रकृताधिमतदेवतपोनमस्कारं चियते दत्ताकृत्येन ।

नमस्तस्मै भरताय च ॥१२॥

यस्य कष्टं पुष्करामते मृदङ्गबद्धाचरति यदाभायेन धनध्वानो
निबिडध्वनिं भीमकष्टस्य विबन्ध ताण्डवे उद्धते नृपे तस्मै मणेशाय
नमः । अथ सुगुणैर्पातिष्यमाणायमाञ्छायामकृत् । भीमकष्टस्य
मपरस्य ताण्डवे यथा मण्डलानि पुष्करायत इति प्रतीते ।

रामकपानुकारेणेति । एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानानुद्देशेनान्यबाहु
वृत्तिकृतानांकादिना मत्स्य मावका ध्यानारो रसिद्धाश्च मासन्ति हृष्यन्ति
तस्मै विष्णुदेवविमनाय प्रस्ताय भरताय च नमः ।

धीनु प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्शने ।

करयचिदेव देव बंधधीषु ॥१३॥

न कश्चिद् विषयं प्रकरणादिरूपं नदाचिदेव वरयचिदेव वदे
मरस्वती योजयति येन प्रकरणादिना विषयेणाभ्यो जनो विदामो
भवति ।

स्वप्रवृत्तिविषयं वक्ष्यति ।

बद्धपत्नोद्दृष्ट्यं तद्विज्ञापामि ॥१४॥

यं नाट्यकेषु कैरेभ्य सारमाशय कृत्वा कृतवान् यन्मन्त्रमदिनयं
यच्छरकार करमाङ्गहायनकरोन् हस्तमाध्वबमुद्भवत मास्यं मुमुमारं
नृत्तं पार्श्वी कृतवती तस्य नामरयेन मत्तस्य वन्तु व- दस्त- तरेक
देवाय तु दत्तायस्य मतोच जिन्यत इत्यर्थः ।

विषयैक्यप्रसङ्गं पीनवर्ण्यं परिहृयति ।

व्याकीर्णं विषयैक्यवशात् ॥१॥

व्याकीर्णं विविधो विस्तीर्णं च रसकास्त्रं भगवद्गीतायां पृष्ठां मतिमोहो
भवति तेन तस्य नाट्यवैश्याज्ज्वलितरसैर्नैव संक्षिप्य चक्षुर्गुण्या विवक्षित
इति ।

इह प्रकरसुं वक्ष्यमाणकर्मम् । वगैरपि किमिदमितिहाह ।

मानवः ॥ वराहमुखाय ॥६॥

तत्र केचित् ।

धर्माधिक्यमोक्षपुं वैचक्षण्यं कर्माणि च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यमिदमलम् ॥

इत्यादिना विषयविधिव्युत्पत्तिं काव्यकृतम् नैवञ्जितं तन्निपत्तेन स्व-
सूत्रेण परमानन्दकपो रसास्वादा इत्युक्त्यायां पदं न पुनरितिहासादिना
विवक्षादिभ्युत्पत्तिमात्रमिति वदितम् । नच इति शोभ्युच्छम् ।

नाट्यमात्रं नक्तसुं संक्षिप्यमोक्षपुं । किं पुनस्तन्मिदमितिहाह ।

वक्ष्यमाणकर्मम्

काव्योपनिबद्धबीरोद्यत्ताद्यवस्थानुकारव्यनुविधाभिन्नत्वेन तादात्म्या
पत्तिर्नाट्यम् ।

कर्मं वृत्त्यपेक्ष्यते ।

तदेव नाट्यं वृत्त्यपेक्ष्यतां उपमितुमर्हते श्रीमद्विष्णुवत् ।

कर्मकं तन् विलोकात्

इति । नटे रामाद्यवस्थारोपेण वृत्त्यपेक्ष्यतां कर्मकं मुखचन्द्रादिवत्
इत्येकस्मिन्मते प्रवर्तमानस्य राज्ञस्य इष्टं पुरुषात् सक्त इतिवत् प्रवृत्ति
निमित्तमेवो वदितम् ।

वक्ष्यमाण रसापेक्षम् ॥७॥

इति । रसानाभित्य वर्तमानं वक्ष्यमाणकर्मम् । एतेत्यवधारणं मूढाभिप्रायेण
नाटिकायां वृत्तीत्येव वक्ष्यमाणत्वात् ।

तानेव रसमेवानुदिशति ।

नाटकं बोध्यं ह्यनुया इति ॥५॥

ननु ।

दोष्ठी भीमदितं नात्तो भातीयस्त्वानरातका ।

काव्यं च सप्त मृत्यस्य भिदाः स्तुतेऽपि भातुवत् ॥

इति कपकाव्यरत्नामणि भावायवचारणानुपगतिरित्याद्युमाऽऽह ।

अथ च भावायव मृत्यं

इति । एताभ्याम् नाट्याद् भावायव मृत्यमप्यदेव । तत्र भावायव
मिति विषयभेदान् मृत्यमिति मृतेर्वाचविधयार्थत्वेनाऽऽहिकवाहुस्यात्
तत्कारितु च नऽऽप्यपदेशात् लोकेऽपि चाऽह प्रखलीयकमिति व्यञ्ज
हारम् नाटकादेरप्यन् मृत्यम् । तत्रैवत्वात् भीमदितारवचारलोप
यतिः । नाटकादि च रसविषयम् । रसस्य च पदार्थीभूतविभावादि
संज्ञार्थमकवाक्यार्थहेतुकत्वात् वाक्यार्थीभवात्मकत्वं रसायनमित्यनेन
व्युत्पन्नम् । नाट्यमिति च नऽऽप्यपदेश इति नटे किञ्चित् चमत्कारं
त्वात् सार्वजनिकवाहुत्वम् । अतएव तत्कारितु नऽप्यपदेशः । यथा च वाक्
विद्येयार्थत्वे लामेऽप्यनुसारात्मात्मनेन मृतादप्यन् मृत्यं तथा वाक्यार्थीभि
नवात्मकान् नाट्यात् पदार्थीभिनयात्मकमप्यदेव मृत्यमिति ।

प्रसङ्गान् मृतं व्युत्पादयति ।

मृतं क्षान्तवाच्यम् ।

इति । क्षान्तवाच्यत्वादि मृतो ह तदि सम्मानापेक्षी नृविद्येयप्रभिनय
सूच्यो मृतमिति ।

अनन्तरानेन द्वितीयं व्याचष्टे ।

यादं तथा परम् ॥६॥

मृतं पदार्थभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम् । मृतं च देयीति ।

द्विचिन्त्याऽपि द्विविधं दर्शयति ।

ननु रोष्ठतमेरेव नाटकाद्युपकारकम् ॥७॥

ननु वारं इत्यपि नाट्यमृतं द्वितीयमिति तादृशमिति । अनङ्गोक्त
स्वोपायं दर्शयति । तत् च नाटकाद्युपकारकमिति । मृतस्य कदाचिद

वाऽतएवाप्यभिगमनं नृपस्य च लोपास्तुल्यं न नाटकाद्यभ्युपयोग इति ।

यमुकाद्यत्यक्त्वेन रणानामभेदात् किञ्चुतो भेद एत्वाद्यकुमाऽऽह ।

वस्तु यैता रसस्तेषां भेदको

इति । वस्तुभेदान् मायकभेदाद् रसभेदाद् रसाध्याभ्युपयोग ये इति ।

वस्तुभेदमाह ।

वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह ।

तत्राऽऽधिकारिकं त्रिभु ॥११॥

इति । प्रधानभूतवाचिकारिकं यथा उपायने उमदीतावृत्तान्तम् ।

तदङ्गं भूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विधीयन्मुषीवाचिकृतान्त इति ।

निवृत्त्याऽऽधिकारिकं कथयति ।

अधिकारः पञ्चाधिकारिकम् ॥१२॥

इति । कमेन स्वस्वामिसम्बन्धोऽधिकारो यस्वस्वामी चाऽधिकारो
तैनाऽधिकारेणाधिकारिणा वा वा निर्बुतं पञ्चपर्यन्तं नीयमानमितिबुत
वाचिकारिकम् ।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे ।

प्रासङ्गिकं प्रसङ्गकम् ।

यस्येतिबुतस्य परप्रयोजनस्य सतस्तत्प्रसङ्गम् स्वप्रयोजनमिद्विन्दु
प्रासङ्गिकमितिबुत प्रसङ्गनिर्बुते ।

प्रासङ्गिकमपि पञ्चाकाप्रकटीभेदाद् द्विविधमित्याह ।

सानुबन्धं प्रदीपभाक ॥१३॥

इह यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पञ्चाका मुषीवाचिकृतान्तवत् । कटा-
कवाऽऽचारणनामकविद्वद्बत् तदुपकारित्वात् । यदस्य वा प्रकटी भवे-
त्कारिबुत्तान्तवत् ।

पञ्चाकाप्रसङ्गेन पञ्चाकास्यानर्कं व्युत्पादयति ।

वस्तुतापनुभावाद्यं तद्विधायविशेषतश्च ॥१४॥

प्राकराधिकारय भाविनोऽर्थस्य नूतनं रूपं पञ्चाकावद् भवतीति वतावा

स्यात्तत्तम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्य-विशेषणतया च विप्रवाहसमर्थोऽस्ति
ममास्तोस्तयेवात् । यथा रत्नावस्थाम् ।

यातोऽस्ति पचनयमे समयो ममेव
मुक्ता धर्मव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रस्थापमानवमितीव मरोरुहिण्या
मूर्धोऽस्तमस्तकनिविष्टकर करति ॥

यथा च तुल्यविशेषणतया ।

ब्रह्मामोरुमिका विपाण्डुरव प्रारब्धभूम्या ललाद्
धायासं स्वसुनात्तमैरुचिरमैरातवतीमात्मन ।
घघोद्यानलताविमा रायवना मारीमिवाऽया ध्रुव
पस्यन् कोरविपाटनघतिमुन्न दम्या करिष्याम्यहम् ॥

गन्धमाधिकारिकचितिप्रासद्विभवेवात्विविधस्याऽपि न विध्यमाह ।

प्रक्यास्तोत्पाद्यमिष्यत्वेवात् विष्यमार्पाविमैरत ॥१५॥

इति निषवन्मात्मातम् ।

तमेतिवृत्तस्य कि कणमिष्याह ।

कार्य विवमस्तन् शुद्धमेकमेकानुबन्धि च ।

धर्मावैकाना फलम् । तच्च तत्तमेकैकमकानुवर्ष द्विजमुबन्ध वा ।

तत्तावनं ध्युगादयति ।

स्वस्वोद्दिष्टानु तत्तुर्गुर्गुर्गु विस्तार्यमेकपा ।

मोरोरुहिण्य कार्वमापक पुरस्तादनकककारं विस्तारी हेतुविजयो
बीजवद् बीजम् । यथा रत्नावस्थाम् अन्तराजस्य रत्नावस्थीप्राप्तिहेतुरनु
कूमदवा पीपयरायलव्यापाये विष्कम्भके म्यरत । योगधरायण । क
मरद् । हीनाद परमादिनि पटनि इत्यादिना ।

प्रारब्धभूमिन् स्वाधिनो वृद्धिहेतो ।

दाम्योन । यथा च धेनीमंजावे हीनरीवेनमंयमनहेतुमीमकापापविन
मुपिणिगाम्हा बीजमिति । तच् च महाकार्यवान्मरकार्यहेतुभराद
नकम्यारमिति ।

यवान्तरबीजस्य सञ्ज्ञान्तरमाह ।

यवान्तरार्यविच्छेदे विन्धुरच्छेदकारणम् ॥१६॥

यथा एतावन्त्यामवांतरप्रयोजनानङ्गपूजापरिग्रमादौ कथाप-
विच्छेदे सत्पनन्तरकार्यहेतुसदयनस्वेन्दारिबोद्धीयते । सायनिका । धत्वा ।
१कह एनो सा जयललारिन्दो वसुध धातुं तादेन विरोत्पादि । विन्धु
जमे तैलविन्धुवत् प्रसारित्वात् ।

इदानीं पताकारं प्रसङ्गाद् व्युत्क्रमोक्तं कर्मावगुपसंहरन्माह ।

बीजविन्धुपताकास्य० चरिचौस्तिता ॥१७॥

अर्धप्रकृत्यं प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।

अथैवमप्यपञ्चकमाह ।

यवत्वापञ्च० कसाममा ॥१८॥

यवोद्भूतं जलपमाह ।

धीस्तुत्यमात्रमारम्भं यजतामाय धूपसे ।

१दमह मय्यादयामीत्यध्वजसावमात्रमारम्भ इत्युच्यते । यथा रत्ना-
वत्याम् ।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ

ईदं चेत्थं वस्तुस्तान्त्वमे ।

इत्यादिना सविबावत्तमिदं स्वराजस्य कार्यान्मो बीजन्धरायसमुदेन
वर्धितः ।

अथ प्रयत्नः ।

प्रयत्नस्तु तद्व्याप्ती व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥१९॥

तस्य फलस्याध्याप्तावपाययोजनादिरूपरूपेणाविरोधः प्रयत्नः । यथा
रत्नावत्यामासेत्याभिलषणादिपरस्परानुपपन्नमोपायः । १तथापि अत्र
यतो रत्नगुणाः सन्ति तत्रा तदा आसिद्धिः यथा समीहितं करिष्यम्
१ कथं एव न जयललारेण मय्याद्भू तादेन वस्तुत्यादि ।

२ विदुः । तथापि नास्त्यभ्यो वर्धनोपाय इति यथा तथा प्रातिरव
यथा समीहितं करिष्यामि ।

इत्यादिना प्रतिपादितः ।

शाय्याभ्याम् ।

इत्यायायायन्नहाम्या प्राप्याग्ना प्राप्तिस्तम्भः ।

नृणां सन्ध्यां तामसं भूषणं च माहावनिर्वातिर्लोकान्ता कर्मप्राप्तिं
प्राप्सवात् । यथा रत्नावल्यां नृसीवेन्दुः शेषपरिवर्ताभिर्मण्युग्राही समा
नमोपाये सति वासवदत्ताभिदाग्यापायघट्टाया 'एवं यदि मया सदादामी
विषं घ्रायन्तिष्ठ मम सुखा एव सुदुस्सखि वासवदत्ता इत्यादिना वर्णित
त्वादिनिर्वातिर्लोकान्ता समागमप्राप्तिवन्ता ।

निष्पत्तिः ।

अवाद्याभावात् प्राप्तिनियतापि सुनिश्चिता ।

परमायामावादवकारितक्रान्ता फलप्राप्तिरित्यनानि रिति । यथा रत्ना
वस्तुनो विदूषणम् । ३ सागरिना कुतश्च बीजिगुह्यं इत्युपक्रम्य किं तु उपाय
विन्देति । इत्यनन्तरं गन्ता । यद्यस्य हेतुप्रसादनं मुख्यं वा नान्यमक्षोपाय
प्राप्तामीत्यनन्तरं क्लृप्तं दिव्युत्पत्तिना नैव हेतुलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्
नियता फलप्राप्तिरिति ।

पञ्चमः ।

समप्रवृत्तसम्पत्तिः कृतयोषो मधीरितः ॥२०॥

यथा रुपाश्रयां ज्ञानावमीमांसाप्रवचननिश्चयाभिहितम् ।

गङ्गा-सङ्गममाह ।

पर्यवृत्तयः षड्युक्तयः ॥२१॥

दध्प्रवृत्तीनां वज्रानां मपात्तं यैताश्चानि वज्रविशेषात्
मपात्तं यैव दध्प्रमाणा मुखारा वज्र सप्तदा रापन्ते ।

सुं पणपमदमराणमाह ।

प्रत्यक्षैश्वर्यसम्प्राप्य सन्धिरेवान्मये सति ।

एतेन प्रयोजनेनाऽङ्गितायाः कस्यांनानामवाप्तिरिति प्रयाज्यताम्बुध-

१ एवं यदि अद्यानवातालीक आनन्दयागदत्ता न भेष्यति अन्नवदत्ता ।

२ नागरिका इत्यर्थं जीयिष्यति इत्युपश्रव्य हि न कदाचन विमोक्षति ।

सन्निव ।

के पुनस्ते क्षम्यः ।

पुनःप्रसिपुते नर्म तावमसौवर्षहृति ॥२२॥

अथोद्देशं भवतामाहुः ।

पुनः "बीजारम्भसम्बन्धात् ॥२३॥

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रयोजनस्य रक्षस्य च हेतुर्मुखसम्बन्धिर्निष्ठो व्याप्येयम् ।
तेनाप्रतिबन्धकत्वे प्रवृत्तनाथो रसोत्पत्तिहेतुरेव बीजत्वमिति । अस्य च
बीजारम्भाद्यमुक्तानि ह्यावधानाङ्गानि यथेति । तावमाहुः ।

उपलक्षेण "तत्तत्तत् ॥२४॥

एतेषां स्वसम्बन्धाभ्याम्यातामामपि मुक्तार्थं तत्तत्तत् त्रिषठे ।

बीजाख्यात उपलक्षेण

यथा रत्नावल्यां निषण्णे ।

हीपादव्यवस्थायामपि मध्यादपि जलनिर्वाहोऽप्यन्तात् ।

आनीय भ्रमिति चन्वति विविच्यभिमतमभिमुखीभूत ॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो ब्रह्मसूत्रस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुबुद्धमनुकूलरेव
स्वभ्यापार बीजत्वेनापक्षिप्तबानित्युपलक्ष्य ।

परिकरमाहुः ।

तत्त्वानुसृत्य परिश्रिया ।

यथा तत्रैव । अथवा क्व द्विजादिसंप्रत्ययप्रावितायां सिद्धोत्तरबुद्धि
समुद्रे प्रवृत्तमङ्गमनोविद्यायां फलकासादनमित्यादिना सर्वत्रा स्पृष्टमिति
स्वाभितमम्बुदया इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहुकरणात् परिकरः ।

परिस्थाममाहुः ।

तस्मिन्पक्षे परिस्थान्ता

यथा तत्रैव ।

प्रारम्भःस्मिन् स्वामिनी बुद्धिहेती

रैवे चेत्थं ब्रह्मरत्नावल्याम् ।

सिद्धेर्भ्रातृमित्रिस्त सत्य तवाप्रिय
स्नेह्याकारी भीत एवाप्रस्मि मर्तु ॥

इत्यनेन यौगन्धरायणा स्वध्यापारर्षभयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ।
विमोघनमाह ।

मुलाख्यानाद् विमोघनम् ॥२५॥

यथा रत्नावस्थाम् ।

अस्तापास्तसमस्तजाति नमसः पारं प्रयाते रत्ना-
वास्थानी समये सर्वं नृपजन सायन्तने सप्यतन् ।
सम्प्रत्येय एतोरुहयुतिमुप पारस्तवाऽऽशेषिन्
प्रोत्सुकर्षकृत्तो वृषामुदयनस्येन्दोरिजोद्गीकते ॥

इति वैतानिकमुनेन जगत्सुखवत्तराजगुणबलैतया सायन्तिपाया सयामम
हृदयगुणबीजानुसुम्भनैव विमोघनाद् विमोघनमिति । यथा च वेणी
सहारे ।

मन्दायस्ताखुर्बाम्भः प्लुतबुद्धरत्नमन्दरज्यामपीर-
कोलावातेषु मर्जत्प्रलयमनवटाम्योम्यसङ्गदृक्चक्रः ।
इच्छाश्लेषावदूतः कुतस्तुमनिमनोत्पातनिर्घटिवातः
केनात्मनिर्गन्तवात्प्रतिपत्तिमलो दुन्दुभिस्तावितोऽयम् ॥

इत्यादिना यत्रोदुम्भितिरित्यनेन श्लोपया विमोघनाद् विमोघनमिति ।

यद्य मुक्तिः ।

सम्प्रसारणमार्गानां पुक्तिः

यथा रत्नावत्तमां यथाप्रिय यैनां देवीरुत्तः सबहुमानं निक्षिपता मुक्त
महाश्रुष्टिर्न कविर्न च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी मिहमेखराभादेन
बभ्रुभूतिना सह कर्ष कयपयि समुद्रादुत्तीर्य कोटसौधितये यतस्य दमम्भतो
यदित इत्यनेन सागरिजाया अन्तःपुरस्थाया बन्धराजस्य मुनेन दर्शनादि
प्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्यमिहमेखराभायया स्वनायकममागमरेण प्रयो
जनयेनाज्जपागुणाद् मुक्तिरिति ।

मय प्राप्ति ।

प्राप्ति सुप्राप्तम् ।

इति । यथा वेणीसंहारे । येनै । 'मद्विणि परिकुम्भितो विम कुमारे
सम्बन्धीयदीत्युपक्रम । भीम ।

मन्नामि कीरवधत्तं समरे न कोपात्
दुःखासनस्य रक्षिरं न पिबाम्युरस्त ।
सम्बन्धुण्यमि गदवा न सुयोधनोक्त
सन्निं करोतु मयतां नृपतिं पण्डित ॥

श्रीपत्नी भुत्वा सहर्षं 'नाम धरमुत्पुल्लं कृ एवं वधत्तं ता पुणो पुणो मत्त
इत्यनेन भीमकोपवीजान्मयेनैव सुखप्राप्या शीपया प्राप्तिरिति । यथा च
रत्नावस्थां सामरिका भुत्वा सहर्षं परिकुम्भितं सुपुङ्गुं पश्यन्ती । 'कथं वधत्तं
सो राजा उदयस्यो वधत्तं धत्तं तादेव दिवा ता परप्रेषयद्भुत्तं मे बीजितं
एवम् बंसखेण बहुमत्तं संजायमिति । सामरिकाया सुखावमान् प्राप्तिरिति ।

मय समाधानम् ।

भीजागम समाधानम्

यथा रत्नावस्थां वासववता । 'तेन हि उपप्रेषेहि मे उदयमरणात् ।
सामरिका । मद्विणि एवं सुखं सुखम् । वासववता । निबन्धाऽऽत्मन्तं
धत्तो पमादो परिकुम्भितं वस्म एवम् बंसखेण वधत्तेन रत्नीयदि तस्य
ज्येष्ठं वधत्तं विद्विषोचरं धावता भीतु एवम् वाव । प्रकाशं । हन्ते सामरिका वीज

१ भवतु वारिके परिकुम्भित इव कुमारे लक्ष्यते ।

२ नाम धरमुत्पुल्लमेतद्वधत्तं तत्पुनः पुनभवत् ।

३ कथमय स राजा उदयस्यो यस्याऽहं तमेव वता तत् परप्रेषयद्भुत्तं मे बीजितम् एतस्य वधत्तेन बहुमत्तं संजायतम् ।

४ तेन हि मे उपप्रेषयतामि उपपन्नम् । सामरिका । भवतु वारिके ! एतम्
सख सुखम् । वासववता निबन्धाऽऽत्मन्तं धत्तो प्रमादः, परिकुम्भितं वस्म
इत्यनपवात् प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं विद्विषोचरम् धावता वधत्तम् ।
एवं तावत् । प्रकाशं । वेदि सामरिके कथं त्वमद्य पराधीने परिकुम्भिते

तुम् धन पराहीणो परिधरो मधनमव सारिख मोतुख इहायरा ता तहि
 चरेव पच्छ इत्युपक्रमे सागरिका स्वगतं सारिखा दाव मए सुसङ्गदाए हृत्
 समपिदा पेनिखदु च म कुनुहम ता धननिखमा पेनिखस्समित्पनेन वासव
 दत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्वर्धनप्रतीकारात् सारिकाया सुसङ्गतापत्त्येन
 धनक्षितप्रेक्षणो न च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात् समाधान
 मिति । यथा च बेलीसंहारे । भीम । ममनु पाप्मवासराजतनव मूढताम
 विरेख्य कासेन ।

बभ्रुवधमितिषण्डगदाभिषात
 सङ्घुनिठोरुवतस्य सुयोधनस्य ।
 स्थानावनङ्गमघानितपोधपाधि
 दत्तवियप्यति कर्वास्तव वधि । भीम ॥

इत्यनेन बेनीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम् ।
 मय विधानम् ।

विधानं मुल्लुङ्गकम् ॥२६॥

यथा ज्ञानतीमाववे प्रथमेऽङ्के । मामय ।
 यामया मुहुर्बसितकण्ठरमानं तद्
 भावुतवृत्तघटपमभिर्भं बहुत्वा ।
 क्षिप्तोऽमृतेन च विषय च पञ्चमाख्या
 गार्ड निग्रात्र इव मे हृदये कणाध ॥
 यत्रिस्त्रयस्तिमितमस्तमिताम्बभावम्
 धानम्भमग्दधमृतप्लवनादिवाभूत् ।
 तन्मन्मिषी तदपुना हृदयं धरीयम्
 मङ्गाङ्गुम्बितमिष वयममानमारत ॥

इत्यनेन नामत्पञ्चमोक्तस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुपपत्तिरव मापवस्य
 महानोत्सवे सारिका मुखावहेताया तस्मात्तत्तरेव यच्छु इत्युपक्रमे
 सागरिका इवमर्न सारिका तावन्धया मुसङ्गताया हस्ते समपिता
 प्रेक्षितु च मे कुनुहर्न तन् धननिखमा प्रतिप्ये ।

मुञ्चदुपकारित्वाद् विधानमिति । यथा च वक्षीसहारे । शीपवी । १ नाथ
पुनोवि तुम्हेन्द्रि ग्रहं धामच्छिद्य समासाद्विद्यया । भीम ।

ननु पाञ्चालराजतमये किमद्याज्यसीकारवाहनया ।

भूय परिमन्त्रमाप्तिमन्त्राविशुगिताननम् ।

अभिचेपितकीरव्यं न पश्यसि कुकोवरम् ॥

इति सञ्जयस्य मुखमुज्ज्वलेनृत्वाद् विधानमिति ।

अथ परिभाषणा ।

परिभाषोऽङ्गुतावेय

इति । यथा रत्नावल्याम् । सायगिरि । दुष्टा सविस्मयम् । २ कर्ष
पञ्चवक्त्रो ज्वेह अमङ्गो मूय पविन्द्रेष्टा ग्रहपि इवद्विद ज्वेह्य ए पुन
इत्स । इत्यनेन वत्सरजस्य धनङ्गवपतया अपङ्गवाहनकृत्य च प्रत्यक्षस्य
पूजापह्वस्य लोकोत्तरत्वाद्भूतसारेण परिभाषणा । यथा च वेष्टी
मंहारे । शीपवी । ३ किं वाणि एते पमघ्नजवधरविरमसतो दृष्टे दृष्टे
वमरकुम्भ्री तावीमक्षिति । इति लोकोत्तरसमरकुम्भमिष्यनेविस्मयरसावै
षाद् शीपवा परिभाषणा ।

अथाङ्गुद ।

अङ्गुदो गूढमेवम् ।

इति । यथा रत्नावल्यां वत्सरजस्य कुम्भपापुवध्यापवेष्टमूढस्य वीतासिन्ध-
ववता अस्तावास्तेत्यादिनोऽयमस्येत्यन्तर्न बीजानुपुञ्जेनैवोद्भवमाङ्गुदम् ।
यथा च वेष्टीसहारे । धार्य किमिदानीमप्यवम्यति पुनरित्युपपन्ने । नैपथ्ये ।

यत् सत्यव्रतमङ्गुमीकमनसा यत्नेन मन्दीकृतं

यत् विरमर्तुमपीहितं यमवता क्षान्ति कुत्तरयेष्टता ।

१ नाथ पुनरपि एवमाहुमाधत्य समाञ्चालयितव्या ।

२ कर्ष प्रत्यक्ष एवाङ्गुदं पूर्णं अतिज्येष्ठिता ग्रहपि इह विचर्तवन्तं
गूढमिष्यामीति ।

३ किमिदानीमेव प्रत्यक्षवधरस्तनितमांसलं दृष्टे दृष्टे समरकुम्भ
विरताङ्गुयती ।

तद् द्यूवारणिसम्भूत नृपमुनाकेषाम्भराभ्यर्णं
क्रापय्योतिरिदं मह्यं कुडबने योधिष्ठिरं जृम्भत ॥

श्रीम । सहर्षम् । जृम्भतां सम्प्रत्यप्रतिवृत्तमापस्य क्रोमस्योग्रद्वानुगृह ।
अथ कर्मम् ।

अरुणं प्रहृष्टारम्भो

यथा रत्नावस्थाम् । १। एषो दे कुमुमाउह ता अयोहर्षसणो य भविम्
समि ति हिदुठ अं पक्किदम्भ ता जाव ए क्रोमि म पेक्कड ता गमिममं
इत्यनेनाऽन्तराङ्गप्रकृतनिबिम्बद्वयान्तराङ्गान् करणम् । यथा च बेली
संहारे । तद् पाञ्चालि गण्डामा ययमिवानी कुरकुमस्यवायेति । सहर्षेण ।
अथ पञ्चाम इहानी कुञ्जनानुभाता बिजमानुरूपमाचरितुमित्यभेनाऽन्त
राङ्गदस्त्रयमानसङ्घामाङ्गान् करणमिति । सर्वत्र चोद्देशप्रतिनिवेद्य
संवर्ण्य क्रियाक्रमस्याप्रिवर्तितव्यवस्थिति ।

अथ भेदः ।

येह प्रोत्साहना यता ॥ २७ ॥

इति । यथा बेलीसंहारे । २। नाथ मा कण्ठु अजसेपीररिभद्रुहीबिरवावा
अणुवेकिरदमपीय परिवक्रमिभूय अवा अण्णमत्तमञ्जरणीयाई मुणीयन्ति
रिदवलाई । श्रीम । अथि मुद्यमिय ।

अयोम्यास्त्रमभिन्नातिपक्षभिरवभासाङ्गमस्तिधकपट्टे

मपानां रयन्दनानामुपरिहृत्प्रहस्यासबिजान्तपत्नी ।

स्त्रीशत्रुनृपानमोष्ठीरमघ्निबहिर्बाधुयन्त्यलङ्घये

महृषार्भकाण्यंवात ययनि विचरितु पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥

इत्यनेन विपन्नगत्या द्वीपया ओपोत्साहबीजानुमुन्येनैव प्रोत्साहनाद् भद
रति ।

१ नमस्ते कुमुनापुत्र तदयोपहर्षांनो मे भविष्यतीति हृष्ट यन् प्र सितप्यं
तत् यावन्म कोऽपि मां प्र दत्ते तन् गमिष्यामीनि ।

२ नाथ मा कण्ठु यावत्सेवीररिभद्रोहीपितकोवा अजसेपित्तसारीरा परि-
व्रजिष्यन् यतोऽप्रयत्नञ्जरणीयाणि धूयन्ते रिपुवत्तानि ।

एतानि च हावसमुद्भाङ्गानि बीमारस्मद्योतकानि साक्षात् पारम्पर्येण
वा विवेचयानि । एतेनामुनघ्नेनारिकरपरिव्यासमुक्त्वा मुक्तेरममाधानानामभ्यसं
माभितेति ।

अथ सार्ङ्गं प्रतिमुक्तसम्बिमाह ।

लक्षणात्मस्य च योवस्य ॥ २८ ॥

तस्य बीजस्य किञ्चिद् अस्या किञ्चिदलक्ष्य इत्युक्तेः प्रकाशनं तद्
प्रतिमुक्तम् । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोर
नुपगबीजस्य प्रथमाङ्कोपनिषत्स्य सुसङ्गताविबुधकाभ्यां ज्ञायमानतया
किञ्चिद् लक्ष्यस्वभावसदृशतया च विमलककटुतास्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य
दृष्ट्यादुरयस्मत्तमोऽङ्के प्रतिमुक्तसम्बितिति । वेलीसहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के
भीष्मादिबलेन किञ्चिद् लक्ष्यस्य कर्त्तव्यतया च आप्तस्यस्य ज्ञेयबीज
स्योऽङ्के ।

सहस्रतुल्यं सवाच्यं सहस्रं समुत्तं सहानुबन्धम् ।

स्वबलेन निहन्ति समुत्ते न चिरात् पाप्ममुत्तं सुषोबनम् ॥

इत्यादिभिः ।

पुत्रासनस्य हृदयलठ्याम्बुपान

पुष्पोवनस्य च यथा मद्योदमङ्गे ।

वैजसिनीं समरमूर्द्धनि पाण्डवानां

श्रेया जयजयध्वजेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥

इत्येवमादिभिश्चोऽङ्के प्रतिमुक्तसम्बितिति । अस्य च पूर्वाङ्कोपनिषत्
विशुद्धपवीत्रप्रमलार्वाङ्गुलानि योवस्याङ्गानि भवन्ति ।

तस्याह ।

विनासं यदुपासनम् ॥ २९ ॥

यथा पुष्पपुण्यादौ बलसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

रायर्षेहा शम् ॥ ३० ॥

परिहासबन्धो निरोधनम् ॥ ३१ ॥

पशु पास्त्रिभुवनम् ॥ इत्येति ॥ १२ ॥

एत्येति ॥ यथा रत्नावल्याम् । मापरिका । १ हिमय पञ्चौर पञ्चौर
किं इतिहा यायासमेतकर्मण्य बुद्धिहृत्तयत्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि
यायेप्रमह त्रं जलं कनुय भया समीहितं करिस्त । तहावि तस्त एति
मर्त्या इत्यलोवाइति इत्येतिस्तयत्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि
सागरिकामा ॥ यथाप्रमहत्तोऽनुपयवीवानुपतो विनास इति ।

यस्य परिमर्षः । इत्येति । यथा वैलीतंहारे । कन्धुवी । योऽनुपयत्तु
यत्तयम् । यथा किं यत्तयम् । यामुदेवसहायेषु यत्तु यथा ॥ यत्तु पुरम्
मनुनयानि । इत्यपरमयथायर्थ स्थायिनः ।

यायासमेतकर्मण्य बुद्धिहृत्तयत्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि
यायेप्रमह त्रं जलं कनुय भया समीहितं करिस्त । तहावि तस्त एति
मर्त्या इत्यलोवाइति इत्येतिस्तयत्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि
सागरिकामा ॥ यथाप्रमहत्तोऽनुपयवीवानुपतो विनास इति ॥

इत्येनेन श्रीप्यादिबन्धे इत्येति ॥ यथा ॥ यत्तयम् । यथा ॥ यत्तयम् । यथा ॥
यामुदेवसहायानां महत्तादमत्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि
यायेप्रमह त्रं जलं कनुय भया समीहितं करिस्त । तहावि तस्त एति
मर्त्या इत्यलोवाइति इत्येतिस्तयत्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि
सागरिकामा ॥ यथाप्रमहत्तोऽनुपयवीवानुपतो विनास इति ।

यस्य विद्वन्म । विद्वन्मिति । यथा रत्नावल्याम् । मापरिका ।
१ नहि धर्मि मे मतापो वापरि । मुक्ताहता । दीपिकातो ननिनीरत्नावि
भृगाभिहासवर्त्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि
१ नहि धर्मि मे मतापो वापरि । मुक्ताहता । दीपिकातो ननिनीरत्नावि
भृगाभिहासवर्त्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि

१ हुत्त प्रवीह प्रवीह सियनेन यायासमेतकर्मण्य बुद्धिहृत्तयत्तयगाणुदग्धेणुत्तु
यत्तयम् । तहावि यायेप्रमह त्रं जलं कनुय भया समीहितं करिस्त । तहावि तस्त
एति मर्त्या इत्यलोवाइति इत्येतिस्तयत्तयगाणुदग्धेणुत्तु पञ्चम तहावि

२ सति धर्मि मे मतापो वापरि ।

३ सति धर्मि मे मतापो वापरि ।

१ बुद्धिहवस्त्यापुराणो जग्जा गरुई परव्यसो भव्या ।

पिपसहि मिषमं पेय्यं मरणं सरणं शिवर एवम् ॥

इत्यनेन सागरिकाया बीजात्मकेन धीतोपचारविबुधनाद् विबुधम् । यथा च
वेणीसंहारे मानुसया पु-स्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्याग्निष्टम्भक्या पाण्डवविजय
शक्या वा र्थाविबुधनमिति ।

अथ राम । तच्छम इति । तस्या धरतेत्यवम राम । यथा रत्ना
वस्याम् । राजा । वयस्याजया मिष्टितोऽहमिति यत् सत्यमारमग्यपि मे
बहुमानस्तद् कर्त्तुं न पश्यामीति शक्ये । सागरिका । आत्मवतम् ।
२ हिमप्र समस्तस मखोरहो मि दे एतिथं भूमि ए मदी इति किञ्चिदस्तु
पगमात् शम इति ।

अथ नमः । परिहासवच इति । यथा रत्नावस्याम् । मुसंमता ।
३ सहि वस्तु कए तुमं भाषया सो अर्थ पुरतो विद्वदि । सागरिका ।
सात्त्वयन् सुसङ्गवे कस्तु कए अहं भाषया । मुसङ्गता । अहं अप्यसङ्गिदे एं
चित्तफलमस्तुता येष्टुह एवमित्यनेन बीजाभितं परिहासवचनं नमः ।
यथा च वेणीसंहारे दुर्योधन । येटीहस्तादर्भपाचमादाय दैव्या समर्पयति ।
पुनर्मानुमती अर्थं रत्ना । ४ हता उचयहि मे कसुमाई बाब अवरुणं पि
देवतुं सगरियं शिवसमि हस्ती प्रसारयति । दुर्योधन । पुण्याप्युपनयति ।
मानुसयाम्भस्पर्शजातकम्पाया हस्तान् पुण्याणि पतन्तीत्यनेन नर्मका
दु स्वप्नदर्शनोपशमाय देवतापूजाविघ्नकाङ्क्षा बीजोरचाटनाद् परिहास्य

१ बुद्धिमज्जनापुराणो जग्जा गुर्वो परव्यसो भवत्या ।

मिषसहि विषमं प्र म मरणं धरणं कैवलयिकम् ।

२ हृदय समावर्तसहि मनोरथोऽपि ते एतावतीं भूमि न पत इति ।

३ सकि यस्य वृते स्वभावता सौम्यं पुरतस्तिष्ठति । सागरिका सात्त्वयं
मुसङ्गते कस्य वृतेऽहभागता ? अयि आत्मसङ्गिते ननु विवक्षितकस्य
तद्गुह्यतविति ।

४ हता उचय मे कुलुमानि यावदपरेषामपि देवानां कपयो विवर्त
यामि ।

प्रतिमुत्ताहृत्य युक्तमिति ।

एव नयंयुतिः । युतिरिति । यथा रत्नावस्थाम् । मुर्मगता । १५ हि
प्रोक्षित्परा दार्णि सि मुर्म वा एव नि मृष्टेरा ह्वावमंविश वाव ग
मुम्बति । सावरिका । सञ्जु मङ्गमीपडिहस्य । मुमङ्गद दार्णि वि ग वि
महीचवेनाज्जुपयवीजीव्वाग्नाम्बन युतिमयवा युतिरिति दार्णिमिति ।

एव प्रययमम् । उच्यतेति । यथा रत्नावस्थाम् । विदुः । २ मा
वपन्त रिद्धिमा बह्वत्त । राजा । मङ्गोक्तम् । वपन्त विनतम् । विदुः
वत् । ३ मो एव कम् तत् अ मणिर्द तुम एव प्रातिजिज्ञा वा मग्ना
कुमुमावहन्ववदेक्ष्य भिषह्मीयरीत्यादिना ।

परिष्कृतस्तुष्टुममममम

किं धोपमावाति मृणावहार ! ।

न मूमतस्तोरपि तावदस्य

तमाजकाधो मवत् किम् स्वान् ॥

इत्यनेन ग्रन्थविषयकतापरिकामुक्तं ह्वातामग्नाम्बनवनेनोत्तरात्तन्मुक्तं
वीजीव्वाटनम् प्रययममिति ।

एव निरोधः । हितरोध इति । यथा रत्नावस्थाम् । राजा विन्मूर्ध ।

प्राप्ता कचमपि वैवात् कचमनीर्विष सा प्रकटयमा ।

रत्नावलीव कात्या नम हस्ताद् अ धितार मवता ॥

इत्यनेन वन्दराग्रस्य सावरिकाममायमप्यहितस्य वाधवदत्ताप्रवेजमुच्यते
विदुषकचता निरोधान् निरोधममिति ।

एव पर्युपगमम् । पयु पास्तिरिति । यथा रत्नावस्थाम् राजा ।

१ छहि धतिनिष्ठुरात्तीवानी त्वं या एवमपि मर्मा हस्तावतम्बिता
कोरं न मुम्बति । सावरिका । सञ्जु मङ्गमीपडिहस्य मुमङ्गते इरानी-
मपि न विरमति ।

२ मा वपन्त रिद्धिमा बह्वत्त ।

३ मो एव कम् तत् अ मणिर्द रथमेव प्रातिजित ।

प्रसीदेति श्रूयामिदमसति कोवे न मन्ते
 करिष्याम्येवं ना पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
 न मे कोपोऽर्त्ताति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
 किमेतस्मिन् मयानु क्षममिति न वेधि प्रियतमे ॥

इत्यनेन भिन्नवदार्तावक्योदसंतात् कुपिताया वासववत्ताया अनुममनं नायक-
 औरनुरागोद्घाटनकमेन पशुं वासनमिति ।

यत्र पुष्पम् । पुष्पमिति । यथा रत्नावल्याम् । राज्ञा । सागरिका
 हस्ते गृहीत्वा स्पृष्टं नाटयति । विद्वपक । 'नो एषा अपुष्पा सिरी तण
 समासादिना । राज्ञा । वयस्य । सत्यम् ।

वीरेया पाण्डुरव्यस्या पारिजातस्य पल्लवा ।

कुतोऽप्यथा सवत्येव स्वेदच्छायाभूतद्वय ॥

इत्यनेन नायक्योः साक्षादभ्योन्मूलनादिना उद्दिष्टेनानुरागोद्घाटनाद्
 पुष्पम् ।

अपोपम्यास । उपम्यास इति । यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता । 'मद्वृ
 मल सङ्काए मएहि भट्टिगो पसाएव कीनिरं एव ता कि कजावरनकेव
 अदोदि मे वदयो वसाओ वं कीस तए मइ एत्थ पासिहिप ति बुदिमा
 मे पिमसही सागरिमा ता वसावीमहु इत्यनेन सुसंगतावत्ता सागरिका
 मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपम्यासेन वीर्योद्घोषा-
 बुपम्यास इति ।

यत्र वयम् । वयमिति । यथा रत्नावल्याम् । वासववत्ता । कनकं
 निदिस्व । 'अत्र उच्यते एसादि वा तुल्य समीचे एतं कि वसन्तधत्स विभाज ।

१ नो एषा अपुष्पा श्री रवया समासादिता ।

२ अतर्तलं शङ्कया मयापि अर्तं प्रसादेन वीरितमेव तत् कि वरुणिर-
 नेन । यसावपि मे शुभ प्रसादः यत् कवेरवयाहमभातिनितेति कुपिता
 मे प्रियतमी सागरिका तत् प्रसादताम् ।

३ धार्म्यपुत्र एवापि या तव समीचे । एतत् कि वसन्तधत्स विभाजम् ।
 धार्म्यपुत्र मयापि एतत् विप्रधर्म वदयन्त्या वीर्यवैरता समुत्पन्ना ।

पुनः प्रयत्नतः ममाधि एवं वित्तकम्प वेदसास्त्रीए सीसवेधनासमुपपन्ना
इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकापुराणोद्भूतनात् प्रत्यक्षनिष्पुङ्ग
मिमानं वक्ष्यमिति ।

अथ कर्णसंहारः । आतुर्बलैरिति । यथा बीरचरिते तृतीयोऽङ्के ।

परिपदिमम्पीशामेव बुद्धो युवागिम्

सह नृपतिरमात्पैर्भोगपादरश्च बुद्धः ।

अथमविस्तृतयोः सङ्गबाही पुरासु-

प्रमुपपि जनकानामद्भुतो याचकस्ते ॥

इत्यनेन अविद्यभियामात्पाद्रीणां सङ्कलनां वरुणा वचसा रामविजया
वसिना परमुत्तमदुर्गमस्याऽधोहवाञ्चबाहारेखोद्भूतनात् कर्णसंहार इति ।

एतानि च त्रयोवक्ष्य प्रतिमुक्ताङ्कानि मुख्यसङ्गमुपनिष्य विन्मुनराणां
बाम्प्रजीवमहर्षीवप्रमत्तानुगतानि विवेचयानि । एतेषां च मध्य
परितर्पप्रथमवक्ष्योपन्यासपुण्यासां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासम्भव प्रयोग
इति ।

अथ धर्मसम्बन्धमाह ।

धर्मस्तु प्राप्तिस्तन्मन्त्रः ॥१३॥

प्रतिमुत्तमयो महयानवयवपत्तया रतोऽदोद्भिन्नस्य बीजस्य
मन्त्रियेपोद्भूतपुनरुक्तं साम्प्रदाया नाम पुनर्विच्छेद पुनः प्राप्ति पुनर्विच्छेद
पुनरप्य तर्प्यवाञ्छेयस्य वारंवारं सोऽनिर्वाचितकाम्यफलप्राप्त्यागतमन्त्रो
गर्भसम्भारिति । तत्र चोत्पन्नितत्त्वेन प्राप्ताया पताकाया धनिदमं
दर्शयति । पताका इयम् नवेत्यनेन । प्राप्तिस्तन्मन्त्रस्तु स्यादवेति दर्शयति ।
स्यादिति । यथा रत्नावल्यां तृतीयोऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तानुगता
पायेन तद्वपपरिग्रहमायगिकाभिभारणोपायन च विदुषाश्च वचसा सामरिका
प्राप्त्याया प्रथमं पुनर्विच्छेदतयाविच्छेद पुनः प्राप्ति पुनर्विच्छेद पुनरप्य
बनिवाणोपायान्भेदां नास्ति देवीप्रसादनं मुक्तावाञ्छय उपाय इत्यनेन
वर्जितमिति । न च हावसाङ्गी मयति ।

ताम्रद्विपति ।

पञ्चसङ्ख्येय - सभा ॥३४॥

उद्देगसम्भ्रमाद्धेवा नशस्यं च प्रसीयते ।

इति । यथोद्देश सध्यागमाह ।

अकृतपुरुषं सुख

इति । मया रत्नावल्याम् । 'तानु रे अमञ्च वसन्तस्य साधु । यदि
 सइहा तए अमञ्चो जोग चराचरुो इपाए सन्निधिगह्वरिस्ताए इत्यादिना
 प्रवेष्टकेन गृहीतवास्तवस्येपाया साधरिकाया वत्सरात्रात्रिसरल छप
 विदुपक्रममङ्गताकमुमकाञ्चनमोमानुवाद्यारेख रचितमित्यमुवाहरणम् ।
 मय माय ।

मार्मस्तृत्वार्यकीर्तनम् ॥६५॥

इति । यथा एतावत्स्याम् । विदूषकः । १० विदित्वा यद्वाच्यं समीक्ष्य
 इतिपिनाए कञ्चविटीए । राजा । ययस्य कुञ्चलं प्रियायाः । विदूषकः ।
 ११ यदरेण स्रवं श्वेज्ज पेक्किल्ल पाणिहिंसि । राजा । इत्थंमपि भविष्यति ।
 विदूषकः । समर्थम् । १२ कौस ए भविस्सदि यस्स दे उहसिबिह्व
 दिबुद्धिबिह्वो धई यमज्जो । राजा । तथापि कथमिति ओतुमिच्छामि ।
 विदूषकः । कल्लं कथयत्थमिदमेतत् यथा विदूषकेण सामर्थ्यासमानम-
 नुचितं तथैव निदिशतक्यो राज्ञि निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान् पार्थ
 इति ।

अथ कथम् ।

सर्वं विलोक्यमानं वापि

इति । मया रत्नावल्याम् । राजा ब्रह्मा किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणी
ममायमपरिवादिनोऽभिजयं जयं प्रति पश्यतः । तथाहि ।

१ साधु रे यमाय नमः । साधु । प्रतिप्रतिस्तवयामास्यो
दीप्यमानोऽस्य सन्निधिप्रहृष्टिभ्याः ।

२ रिहपा बपेसे समीहिताम्यपिकया कार्यरिहपा ।

१. पविरेतु स्वयमेव प्रेक्ष्य व्याख्यसि ।

४ इत्थं न भविष्यति यस्य ते उपहृतिस्तद्वृत्तस्यतिष्ठतिविमलोद्भूतमाय ।

प्रणयविषयी दृष्टि वक्ष्ये इति न गच्छिना
 भट्टयति नम कष्टाद्येप रसान न पयोधरी ।
 वरति बहुमो यच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहा
 रयतिष्ठति सङ्केतस्वा तथापि हि कामिनी ॥

४६ वरति वदन्तः । विष्णु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या इत्यनेन
 रत्नावलीमयायमप्राप्तवागानुगुण्यनैव देवीसङ्कायास्तव वितर्काद् व्यमिति ।
 प्रमोहादुत्प्लुम् ।

सोत्कर्षं स्यादुक्तवृत्तिः ।

इति । वरा रत्नावल्याम् । विदूषकः । सहर्षम् । ही ही^१ भो
 कोष्ठधीरज्ज्वालेनापि ए तारिप्तो वयस्यस्य परितोष्ठो घाति मारिप्तो मम
 सप्रानादो विषवचसं धुपिध भविष्यति ति तत्क्रेमीत्यनम रत्नावली
 प्राप्तिवार्ताप्रिय कोशाम्बीराज्यसाम्राज्यतिग्मिण्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुक्तवृत्ति-
 रिति ।

अथ कम् ।

कम् सञ्जिह्वमयमानाक्षि-

इति । वरा रत्नावल्याम् । राज्ञः । उपनतत्रियासमावभौत्सवराप्रिय म
 द्विमिरमयवन्मुताम्बति चेतः । अथवा ।

तौत्र सम्यग्स्थापो न तपाऽऽदौ वाचते यथाऽऽत्मनः ।

तपति प्राबुवि मुनराजमभ्यर्णमनामनो विवन् ॥

इति विदूषकः । घाकर्णः । भोवि मावरिण एषो विषवचसो तुभं ज्वेज
 उद्दिग्मिष उरकष्टाभिषुभरं मष्टेदि ता निवेदेभि मे तुहावमसुमिष्यनेन वत्स
 राजस्य मावरिकातयागममभिलषन् एव भ्रातृसतागरिकायाप्यतिरिति कम् ।
 अथ प्रमाणं मत्तभरेण ।

१ भो कोशाम्बीराज्यसाम्राज्येनापि न तादृशो वयस्यस्य वरितोव घापी
 तादृशो मम तकाशान् प्रियवचसं धुप्या भविष्यतीति तदुपायि ।

२ प्रवर्ति तत्कारिके एव विषवचसः स्वाभेधोद्दिश्य उरकष्टानिर्जरं मग्न
 यति तन्निवेदयानितस्यै तदापन्नम् ।

भावज्ञानवशात्तरे ॥३६॥

इति । यथा रत्नावस्थाम् । राजा । उपसृत्य । शिवे सामरिके ॥

पीताशुभुं समुत्पन्ने तत्र वृत्ती प्रधानकारी करो

रत्नावस्थेतिर्गं तत्रोद्भूतं बाहु मृणालोपमी ।

अथाज्ञावकरादिभाक्त्वि रमन्ताम् निःशङ्कमातिशयं याम् ।

अज्ञानि त्वमज्ञतापविभुराश्वेष्ट हि नवति ॥

अथादिना इह तदव्यस्त्येव विख्यापय इत्यन्तेन वासववत्तमा वत्सराज
नावस्य ज्ञातत्वात् क्मान्तरिति ।

यथा सहस्रम् ।

सहस्रः सप्तदशीतिरु

इति । यथा रत्नावस्थाम् । नापु यमस्य साधु इवै वै पारितोषिक कटक
वदानीत्याम्नां सामवानाभ्या विदुषकस्य वावरिवासमाममकारिण
सहस्रम् । सहस्रम् इति ।

यथाऽनुमानम् ।

अधुना निःशङ्कतोऽनुपा ।

यथा रत्नावस्थाम् । राजा । निह युद्धे । स्वकृत एवाश्रमापति
तोऽज्ञाकमर्थः । कुत ।

तमास्दा प्रीति प्रणयवदुमानात् प्रतिदिनं

अनीकं बीदीहं वृत्तमवृत्तपूर्वं सन् यथा ।

विद्या मुञ्चत्यत्र स्रष्टमसहस्राधीनतमसो

प्रकृष्टतय प्रेम्भ स्तमितमविषह्य हि नवति ॥

विदुषकः । यो^१ कथम् वासववत्ता किं करदस्तवि त्रि एव वासामि ।
सापरिधा वल्लु वुक्कर जीविस्तवि त्रि तवकेमीत्यत्र प्रकृष्टप्रमस्त्वनेव
वापरिकानुपयमयेन वासववत्ताया मरणाम्बुद्वयमनुमानमिति ।

यथाऽर्थवत्तम् ।

१. श्री वपस्व वासववत्ता किं करिष्यसीति न ज्ञानानि । सापरिधा
दुननु स्करं बीविष्यसीति तर्कयामि ।

अभिज्ञानमभिसम्भिः

इति । यथा रत्नावल्याम् । काञ्चनमासा । 'भट्टिणि इमं सा चित्त
माभिप्रा ता वसन्तप्रसू सण्ठं करोमि छोटिका ददाति इत्यादिना
बासवदत्ताकाञ्चनमासाभ्यां सायरिकामुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषणयो
रभिसङ्गीतमानत्वादभिज्ञानमिति ।

अथ छोटकम् ।

सरस्वती छोटकं वच ॥३७॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । बासवदत्ता । उपसृत्वा । 'अञ्जुवत्त जुत्त
मिच्छं सरित्तमिच्छं । पुनं सरोपम् । 'अञ्जुवत्त उट्टं हि किं पञ्चवि
धाट्टिजाईप संवाकुञ्जमणुजवीर्यादि कञ्चणमासे एतेण न्येव पासेण
वन्धिप्र घाणेहि एणं बुद्धवच्छणम् । एवं पि बुद्धकलणं अगम्यो करोहि
हरमेन बासवदत्ता सरस्वतीवत्ता सागरिका समागमान्तरावदूतेनाप्रियत
प्राप्तिकारणं छोटकमुक्तम् । तथा च बैलीसंहार ।

प्रयत्नपरिष्ठापितं स्तुतिभिरप्यं रोपे निधाम् ।

इत्यादिना ।

वृत्तायुक्तो बावदहं तावदभ्ये किमायुर्वे ।

इत्यनेनाभ्यास्यं कञ्चनमासाभ्यां संशयवत्ता येनाभ्यकारिना पाण्डव
निबन्धप्राप्त्यासाभित्त छोटकमिति । अस्यान्तरे तु ।

तोन्वस्याज्यपानाजं वचतेऽभिज्ञानं कुपा ।

यथा रत्नावल्याम् । राजा । दैवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्ट्यासीक किं
विज्ञापयामि ।

१ हे मनु दारिद्र्ये इयं विवर्णात्मिका तत् वसन्तप्रसू संतां करोमि ।

२ आर्यकुलं युवतमिच्छं लहामिरम् ।

३ आर्यकुलोत्पिष्टं किमपि धानिजात्यां सेवाकुलपशुमुपते ।
काञ्चनमासे एतेनैव पाणेन वद्व्यानयनं बुद्धवच्छणम् । एनामपि
बुद्धवच्छणपत-बुद्ध ।

भाताम्रतामपनयामि विमला ॥
 माघाकृतां वरसुयोस्तत्र क्षेपि । मूर्ध्ना ।
 कोपोपरामर्शितां तु मुखेषुभिम्बे
 हस्तु धमो यदि परं कवणा मयि स्मात् ॥
 संरम्भवचन मयं तु लोभकं तदुदाहृतम् ।
 यथा रत्नावल्याम् । राजा । शिखे वासववत् । प्रसीद प्रसीद । वासव
 दत्ता । धर्मूनि धारयन्ति । 'धर्मवत्त । मा एव' मय प्रणसङ्कृताई
 बु एवाई अक्षराइति । यथा न क्षेपीसंहारे । राजा । प्रमे मुन्दरक ।
 कश्चिन् बुधनमङ्गराजस्य । पुष्य । कुसुमं 'सरीरमेतनेण । राजा ।
 किं तस्य त्रिरीटिता इता श्रीरेया । सप्त सारथि । भग्नो वा रज ।
 पुष्य । 'क्षेप । न जग्नो रह्यो भग्नो से मणोरह्यो । राजा । सप्तममम् ।
 कवमित्येवमादिना संरम्भवचसा लोभकमिति ।
 धमोहेन ।
 उद्वेगोऽप्रिकृता भीतिः

यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । आरमपतम् । 'कहं अक्रिह
 पुषहि धनलो इच्छाए भरिठ पि ए पारीमहि । इत्यनेन वासववत्ताव
 सामरिकामा मयमित्युच्यते । यो हि यस्याशकारी स तस्याग्रि । यथा न
 क्षेपीसंहारे । सुत । भुक्ता सप्तमम् । कर्ममासन्न एवाञ्छी कीरवपजपुन
 महावनात्मातमाकृती मावतिरनुपलम्बस-ज्ञरज महापज । मय्यु ज्ञरमप
 इत्यमि स्वम्भनम् । नदाविहममनामो बुद्धासन इवाप्रतिमप्यनार्यमा
 वरिष्यतीति धरिहता भीतिरुच्यते ।
 धम सप्तमम् ।

सङ्क्रान्तां न सप्तमम् ।

- १ धार्यपुत्र । सर्वं मण प्रम्यत-जगतामि तमु एताम्यक्षराणीति ।
- २ कुपलं धारीरमाप्रदेन ।
- ३ क्षेप न भग्नो रज-भग्नोऽप्य भग्नोरज ।
- ४ कवमहतपुर्नरदमन इच्छया मनु मयि न लभयते ।

यथा रत्नावस्थाम् । विबुधक १ पश्यन् । १ का उग एमा । समम्भ्रमम् ।
 कर्प देवी वामवदता प्रतापं बाबावेदि । राजा । समम्भ्रममुपसर्पन् । क्वाऽग्री
 वतासावित्यनेन वामवदताबुद्धिगृहीतायाः सायगिकाया मरणसङ्ख्या मम्भ्रम
 इति । यथा च वेणीसंहारे । नेपथ्ये वलकम् । धोषकायामा । समम्भ्रमम् ।
 मानुस । मानुस । कल्म् एष भ्रातु प्रतिज्ञामङ्गमीक किरीटी समं
 सरत्तर्दुर्वोचनराययाननिप्रवति । सर्वथा पीत क्षीणितं बुभाममस्य भीमे
 नेत्याद्यङ्गा । तथा प्रविश्य सम्भ्रान्त सप्रहारं सुत । वायतां वायता कुमार
 इति नाम । इत्येतान्मां वाससङ्ख्याभ्यां बुधामनद्वोरुवचनमूचकाभ्यां पाण्डव
 विजययात्प्रापाम्बित्त सम्भ्रम इति ।

अथाऽऽरंभः ।

गर्भबीजसमुद्भूत दादाधोप परिचीतिता ॥ ३८ ॥

यथा रत्नावस्थाम् । राजा । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नाज्यमभो
 पायं पश्यामि । पुनः प्रमात्तरे सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रसवामीभूता
 स्म । पुनस्तान् किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रनामयामीत्यनेन देवी
 प्रनामायता सावदिकासमायमसिद्धिरिति पमबीजोद्भूत दादाधोप । यथा च
 वेणीसंहारे । मुन्दरक । १ प्रहृष्टा किमेव देव्यं उपासहामि तस्म वदु
 गृहं गिरिर्माच्छ्रयविदुरवचनग्रीष्मस परिभूरविद्यामहहिरोवदेनङ्कुरस्य
 गवलिप्रोच्छाहृष्टावदमुताम्ब कूटविसर्गाद्विस्तो वञ्चसीवेसमाहृष्टमुमुस्रम
 पत्तं परिणमदि । इत्यनेन बीजयम क्तोऽप्युपतमाऽऽक्षिप्यत इत्यप्यादाय ।

एतानि दादाधोप सर्माङ्गाणि प्रापयादाप्रदर्शितस्तेनोपनिबन्धनीयान्येषा
 च मध्ये अमुताहरणुकापटीकापिबन्धनीयानां प्रापाम्बम् । इत्येषां
 ययाम्भ्रमं प्रयोग इति नाङ्गा गर्भसन्निधेयम् ।

अथाऽऽरंभः ।

१ का पुनरेवा । कर्प देवी वामवदताप्रपायं व्यापादयति ।

२ यथा च वेणीसंहारे देवपुतासमाभि तस्य प्रत्येतेन निर्भीतितविदुरवचन
 बीजस्य परिभूरविद्यामहहिरोवदेनङ्कुरस्य चकनिप्रोत्ताहृष्टावद
 मुसस्य कटविसर्गाद्विस्तो वञ्चसीवेसमाहृष्टमुमुस्रम कर्तं परिणमति ।

अवेवेनाऽम्बुसेह सोऽम्बुसोऽङ्गुसंघह ॥१८॥

प्रथमसंज्ञमवमर्थं पर्याप्तोचनम् । तच्च भौषण वा भ्यसनाद् वा
विमोमनेन वा भजितव्यमनेनाऽर्पनेत्यवधारितं कान्तकमप्राप्तवसायात्मा
भर्गस्तत्पुद्गिन्मयीवार्थसम्बन्धो विमर्शोऽवमर्थः । यथा रत्नावस्यां
चतुर्जङ्घे । अग्निविद्वत्पवन्तो वातवद्वताप्रसक्त्या निरुपायरत्नावसी-
प्राप्त्यवतावात्मा विमर्शो वर्धितः । यथा च वैभीर्छन्दारे । दुर्बोचन-
वर्धितवृत्तमीमतेनागमपर्यन्तः ।

तीर्णे मीधमहोदधी कथमपि होमानसे निवृत्ते
कृत्वासीद्विजगोनिनि प्रसमिते शस्त्रेऽपि याते विषम् ।
मीमेन द्विबसाहृतेन रभसादस्यावक्षेपे वये
सर्वे बीदितसंक्षयं वयममी वाचा सुमारोपिता ॥

इत्यत्र स्वस्यावक्षेपे जय इत्यादिषु विजयप्रत्यक्षमस्तमीध्मादिमहारात्र
वैभवादवधारितं कान्तविजवावमर्शनादवमर्शनं वर्धितमित्यवमर्शसम्बन्धिः ।

तस्याऽङ्गुसंघहमाह ।

तथा० अथोदय ॥४०॥

मयोद्वेष्टं मयसुमाह ।

होदप्रक्याऽन्याह स्वात्

यथा रत्नावस्याम् । मुचमता । 'सा तु तपस्विस्त्री महिणीए
उज्ज्वलसि लोप्रविति पवार करिष तपस्विदे अहस्ते ए धासीपति
कहिपि स्त्रीदेति । विद्वत्कः । सोऽवमम् । 'अथिभिर्गुर्विर्लं क्व क्व
देवीए । पुनः । भो वयस्य मा तु धम्यवा सम्मावेहि । ता तु देवीए
उज्ज्वलपीए पेसिवा । प्रवो मधिर्धं ति कहिर्धं । राजा । अहो निरनुपेवा

१ सा धनु तपस्विनी महारिकया उज्ज्वलिनी भोयत इति प्रचारं कृत्वा
उपस्थितेऽर्द्धरात्रे नागीयते कुत्रापि नीतेति ।

२ प्रतिनिवृत्तं धनु कर्षं देव्या । भो वयस्य मा धनु धम्यवा
सम्मावय । सा धनु देव्या उज्ज्वलिन्यां प्रेयिता । अतोऽप्रियमिति
कथितम् ।

नयि देवीत्यनेन वासवदत्तादौषधप्रत्यापनादपवादः । यथा च वेभीसंहारे ।
मुचिष्ठितः । पाञ्चालक कम्बिदासादिता तस्य दुरात्मन कीरवापसदस्य
पदवी । पाञ्चालकाः । न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीवेत्तपाद्य
कर्त्तृपात्रक-प्रधान-हेतुरूपत्वञ्च इति दुर्योधनस्य दौषध्यात्प्रत्यापनादपवादः इति ।
यत्र नन्दः ।

सम्प्रेषी रोचनायस्य ।

इति । यथा वेभीसंहारे । यो कीरवापस कृतं बन्धुनामद्वन्द्वनबन्धुना
नीचं विचारं कृत्वा । परमिष्ठा पाञ्चाला समपायाहमसहाय इति ।

पञ्चाला मयसप्रमाकं यं मुबोधं मुबोधन ।

वसिष्ठस्यात्तस्यस्य तेन तेऽस्तु रणीरस्य ॥

इत्थं धृतराष्ट्र्यात्मिकी विजिज्य कुमारयोर्विष्टिमुपतप्तान् चार्तपात्रः ।

कर्तुं दुःशासनवधात् तुल्यावेव युवा नमः ।

धर्मियोऽपि प्रियो योद्धुः स्वदेव प्रियसाहसः ॥

इत्युत्त्वाच्च न परस्परबोधाविशेषपरक्यवास्तत्तत्प्रस्थापित-बोत्तक्यामा-
विरत्नेन भीष्मदुर्योधनबोत्त्वोत्थरापसम्पापत्वाद् विजयवीरान्धवन
सम्प्रेष इति ।

यत्र विद्वदः ।

विद्वदो ब्रह्मज्ञादिन्

यथा छान्दोग्ये ।

मैत्राक्ष्यस्य मुनानि सामवठतामत्यन्तमापासिन

ब्राम्हणे येन ह्युदासमुज्ज्वलतयप्रत्यर्पणे प्रीतिर्यम् ।

मुष्मार्कं हृदयं स एव विशिर्वैराग्युरितामग्नयमा

मूढार्थघोरतम-प्रवेष्टविषया ब्रह्मा तथा नीयते ॥

यथा च भन्नावस्थाम् ।

हर्म्याणां हेमभूषाभियजिनः शिवनेरभ्यिषामादधान

माग्नेयदानं चाद्यस्तपनपिपुत्रिभ्रा-यन्तरीवाजिगाय ।

कुर्वन् श्रीकामह्रीध सज्जनसवरस्यामस धूमपातः
एव प्लोपातं यापिञ्जल इह सहस्रबोत्थिताऽन्तपुरैर्ध्रुमः ॥

इत्यादि । पुनर्वाच्यवत्ता । 'यज्ज्वलन्तं त्वं यन्मुपहृष्यतस्तथा वारुणाया
मलामि । एषा मयि सिम्बिलसिद्धिप्रदाय सञ्जया सायग्न्या विजम्बदि
इत्यनेन सायनिकावयवम्बामिभिर्विद्वद् इति ।

अथ इह ।

भवो गुरोरितरस्फुटिः ॥४१॥

इति । यथात्तररामचरिते ।

बृद्धास्तेन विचारणीयचरितारित्युक्तं तु वर्तत
मुन्दस्त्रीदमनं प्रयच्छन्त्यसो मोके महातो हि तः ।
यानि श्रीप्यकुतोमुखाग्यपि पश्यासन् लक्ष्मणेने
यद् वा कौशलमिन्द्रमुमुक्षुमने तत्राऽप्यभिज्ञो जनः ॥

इत्यनेन भवो रामस्य गुरोरितरस्फुटं कृतवानिति इव । यथा च
बेणीसंहारे । मुचिष्ठिः । भगवन् कृष्णपञ्च सुमहाभातः ।

जातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षयिषाणा न धर्मो
न च सत्यं तदपि गणितं नाऽनुब्रूयाद्भिनः ।
तुभ्यं नाम भवतु भवतु धिष्यन्तो स्तुह्यन्
कोऽयं यथा यदसि विमुक्तो मन्त्रभावे मयीत्यम् ।

इत्यादिना वक्तव्यं गुरोर्मुचिष्ठिरितरकृतवानिति इव ।

अथ शक्तिः ।

विरोधप्रमर्शं सजितम्

इति । यथा रत्नावल्याम् । राज्ञाः ।

सम्यान् वपर्व प्रियेण वचसा वित्तानुवृत्त्याऽर्थकं
वेमटयेण परेण पादपतनीवर्जितं सलीनां मुहः ।

१ धार्यपुत्रं न कसु ग्रहमारमन्ता वारुणा मलामि । एषा मया विमुक्त-
हृदयया संपत्ता सायनिका विपद्यते ।

प्रत्यापत्तिमुपागता न हि तथा ह्यो गृहस्था यथा
प्रद्याभ्येव तद्वैव बाणसमिधं कोपोऽपनीतं स्वयम् ॥

इत्यनेन साग्निकात्माभिरोविद्यामवन्तावापोपद्यमानात् सविन
यथा चोत्तररामचरिते । सच शाह ।

विरोधो विभागत प्रसरति रसो भिषु तिष्ठनम्
तद्योदयं स्वाध्वं व्रजति विषयं प्रह्वयति माम् ।
मृष्टिस्त्वस्मिन् कुटे किमपि पञ्चानग्निं धवि वा
महार्थस्तीर्णनामिह हि महता कोऽप्यतिपाय ॥

अथ धृति ।

तर्जनीद्वये धृति ।

यथा बन्धोर्महारे । एतच्च बचनमुपभृत्य रामानुजस्य सकनितिकुञ्ज
पूरिताद्यातिरिक्तमुद्भात्यसमिधचरयत्तसङ्कुलं पासोद्भुततनवाहमा
मोदय गर समिधं धैर्यं च यजिन्वा कुमारकुटीररेखाभिहितम् ।

जग्मेभ्योऽग्ने कुमे व्यपदिषस्वद्यार्द्रं यतो गवा
मा कुशासनकाप्युषोशितमुरासीर्धं रिपु भावस ।
हर्गन्धो मकुर्कटमद्रिवि हरावप्युज्ज्वलं चण्डसे
यत्रानाम् नृपणो विहाय समर पङ्क्तेऽधुना क्षीयसे ॥

इत्यादिना त्यक्तोत्पित सरप्रसमिधनम् कुञ्चनमलावसोदनाया दुर्पोषण
तर्जनीद्वैककारिण्यां पाण्डवविजयानुद्भुतदुर्पोषणात्पापनष्टमुन्या भीमस्य
चतित्वना ।

अथ प्रसंग ।

गुह्यकीर्तनं प्रसङ्गम्

इति । यथा रत्नावल्याम् । देव माज्यो सिंहपैम्बरेण स्वदुहिता रत्नावली
गमाऽऽमुष्मती बाधयदतां दग्धामुपभृत्य दैवाय पूर्णप्रादिता गतीं प्रति
वर्त्तन्तनेन रत्नावल्या गामानुकूलाभियनप्रवादिना प्रसंगाद् गुह्यकीर्तनेन
प्रमय । तथा भूषणकटिकायाम् । बाणनामक । 'एष मायनदत्तस्य सुधो

१ एष सागरदत्तस्य पुत्र भाव्यविषयदत्तस्य जप्ता चादत्तो प्याता

धर्मविण्णस्य कत्तु वामुत्तो वावादिषु बन्धमट्टाणं एहीयवि । एवैस
 किम पणिया बत्तस्येणा सुवण्णतोमेण वावादिशत्ति । वास्सत्त ।

मच्छाउपरिपूतं चोत्रमुद्भाषितं यद्
 महसि निषिद्धैस्त्वन्नह्मणोर्वे पुरस्ताद् ।
 मम निधनवशायां वर्तमानस्य पार्ष्ण्यं
 तद्वत्तुष्टमनुष्ठीर्नुष्यते चोत्रभाषाम् ॥

इत्यनेन वाक्यस्य वाच्यमनुष्ठानं प्रसङ्गाद् युक्तवत्कीर्तनमिति प्रसङ्गः ।

अथ छतनम् ।

छतनं वाच्यमानवसु ॥४९॥

यदा धत्तावस्थाम् । राजा । यद्वा निरनुरोधा मयि ईषीत्वमेव वास्तव
 रत्तदा इष्टात्तस्यावस्थाम् बत्तरावस्थाम्वाच्यमाननाम् छतनम् । यदा च
 राजाभ्युदये वीर्यायां परित्यागेमावस्थामाननाम् छतनमिति ।

अथ व्यवसायः ।

व्यवसायाः स्वशाखायुक्ताः

यदा रत्तावस्थाम् । ऐश्वर्यामिदम् ।

किं बरणीयं मिथक्कुं वा यासे मग्निहरो जलं जलत्तु ।

मग्निहर्मि पयोसो वाविग्गठं वहिं याजति ॥

यद्वा किं बहुना जम्पिएण ।

मग्निं पश्या एसा मयामि हिमएण नं महसि वदतु ।

तं ते वाचेमि फुडं भुक्खणो मत्तप्पहावेण ॥

इमिषु बन्धस्वार्थं नीयते । एतेन किञ्च गतिरुक्ता बत्तस्येना सुवष
 मोयेन व्यापारितेति ।

२ किं बरणीयं मुवाक्कुं याकारो मग्निहरो जले जलतम् ।

मय्याह्मे प्रयोचो जयतां वहिं याजति ॥

अथवा किं बहुना जम्पियेम् ।

मम प्रतिर्तवा मयामि इत्यनेन यद् वाच्यमिति प्रष्टुम् ।

तत्ते वदामि इत्युक्तं भुक्खणमवमावेण ॥

इत्यनेन नृजालिका विष्णोर्गन्धर्वस्योत्थापनेन यत्परायस्य हृदयस्य
आमरिकायसंनतमुक्ता स्वसक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसंहारे ।

गुणं तेनाश्रय्य वीरेण अतिज्ञानं गभीरया

वर्ण्यते कथपाशस्तैः स आश्रयाऽऽकर्षत्ये क्षया ॥

इत्यनेन नृमिष्टिः स्ववन्द्यतां विस्मयाविष्करोति ।

यत् विरोधनम् ।

सरस्वती विरोधनम् ।

इति । यथा वेणीसंहारे । राधा । री री मन्त्रतन्त्र किमेवं बुद्धस्य राज्ञः
पुरतो निन्दितस्य मातृकर्म स्थापये । अपि च ।

कृष्ण केयिषु भावा एव तव च पयोस्तस्य राजस्तदोर्वा

प्रायसं भुपतीनां मम मुच्यते राज्ञया धृतवासी ।

अस्मिन् वीराभुवन्ते तव किमप्युक्तं द्यूता दे मरेन्द्रा

बाह्योर्वीर्यसिद्धिस्तान् विलुप्तमर्थं नामशित्त्वेन हर्षः ॥

भीम । भीम नाटकं । अर्जुन । धार्म्यं प्रसीद किमत्र बोधेन ।

अप्रियाणि करोरयेव भावा दास्यो न धर्मला ।

हृत्प्राप्तमस्तौ दुःखी प्रभापैरस्य का व्यवसा ॥

भीम । धरे भरतकुलवत्तनु ।

यत्नं किं न विमृशेयमहं भवतां

दुष्टासनाभुपमनाम वदप्रतापिन् ।

विष्णुं गुरुं न कुर्वतो यदि मत्कराद्य

निमित्तमानरहितानिधि ते धारीरे ॥

अथवा भूः ।

योः स्त्रीयन् नमनतामिहैवंत् परिपात्रितोऽस्ति

आतुर्वा-तद्वत्तद्विदमने वञ्च साधीकृतोऽस्ति ।

आतीयेत् तव पुनश्चैव वारतां धीवितरव

वद मुच्यते न वदमिनीदुःखरे भीमसेने ॥

राजा । दुष्टात्मन् भरतकुलापसह पाण्डवपक्षो माश्र्म भवानिव निरूप्य
माप्रगम्भ । विष्णु ।

इत्यस्मि न चिरान् सुप्तं बाण्डवास्तथा रणाङ्गणे ।

मद्वराभिन्नबन्धोऽस्मिन्नैस्त्रिकामंयभीषणम् ॥

इत्यादिना सरस्वयोर्भीमकुप्योर्जनयो र्वधस्यत्युचितचिरोधनमिति ।

अथ प्ररोचना ।

सिद्धावगमलतो भाविर्वाहिका स्यात् प्ररोचना ।

यथा बेलीसहारे । पाण्डवासव । अहं च बेलेन चक्रपाणिमैश्वर्यमय
द्वर्तुं सन्नेहेन ।

पूर्यन्ता उमिन्नेन रत्नकमला राज्याभिवकायन

दृष्ट्वाऽप्यन्तचिरोन्मिले च कचरीबन्धे रुग्णोतु दण्डम् ।

रामे द्यातकृठारमासुरकरे सचद्रुमोऽध्वेषिनि

श्रेयाम्भ च बृकोदरे परिपतस्याजी कृत संशय ॥

इत्यादिना संवत्तानि कर्तुमाहापयति । बेबो वृषिष्ठिर इत्यन्तेन द्रौपदीवैद्य
सबमनमुषिष्ठिरराज्याभिवेकयोर्भीमिनारपि सिद्धत्वेन वसिका प्ररोचनैति ।

अथ विचक्षणम् ।

विचक्षणना विचक्षणम्

यथा बेलीसहारे । श्रीम । तात अम्भ ।

सकनरिपुजमाया यत्र यथा सुतस्ते

तृणमिव परिभूतो यस्य गर्भेण लोकः ।

रणभिरमि निहृता तस्य राधासुनस्य

प्रणमति पितृगी वा मध्यम पाण्डवोऽयम् ॥

अपि च । तात ।

बूलिनामेवकीरग्य क्षीवो दुष्टासनागृहा ।

महकम्भा सुपोवनस्योर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्जयति ॥

इत्यनेन विजयबाजानुमत्तम्बगुणादिष्करणाद् विचक्षणमिति । यथा च
रत्नावल्याम् । योगेश्वरायण ।

देव्या महत्तमाद् यथाऽम्बुपयताः परमुविमोगस्तथा
 सा देवस्य कमलसंघटनवा दुर्गा मया स्थापिता ।
 तस्याः प्रीतिपथं करिष्यति जगत्स्वामित्वकामं प्रभो
 सत्यं वक्ष्यितुं तयापि बभनं शक्नोमि भो लज्जया ॥

इत्यनेनाश्वपरेष्टाऽपि योग्यरायणेन यथा जगत्स्वामित्वानुबन्धी
 कन्यानाथो बत्सरावस्थ इति इति स्वकुलानकीर्तनात् विवर्तनीति ।

यथाऽऽज्ञानम् ।

साधनं कार्यसंग्रहः ॥४३॥

इति । यथा बेलीसंहारे । भीम । ननु भो समन्तपञ्चकप्रज्वालितु ।
 रसो नाऽहं न भूतं रिपुविरजनाप्यावित्ताय प्रभामं
 विस्तीर्णोवप्रतिज्ञाव्रतनिमिगहन शोधन शक्तिवोर्जितम् ।
 भो माऽपमन्ववीरा समर्पयिषिषिषादग्नयेवा इति ननु
 साधनानेन भीर्नैर्हृतकण्ठिगुणस्त्वर्हृत्पाम्यते यत् ॥

इत्यनेन समस्तरिपुवचकार्यस्य संपूर्णतत्वावधारणम् । यथा च एता
 वन्वान् । सापरिका । विसोऽनमोवय । 'विदित्वा समस्तादो पञ्चसिद्धो
 मयं ह्रस्वहो अज्ज करिष्यसि दुष्टावसाहमिदमेनाश्वपरेष्टापि दुष्टा
 वसातकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च जगत्स्वामिरवकाश प्रभापिषि
 वसिष्ठमेवमित्येतानि यथाऽष्टाश्रमपर्याङ्कानि । सर्वेषामपेक्षाव्यतिरेक्यवसाव
 प्रयोजनादानानि प्रमानानीति ।

अथ निबहणवर्णिनः ।

भीमवन्तो तत् ॥४४॥

यथा बेलीसंहारे । वाङ्मूली । उपमृन्ध सङ्घर्षम् । महाराज बर्बरे
 वयंसे अयं तत्तु कुयारधीनयैः मुबोधनभक्तवाक्प्रीतिव्यनमस्यतीतो
 दुर्नैर्दम्पनिजिरियादिना होरदीनेवर्बयमनादिमुक्तगन्ध्यादिबीजानां निज
 निजस्वभावोत्पत्तानामेवमेतया योजनम् । यथा च रम्भावसां सापरिका

१ विष्णुप्राप्तमन्तान् प्रज्जतिती अपयान् हुतवहो'य करिष्यति दुष्टा-
 वसानम् ।

रत्नावलीवमुत्तिवाभ्रव्यादीनामनीना मुखसम्प्रादिषु प्रकीर्णानि वत्तराज-
कलादीनंत्वम् । वसुभूति । सागरिका निर्बन्ध्याग्रिनाम् । वाभ्रव्य मुसवृषीव
राजपुत्र्या इत्यादिना वक्षितमिति निर्बन्धुसम्पि ।

यस्य तद्वृत्तानि ।

सन्धिविबोधो वसुभूति ॥४२॥

वसोदेवं नक्षत्रमाह ।

सन्धिविबोधोपपन्नं

इति । यथा रत्नावल्याम् । वसुभूतिः । वाभ्रव्य मुसवृषीव राजपुत्र्या ।
वाभ्रव्य । समाम्येवमेव प्रतिभातीत्यनेन नाधिकाशीबोध्यमात् सन्धिरिति ।
यथा च वेणीसंहारे । भीमः वसति यज्ञवैशिष्ट्यम्ने स्मरति भवती यत् तन्
मयोक्तम् ।

वसुभूतुजभ्रमित-वस्यवधामिषात्

सुसूक्ष्मोदवसुभूतस्य सुबोधनस्य ।

स्त्वानाववसुभूतस्योदवसुभूतस्योदवसुभूतस्य

वसुभूतस्योदवसुभूतस्योदवसुभूतस्य ॥

इत्यनेन सुबोधनस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति ।

यस्य विबोधः ।

विबोधः कार्यमापन्नम् ।

यथा रत्नावल्याम् । वसुभूतिः । निरूप्य । वेव कुत इयं कम्पका ।
यथा । वेवी जानाति । वासववत्ता । 'यज्ज्वरत एसा सनराशो पाविप्रति
वसिप्रय यमन्व वीजन्वराप्रणेन मम हृष्ये निहिता । यशो ज्ञेय सागरिप्रति
सहावीप्रति । राजा । आत्ययतम् । यीयन्वरायनन ग्यस्ता । कयमसी
वमाप्रिनेय करिप्यतीत्यनेन रत्नावलीमद्यलुकापीनैवलाद् विबोधः । यथा
च वेणीसंहारे । भीमः । मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्य क्षणमेकम् । दुषिष्टिरा ।
किमपरमवधिष्टम् । भीमः । शुभहृदवधिष्टम् । संयमयामि तावदेव
१ आर्म्यदुव एसा सायरात् प्राप्तेति अजितवाज्जात्ययोवसुभूतस्येव मम
हृष्टे निहिता, अत एव सागरिकेति शक्यते ।

दुष्पापनष्टोत्थिप्रोत्तिनैः पाणिना वाग्वासाया बुद्ध्यासमावृष्टं देवदत्तम् ।
 बुद्धिष्टिर मन्त्रतु भवान् । अनुभवतु उपस्थिता देव्यामहाभिरत्यनेन
 कथमयमनकारस्याम्बेपणाद् विद्योप इति ।

यस्य वचनम् ।

इत्यर्थं तदुपलक्षणी

यथा रत्नावस्याम् । वीरग्वरपयः । देव सम्पत्तां यद् देवस्याग्निदेव
 वर्यतः इत्येत्यनेन वत्सरामस्य रत्नावली-प्रापयकामोपकापाद् वचनम् ।
 यथा च वेणीसंहारे । भीमः । वाग्वासा नि कम्पु मवि बीरति संहर्षम्वा
 दुष्पापनविमुक्तिता केचिराग्यपाणिना । तिष्ठतु तिष्ठतु । स्वयमेवाशु
 संहारनीत्यनेन द्रौपदीकेयस्ययनकावस्योपधेराद् वचनम् ।
 यस्य निर्णयः ।

शुभ्रुताया बु निर्णयः ॥४६॥

यथा रत्नावस्याम् । वीरग्वरपयः । इत्याम्बवि । देव नृपत्याविवं
 विहृतेरवदुहिता विहादेमेनोपविष्टा योश्या वासि प्रहीष्यति स तार-
 बीनो राजा भविष्यति । तत्प्रत्ययावस्थामि स्वाम्यर्थं बहुष प्रार्थ्यमानाप्रपि
 विहृतेरवदुह देव्या वासवराजायादित्यसौ देवं परिक्रुत्वा यथा न इत्या तदा
 धारयितुं देवी इत्यति त्रिस्तुतिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाधय्य प्रहित इत्यनेन
 वीरग्वरपयः स्वानुष्ठुतमर्थं स्वावित्तकालिति निर्णयः । यथा च वेणीसंहारे ।
 भीमः । देव देव धरातस्यो नवाज्याप्रपि बुधोपनहृत्कः । यथा हि तस्य
 दुष्पापनः ।

भूमी क्षिप्त्वा पटीरं निहितमिदममृक्कमन्त्रार्थं निजानि
 सारपीठये निविष्टा कमुदरविषय सीमया सार्धंभुष्या ।
 मृत्पा मिश्राणि योषा कृष्णममन्त्रिणं इत्यदेतद्व्याप्ती
 नार्थकं यद् वहीवि विनिय तदमुना पार्श्वपट्टस्य रूपम् ॥
 इत्यनेन स्वानुष्ठुतार्थकमन्त्रान् निर्णय इति ।
 यस्य परिचायकम् ।
 परिभाषा निषो ज्ञात्वा ।

दुःशासनप्राणितोषितेन पाणिना पाञ्चाशत्या बुद्ध्यासनावकृष्टं केचिद्वस्तम् ।
मुपिष्टिर. गच्छतु भवान् । अनुभवतु तपस्विनी वैसीसंहारमित्यनेन
अथ अथनम् ।

अथर्त्तं तदुपक्षेपो

मया रत्नावस्वाम् । यौगन्धरायणः । देव सम्मता यद् देवस्याग्निदेव
अर्पितं इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावली-प्राणकाम्योपक्षेपाद् अथनम् ।
मया च वैसीसंहारे । भीमः । पाञ्चाशति न अस्तु मयि बीभति संहर्तव्या
दुःशासनविमुमिता वैभिरात्मपाणिना । तिष्ठतु तिष्ठतु । स्वयमेवाशु
संहारमीत्यनेन शीपरीकेपक्षेपमनावस्योपक्षेपाद् अथनम् ।
अथ निर्णयः ।

श्रुतुतास्या बु निर्णयः ॥४६॥

मया रत्नावस्वाम् । यौगन्धरायणः । कृताञ्जलिः । देव कृतानिर्णयं
सिंहदेववरदुहिता सिद्धदेवेनोपदिष्टा बोध्या पाणि प्रहीष्यति च दाप-
यौनो राजा प्रविष्यति । तत्प्रत्यवाहस्मानि स्वाभ्यर्षे बहुषः प्रार्थ्यमानाग्रि
सिंहदेवरक्षेण देव्या वासववत्तायादित्तवेहं पण्डित्या मया न वत्ता तदा
बाविके देवी दावेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तत्रस्थिकं बाभ्रम्यः प्रहित इत्यनेन
यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं रयापितवानिति निर्णयः । मया च वैसीसंहारे ।
भीमः । देव देव ददातस्तत्रो नवाग्र्याग्रि बुधोपनहृत्कः । मया हि तत्त्व
दुपारमनः ।

श्रुती शिष्टवा दरीरे निहितमिदममृकचम्भनार्त्तं निजाये
सस्मीरार्त्तं निपिकता कतुस्वनिपयसीनया सार्धमुष्मि ।
भृत्वा निजासि योषाः कृत्तुसमक्षिर्त्तं दग्धमेतद्व्याग्नी
नार्त्तं यद् ववीषि शितिप तदधुना पार्त्तं दप्टृत्य दापम् ॥
इत्यनेन स्वानुभूताभंकनान् निर्णय इति ।
अथ परिभाषणम् ।
परिभाषा विधौ अस्याः ।

यथा रत्नावल्याम् । रत्नावली । आत्मगतम् । ^१कथावत्तद्वा देवीए
 या यन्मुखोमि मुहं दक्षिण । वासववत्ता । साकम् । पुनर्वाहू प्रसार्य । ^२एहि
 धयि निधुरे इवाली पि बन्धुसिगुहं वसेहि । यथावत् । अम्बुवत् सज्जामि
 कम् ग्रह इमिषा निरससत्तमेन ता लहं यन्मोहि से वन्द्यत् । राजा ।
 यथाऽऽह देवी बन्धनमपनयति । वासववत्ता । वसुधुति विविधम् । ^३अम्ब
 ययवयोगन्धरायसेन बुद्धमसीकम्भिह जेगु वाचलेन वि ग्रावकिरमि
 त्यनेनाऽप्यवचनत् परिभाषणम् । यथा च वलीसंहारे । जीम ।

दृष्टा देवाजिह्वा एतां सद्यः नृपशुभा सेन वृत्तासनेन ।
 इत्यादिना क्वाप्ती मावुपती नीपहसति पावकवदायनिरवन्तेन वाचलात्
 परिचापणम् ।

अथ वसावः ।

वसावः वसुवासनम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । देव कम्पसावित्वादि वसितम् । यथा च वेली
 लंहारे । जीम । श्रौतलीगुमृत् । देवि पाञ्चालराजतनये शिष्टया वर्जते
 निष्कुनययेनेत्यनेन इतिषा जीमसेनेनाऽऽपवित्वात् प्रसाव इति ।

यथाऽऽजम्बः ।

आजम्बो वाग्मिस्तवापि

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । यथाऽऽह देवी । रत्नावली वृत्ताति ।
 यथा च वेलीसंहारे । जीमरी । ^१आय विनुमरिषिह एव वाबारं वाचस्त
 वसावन् वृत्ती निविचरन् । वेद्यान् वम्पानि । इत्याम्वा वापितरत्नावली
 प्राणिकेयसवयनयोर्नस्तत्तद्वीर्यीम्या प्राप्त्वावागन्तः ।

अथ उपमयः ।

१ कृतापराधा देव्या न शक्नोमि मुञ्च वर्जयिष्यम् ।

२. एहि धयि निधुरे इवानोजि बन्धुस्नेहं वर्जय । धार्यपुत्र मये
 एत ग्रहमनेन मूर्तासत्तमेन तत्तत्तु ययवयोगन्धरायस्या वन्दनम् ।

३ धार्यं यथात्ययोवन्दरायपन बुद्धमीहृतास्ति येन वाचतामि वाच
 सितमिति ।

समयो दुःखनिर्गमः ॥४७॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता । रत्नावलीमालिङ्गम् । ^१समस्सस
समस्सस बहिर्णिप इत्यनेन भविष्योर्योग्यसमागमेन दुःखनिर्गमात् समय ।
यथा च बैष्णोसंहारे । भगवन् कृतस्तस्य विजयादन्यद् धर्म्य भगवान्
पुराण-मुखा स्वयमेव नारायणा मयसाध्याशास्ते ।

कृतपुष्पमहर्षादिशोभसम्भूतमूर्ति

गुणिमनुदयभासस्वानहेतु प्रजानाम् ।

अत्रममरमभिनयं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां

भवति जगति दुःखी किं पुनर्बन्ध दृष्टवा ॥

इत्यनेन मुनिष्ठिरदुःखापमर्षं वर्णयति ।

अथ इति ।

इतिर्लब्धार्थसमर्प

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । को वैष्णो प्रसादं न बहु मन्यते । वासव
दत्ता । ^१अजमलत दूरे से मादुर्जनं ता तथा करेणु जवा बन्धु अर्प न
सुमरेवीत्यन्धोन्यबन्धसा मन्त्राणां रत्नावल्यां राज्ञः सुप्तिपट्ये उपशमनात्
इतिरिति । यथा च बैष्णोसंहारे । कृष्ण । एते क्षमु भगवन्तो भ्यासवात्सी-
कीत्यादिनाऽभिपेक्षमागम्यबन्धस्तिष्ठन्तीत्यनेन प्राप्तराग्यस्याभिपेक्षमङ्गलै-
स्त्विरीकरणं इति ।

अथ मापमम् ।

मानाशाप्तिह्व भावणम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । अतःपरमपि प्रियमस्ति ।

मातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तयमुर्वीतमे

सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतु प्रिया ।

१ समाश्रयतिहि समाश्रयतिहि भविष्यति इति ।

२ आर्प्यपुत्र दूरे धारया मादुर्जनं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न
स्मरति ।

देवी प्रीतिमुपायता च भविमीत्याभाङ् विता कोसला
किं वाञ्छति स्वयि सत्यमात्मवृषभे यस्यै करोमि स्पृहाम् ॥

इत्यनेन कामार्थमात्राद्विज्ञायाद् भाष्यमिति ।

यत्र पूर्वभाषोपगृह्यते ।

कार्यदृष्ट्यः ० ० चपूह्यते ।

इति । कार्यदृष्टं पूर्वभाव । यथा रत्नावस्थाम् । यौगन्धरायणः । एवं
विज्ञाय भविष्या सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासववत्ता । 'एवं
उक्ते किं ए भलेति पत्रिषाण्डि स रथवत्तात्तं ति इत्यनेन वत्सराज्याय
रत्नावती दीपतामिति कार्यस्य यौगन्धरायणाधिप्रायानुप्रविष्टस्य वास
वत्ताया वत्तमाद् पूर्वमात्र इति । अद्भुतप्राप्तिरनुगृह्यन् । यथा वशी
संहारे । नेत्रभ्ये । महासमरानमन्त्रयतेपाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

शोभाश्वैर्यस्य मोक्षान् अतनयपतिभि पाण्डुपुत्रे हतामि

प्रत्याशं मुक्तकेयान्पुनरिभयमुना पार्श्विवात् पुण्ड्रि ।

कुल्याया कल्पया नुमितममसतो वृषभेव कुल्या

दिष्टया बद्ध प्रजाना विरमातु निभन स्वस्ति राजन्यकेभ्य ॥

मुचिष्ठितः । देवि एष ते पूर्वभाषा संहारोऽभिप्रेतः । नवस्तलवारिणा
तिष्ठन्नेनेवतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरनुगृह्यन्मिति । अस्यार्थसमवात् इतिरपि
भवति ।

यत्र काम्यसंहारः ।

वराप्तिः काम्यसंहारः

इति । यथा । किं ते वृक्ष प्रियन्ता इगेरी'नेन काम्या संहारणाद् काम्य
संहार इति ।

यत्र भवस्ति ।

प्रसक्तिः शुभप्रसन्नम् ॥४८॥

इति । यथा वशीसंहारे । प्रीयतग्वेद् भवान् तदिरमेवमरान् ।

१. अद्भुतमेव किं च भवति प्रतिपादयार्थे रत्नमात्रमिति ।

महपणमति कामं धीम्यान् जनं पुष्पामुयं
मवतु मववन् भक्तिद्वैतं विना पुरपोत्तमे ।
कनितमुवनो विद्वद्भन्मुर्गुणेषु विसेषवित्
सततसुहृदी भूमाद् भूपः प्रसाधितमण्डल ॥

इति सुमसंसनात् प्रसस्तिः ।

इत्येतानि चतुर्दश निर्बहणाङ्गानि ।

एव चतुःपद्व्यङ्ग्यसमन्विता पञ्चसम्यक् प्रतिपादिता ।

पदप्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह ।

अस्ताङ्गानां प्रयोजनम् ।

इति । कानि पुनस्तानि पदप्रयोजनानि ।

इष्टत्वा० • • • • • ॥४६॥

इति । विवक्षितार्थनिश्चयनं गोप्याद्ययोपमं प्रकाश्यापप्रकाशनमभिनेयरास-
कृदिरचमत्कारित्वं च काव्यस्थितिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गं पदप्रयोजनानि
मम्याद्यस्त इति ।

पुनर्वस्तुविभागमाह ।

द्वेषा० • • • • • ॥४७॥

इति । कीदृक् सूक्ष्म कीदृक् बुद्ध्यमम्यमित्याह ।

मीरघो० • • • • • ॥४८॥

इति सूक्ष्म्य प्रतिपादनप्रकारमाह ।

अर्थोप० • • • • • ॥४९॥

इति । तत्र विच्छिन्नम् ।

वृत्तवर्ति० • • • • • ॥५०॥

इति । अतीतानां भाविना च कथावयवानां ज्ञापनी मध्यमेन मध्यमाभ्यां
वा पात्राभ्यां प्रयोविता विच्छिन्नम्क इति ।

स विविचः सुखं सङ्कीर्णमित्याह ।

एका० • • • • • ॥५१॥

इति । एतेन द्वाभ्यां च मध्यमपात्राभ्यां सुखो भवति । मध्यमाभ्यां

पान्तेषु मप्य प्रयोचितं सङ्कीर्ण इति ।

अथ प्रवेष्टकः ।

तद्देवाः ० ० सुचका ॥३५॥

तद्देवेति मृतमविष्यत्समापकत्वमतिरिच्यते । अनुदात्ताक्तया नीचेन
मीर्ष्या पान्ते प्रयोचित इति बिष्कम्भतललापवात् । अङ्गुष्ठमस्याग्रे
इति प्रथमाङ्गु प्रतिषेध इति ।

अथ चूमिका ।

अन्तर्ध्वनिना ० ० सुचना ।

नेपथ्यपान्तेणाञ्जन्मन चूमिका । यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्गुस्माञ्ज्वा ।
नपथ्ये । स्वागतं तपाधनाया । तत् प्रविशति तपोधना इति । नेपथ्य
पान्तेण वासन्तिभ्या पान्तेवीचुचनान् चूमिका । यथा वा वीरचरिते
चतुर्थाङ्गुस्माञ्ज्वा । नेपथ्ये । नो नो वीरानिना प्रवर्त्यन्ता प्रवर्त्यन्ता
मङ्गलानि ।

कुर्यात्स्वान्तेवासी भवति भगवान् कौशिकमुनि

सहस्रांघोर्षे भगति विजयि राजमनुजा ।

विनेता समारेजं नमयमानस्तत्परः

घरप्यो लोकां नो दिनकरकुमेन्मुविजयते ॥

इत्यत्र नेपथ्यपान्तेर्देवै रानेण परमुरामो विव न्ति सुचना चूमिका ।

अथाङ्गुस्त्वम् ।

अङ्गुना ० ० अर्थसुचनात् ॥३६॥

अङ्गुस्ते एव पान्तेमङ्गुस्त्वम् तेन विरिजन्त्योत्तराङ्गुमुत्तम
सूचनं तद्देवोत्तराङ्गुस्त्वम् अङ्गुस्त्वमिति । यथा वीरचरिते द्वितीया
ङ्गुस्ते । प्रविश्य सुमन् । भगवन्ती वीरार्थविरामिनी भवत् समार्
थानाहूयत् । इतरे । नम भगवन्ती । सुमन् । महागजदण्डरत्नस्याग्र्ये ।
इतरे । तदनुतोयात् सर्वत्र मञ्जाम इत्यसमाप्ती । तत् प्रविशन्त्युपविष्टा
वसिष्ठविरामिनीपद्मपुत्राया इत्यत्र पूर्वाङ्गुस्त्वम् एव प्रविष्टेन सुमन्पान्तेण
पान्तेमङ्गुस्त्वम् अङ्गुस्त्वम् अङ्गुस्त्वम् अङ्गुस्त्वम् अङ्गुस्त्वम् अङ्गुस्त्वम् ।

धमाऽङ्गावतारः ।

धमा० प्रवशायेत् ॥२६॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण श्रुतमेव पूर्वाङ्गाविच्छिन्नान्तर्गतधमाऽङ्गान्तरमा
पठति प्रवेशकविच्छिन्नकाविच्छिन्नं सोऽङ्गावतारः । यथा भातबिक्काभि
नित्र प्रथमाङ्गावतारे । विच्छिन्नकः । तेन हि कुवेभि देवीए वेक्कावेहं
गदुप सङ्कीर्तकभरणं करिष्य तत्त्वमवतो दूतं विसृज्येव । यमवा मुवङ्ग
सहो वज्रव गुं उत्पावविस्मदीत्युपक्रमे मुवङ्गधम्यधमणावतारं सर्वाप्येव
पात्राणि प्रथमाङ्गप्रत्यन्तपात्रसङ्क्रान्तिवर्धनं द्वितीयाङ्गावतारमन्त इति ।
प्रथमाङ्गाविच्छिन्नेदेनैव द्वितीयाङ्गस्यावतारमाङ्गावतार इति ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह ।

भाव्य० विवेच्यते ।

येन प्रकारेण नैवं तदाह ।

सर्वेवा भाव्यमभाष्यमेव च ॥२७॥

तत्र ।

सर्वभाष्यं स्वयत्तं मतम् ।

निति । सर्वभाष्यं यद् वस्तु तत् प्रकारमित्युच्यते । यद् तु सवस्याभाष्य
तन् स्वगतमितिशब्दाभिधेयम् ।

नियतभाष्यमाह ।

द्विधाऽप्यन्तर्गतव्यवहारितम् ॥२८॥

निति । अन्तर्गतं तु नियतभाष्यं द्विप्रकारं अमान्तिकापवारित भवेन ।

नत्र अमान्तिकमाह ।

त्रिपताकाकरेणा० तत्रअमान्तिकम् ॥

इति । यत्र न भाष्यं तस्याऽन्तर ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलं अमान्तिकविपता-
कामकार्यं करं कृत्वाऽप्यमं गृह्य यम् गम्यते तत्रअमान्तिकमिति ।

१ तेन हि द्वावपि देव्या प्रवशायेहं परवा सङ्कीर्तकोपकरणं कृत्वा
तत्रमवतो दूतं विसृज्यते । यमवा मुवङ्गधम्य एवैतन्मुत्पापयिष्यति ।

अवाप्त्यकारितम् ।

एहस्य परावृत्त्याप्रकारितम् ॥५२॥

परावृत्त्याप्रत्यय एहस्यकथनमपकारितमिति ।

नादमयमप्रसङ्गादाकाशमापितमाह ।

किं वक्षीष्ये० ० आवितम् ॥५३॥

इति । स्वप्नार्कः ।

अस्यामपि नादमयमर्माणं प्रथमप्रपादीनि कैश्चिदुदाहरणानि ।
तेषामकारणीयत्वात् नायमाकाशसिद्धिर्ना केवाप्यत्र देशभावात्तन्मात्रम्
नादमयमन्तामात्रम् अथ नोक्तमित्युपपन्नमिति ।

हत्वाद्० ० प्रपञ्चम् ॥५४॥

इति । अस्तुविमेषद्वारा अस्तु कर्तुमीय तस्य विभेदद्वारा नाममेषा ।
सामान्यादि बहुलकथा य गुणाद्वयमिति विषयस्य प्राप्तोच्यते । तदनु
पपन्नमिति । निति । तेषां अद्वयमानुसारात् रसाद्वयतेषामानुसारात् विना
विभेदस्य कथामानुसारात् । आकाशं यानि वक्ष्यामि तेषां प्रपञ्चं
विस्तारं धामूयते अत्रुच्यते । तत्र बहुलकथामुक्तं गुणराशेर्वास्तव्यं
नाम्ना तेषामवच्छेदमगृहीत्वा कृत्वा विनाशं सहसा संपन्नो निहन्ता नृप ।

यो बालमयस्य सप पूर्वमग्रमुत्पन्नम् ।

अत्रपुनः कृतो यत्रा वास्तव्यं नहीयता ॥

इति बहुलकथायां सूचितं धीयमायवास्तव्यं यत्रादि अयम् । इति
धीविष्णुसूक्तोक्तं इति वक्ष्यमाणमात्रे प्रथमप्रकाशं समाप्तम् ।

द्वितीयः प्रकाशः

स्मरणाग्नौ न्योस्य भेदसिद्धये वस्तुमेवं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः
प्रतिपाद्यते ।

नेता० ०धुवा ॥१॥

कुण्डपुरसाहस्रम्० यार्तिभक्तः ।

नेता नामको विनयाविगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतः । यथा बीरचरिते ।

यद् वद्व्यादिभिस्पासितवन्त्यपादे

विद्यातपोव्रतनिधी तपतां वरिष्ठः ।

दैवात् कृतस्त्वयि मया विनयापचार

एतन् प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्तुते ॥

मधुरः प्रियदर्शनः । यथा तर्पणः ।

राम राम मयनामिरामताम्

माद्ययस्य सवृषीं समुद्रहृत् ।

अप्रतर्क्यमुग्ररामलीलिकः

सर्वमेव हृदयान्नमोऽस्ति मे ॥

रमांगी सर्वस्वदायकः । यथा ।

स्वर्चं कर्तुं क्षिप्रिर्मांसं धीर्बं धीमूतबाह्वन् ।

यदी बधीषिरस्योनि नाञ्जस्यमेव महाम्मनाम् ॥

यस्य क्षिप्रकारी । यथा बीरचरिते ।

रफूत्रं ह्यसहस्रनिमित्तमिव प्रादुर्भवत्यप्रतो

रामस्य विपुलायुधैर्दिक्षिपदां तेजामिच्छिं घ्नू ।

धुण्डारः कसमेन यद्वदन्त वन्तेम दोर्बकडक

तस्मिन्नाहित एव गजितपुणं नष्ट न मयं न तत् ।

प्रियंवदः प्रियमायी । यथा तत्र च ।

उत्पत्तिर्जगद्विहितः स ममवान् वैवः पिमाधी गुह
 र्बर्हि यत् तु न तद् गिरं पवि मयु म्भक्तं हि तत् नर्मभिः ।
 एवाचः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्म्याजिहानाबधि
 सत्यब्रह्मपौनिनेमेगवतः किंवा न सोतोत्तरम् ॥

रक्तशोकः । यथा तत्रैव ।

मय्यास्त्राता यस्तवायं तनुव
 स्तनाञ्छीव स्वाधिनस्ते प्रसाधात् ।
 राजम्बत्पो रामभद्रेण राज्ञा
 लम्बद्योमा पूरणकामास्त्रयम् ।

एवं धीवादिप्युवाह्वार्यम् । [तत्र धीवः नाम यतोर्नैर्मस्यादिना
 कामाद्यनभिपूतत्वम् । यथा रथी ।

का त्वं धुमे कस्य परिग्रहो वा
 किंवा मदम्पागमकारणं ते ।
 व्याचरन् मत्वा बहिर्ना रघूणा
 मम परस्त्रीभिर्भुसप्रवृत्तिः ॥

बाह्वी । यथा हनुमन्नाटकः ।

बाह्वीवम न विहितं न च वार्मुकम्
 नैदम्बकस्य तनिमा तत एव दोषः ।
 तत् चापतं परपुराम मम क्षमस्व
 हिम्नस्व दुर्विषयितानि मुदे मुक्कग्याम् ॥

रुद्रबर्गो यथा ।

ये बरबारो दिनकरकुलप्रसन्तानमस्मी
 मात्राभ्यामस्तवकमपुषा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
 रामातेपामचरमभवस्तादृकाकालरात्रि
 प्रत्युपोऽयं मुक्कितकचाकमनीभूतकण्डः ॥]

स्विरो वाङ्मन-विष्यामिरञ्जयत् । यथा नीरञ्जितः ।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पुण्यानां यो व्यतिष्ठमात् ।

न त्वेवदूषयिष्यामि धस्त्रप्रहमहाव्रतम् ॥

यथा वा मृदुहरिणतके ।

प्रारभ्यते न यत्तु विघ्नमयेन नीचं

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।

विघ्ने पुन पुनरपि प्रतिहयमाना

प्रारभ्यमुत्तमगुणास्त्वमिबोद्धृष्टि ॥

पुत्रा प्रतिष्ठा । कुडिर्जानम् । गृहीतविषयकरी तु प्रज्ञा । यथा मास
विक्रान्तिमित्रे ।

यद् यद् प्रयोषविषये चाधिकमुपदिश्यते यथा तस्यै ।

तद् तद् विद्येयवरणात् प्राप्नुपदिष्टीय मे वासा ॥

स्वप्नमग्यम् ।

मेतुविद्येयानाह ।

मेतुविद्येयानाह ससितसाम्प्रदायसोद्धतेरयम् ॥१॥

यथोक्तं मध्याह्नाह ।

निश्चितो मुनी मृदु ।

सचिवादिनिर्दिष्टयोगसमत्वात् चिन्तारहितः । यतएव गीतात्मिका
विष्टा मोषप्रवणत्वं गृह्णात्यप्रमानत्वात् च मुहुमास्त्वत्वाचारो मृदुरिति
समितः । यथा रत्नावस्थाम् ।

राज्यं निजितरात्रु योम्यसचिने म्यस्तं समस्तो मर-

यम्यरूपाननसामिता प्रद्यमितापोपसर्गा प्रज्ञा ।

प्रद्यातम्य मुना वगस्तसमयस्त्वं चति नाभ्या मृति

काम- काममुपैत्यं यम पुनर्मये महामुत्सवः ।

यय दातः ।

सामाग्यगुणः द्विजादिकः ॥१॥

विनयादिनेतृसामाग्यगुणयोगी योग्यान्तो द्विजादिक इति निम्नवर्तिह

मविवादीनां प्रकरणजेतुभामुपलम्भम् । विवदितं चैतत् । तेन मैत्रिस्त्या-
दिगुणसम्भवेऽपि विवादीनां शान्तर्तव्यं न भासितम् । यथा मानसीमावय
मृच्छट्टिकाशो मावयन्नादयतावि ।

तत उदयपिरेरिबेक एव
स्फुटितगुणघटिमुत्तर कलाभाम् ।
इह भगतिं महोत्सवस्य हेतु
नयनकठानुविषाद बाधनम् ॥

इत्यादि । मया वा ।

महोत्सवपरिपुर्ण गोबभुवुभासितं यत्
सदसि निविष्टमैत्यवहावोप पुरस्तात् ।
मम निघनदराद्य बर्तमानस्य पार्श्वे
स्तवसंबुधमनुप्येबुप्येते बोधलाभाम् ॥

अथ धीरोदात्त ।

महासहस्रं धीरोदात्तो वृद्धवत् ॥४॥

महासहस्रं धाककोवाचनविमूढात् सत्यं । धर्मिकत्वनोऽज्ञातम्
स्साधनं । निमृच्छाङ्कुरो भिनयच्छन्नावलेपं वृद्धवतो ज्जीवितनिर्वाहक
धीरोदात्त । मया नावान्धे । जीमूतबाहुम् ।

विद्यमानो रस्यत एव रस्यम्
यथाऽपि देहं मम मांसमस्ति ।
तुष्टिं न पद्यामि तर्कं तावत्
किं मद्यगान् त्वं विरतो गरमम् ॥

मया च त्वं प्रति ।

आहुतस्याऽभिपेक्षाय विमृष्टस्य वनाय च ।

न मया भवितव्यस्य स्वस्याऽप्याकारविभ्रमः ।

यच्च केपाङ्गिन् सर्वैर्वादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषतस्तत् कवचिन्
सन्धीर्न तत्तथा तत्तथाऽपि प्रतिपादयार्थम् । ननु च क्व जीमूत
बाह्यादिनिगान्ताबाहुस्त इत्युच्यते । धीरात्वं हि नाम तत्त्वोत्कर्षतः

कृति । तच्च न विविधीपुन्य एवोपपद्यते । जीमूतबाह्वस्तु निजिगीपुतयम
कविना प्रतिपादित । यथा ।

तिष्ठन् भात्रि पितुः पुरा भुवि यथा सिद्धासन किं तथा
यन् संवाहयत् सुखं हि चरन्तो तातस्य किं राग्यत ।
किं मुक्ते मुबनत्रये भूतिरसौ मुक्तोऽभिभवे या गुरो
रायास यमु राग्यमुन्मिस्तगुरोस्त्वन् नाऽस्ति कदिचद् मुग्धा ॥

इत्यनेन ।

पित्रोर्विधानु सुख्युपां तदन्तर्वैश्वस्य प्रमायतम् ।

वन याम्यहमप्यय यथा जीमूतबाह्वन् ॥

इत्यनेन च । अतोऽस्याऽव्यस्तस्यमप्रधानान् पुरमकादग्निकृत्वा च बीत-
राग्यन् दान्ता । अयच् भात्राऽपुनर्त यत् तथामुत राग्यमुवाचो
निरभिनाप नायकमुपावासाऽन्तरं तथामुतमसयवत्तनुरायावदुदम् । यच्
चोत्तं सामान्यमुपयोनी द्विजादिर्भीरयान्त इति । तदपि पारिमापिक-
त्वादवास्तवमित्येवमकम् । अत्रा वस्तुस्थित्या वृत्तमुपिष्ठिरजीमूतबाह्वनादि
म्यबहारा दान्ततामादिर्मात्रमिति । अत्रोच्यते । यद् तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण
पृतिरीशत्वमिति । न तच्च जीमूतबाह्वनादी परिणीयत । न ह्यककर्षेण
विविधीपुना य वेनाऽपि जीयस्यापययादिनाऽव्यानतिष्ठत स विविधीपुनं
य परापरायेणार्थप्रहादिप्रवृत्त । तथारथे च मामद्वयवाचरपि धीरादात-
त्वप्रसक्ति । रामावेत्येव ज्यमत्पामनीयमिति दुष्प्रतिपद प्रवृत्तस्य नान्त
रीयकत्वेन द्रुम्यादिनाम् । जीमूतबाह्वनादिस्तु प्रसर्गैरपि परावसम्पारनाद्
विरचमप्यतिरोत इत्युदात्ततम । यथोक्तम् । तिष्ठन् भात्रीत्याग्निना विषय
मुनपराद्मुन्नतति । तन् सत्यम् । कानप्यहस्तु त्वमुक्तगृध्रागु निरभि-
नापा एव विगीपयः । यदुक्तम् ।

स्वमुखनिरभिनाप विषयम लोकात्ता

प्रतिदिनमयवात कृतिरर्षिर्षिच ।

यनुवति हि मुर्धा पादपत्नीत्रमुप्य

यमपति परितानं छायापापितागाम् ॥

इत्यादिना मलयवत्पशुपागोपवर्णेन त्वसास्तरसाभये चान्तनामकतां प्रत्युत
नियेषति । चान्तत्वं चाजहृकृतत्वं तच्च च विप्रादेरीचित्यप्राप्तमिति
वस्तुस्मरसा विप्रादे चान्तता न स्वपरिभाषामाभेद्य । बुद्धजीमूतबाहुन
योस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सनामनिष्कामकृत्वादिधर्मत्वाद् भव ।
अतो जीमूतबाहुनादेर्जीरोदात्तत्वमिति ।

यत्र भीरोदात्तः ।

ब्रह्मस्तत्पर्यनुपिच्छो विकल्पन ॥३॥

एवं जीरोदिमव मात्स्वर्गमसहनुता । मन्त्रवनेनाप्रियमानवस्तु-
प्रकाशनं नाया । छद्म बन्धनायाचम् । असौजवस्थित चण्डो री-
स्वमुगायंसी विकल्पन भीरोदात्तो भवति ।

यथा आमहस्यः ।

कैसासोद्धारमारुचिमुबनविजय ।

इत्यादि । यथा च रामणः ।

त्रैलोक्यस्वर्गमहमीहृद्वरुणसङ्गा बाहुवो राक्षसस्य ।

भीरुमलितादिछद्मवच मयोक्तपुण्यसमारोपितावस्थाभिधादिनो वास
वृषममहोक्तादिबन्धु न आत्मा कश्चिदवस्थितकरो समित्तादिरस्ति । तथा
हि महाकविप्रबन्धु विद्वानेककृपाभिमानमशुक्तमेव त्याज्य आतेरन
पादिरयान् । तथा च मन्त्रभूतिनैक एव आमहस्यः ।

ब्राह्मणातिवमत्त्वानो भवतामेव भूतये ।

आमहस्यस्य चो मित्रमम्यथा दुर्मनामने ॥

इत्यादिना रामस्य प्रति भीरोदात्तत्वेन कैसासाधारणारोप्यादिभिद्वच
रामादीन् प्रति प्रथमं भीरोदात्तत्वेन पुनः पुन्या ब्राह्मणव्यतिरिक्त्यादिभिद्वच
भीरुदात्तत्वेनोपनिगता । न चाजस्वास्त्यभिधानमनुचितमङ्गभूतनाय
काना नामकान्तरवैयया महापत्न्यादेरव्यवस्थितत्वावहितस्तु रामादेरेक
प्रबन्धोक्तान् प्रत्यङ्गपत्न्याचारम्योपात्तावस्थातोऽवस्थाप्यारोपादानमन्या-
यम् । यथादात्तत्वाभिधानस्य रामस्य छयना बालिबयाचमहासरवथया
रवावस्थापरित्याग इति । अन्यमागतां च बधिराद्यवस्थानां पुनो प्रत्यय

याहूत इति मित्यसापेक्षत्वेनाऽऽविर्भावानुपात्तावस्थातोऽस्यागतराभिधान
मङ्गादिनोत्पत्त्यवच्छिन्नम् ।

अथ शृङ्गारनेत्रवस्था ।

स बलितः "हृत" ।

मायकप्रकरणात् पूर्वा मायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽप्यहूतचित्त-
स्यवस्थो वदयमाणमेवेन स चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं
चतुरवस्थस्यैव बोधराया मायकः ।

तत्र ।

बलितोऽस्मां सहस्रव-

योऽस्मां ज्येष्ठायो हृदयेन सह व्यबहृष्टि न बक्षिणः । यथा ममयः ।

प्रसीदत्पामोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो

रतिक्लेश कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य दिनम् ।

सविश्रम्भः कश्चित् कथयति च विस्मिन् परिजना

न चाऽहं प्रायेमि प्रियसखि किमप्यस्य विवृतिम् ॥

यथा वा ।

उचितः प्रणयो वरं विहस्युं

बहुवः सङ्गमहेतवो हि वृष्टाः ।

उपचारविधिर्मनस्विनीनां

ननु पूर्वोक्तमपि कोऽपि भावयुज्यः ॥

अथ गद्यः ।

शुद्धविश्रमकृच्छ्रः ।

बलितस्याऽत्र नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियवारिबाविरोधेऽपि
सहस्रपात्रेण गद्यद् विधेयः । यथा ।

पद्यस्यस्या वाञ्छीमभिरहितमाकर्ष्य सहसा

यथाऽदिसप्यमैव प्रसिद्धिभङ्गप्रगिरमवः ।

तदेतत् वचाऽऽचर्य पृतमपुमपराबहुवचो

विषेयाऽऽपूर्णांती किमपि न सखी मे मणयति ।

मय वृष्टः ।

ध्वजताङ्गवैभूतो ध्वजो

यथाऽप्रदधतके ।

याद्यालदम लम्पाटपट्टमभित केनूरमुद्रा बले

वरमे कञ्जलकाभिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽशरः ।

वृष्ट्वा कोपविबाधिमध्वनमिदं प्रातर्बिचरं प्रेयसी

सीतातामरसोदरे मृगवृक्ष इवासा समान्ति बता ॥

त्रिशास्तरमाह ।

शुक्लसस्त्रेकनायिक ॥६॥

यथा ।

छट्टित मुद्रवृक्षयोगनुमत् सर्वास्त्रवस्थामु यद्

विधामो हृदयस्य यत्र वरसा यस्मिन्नाहार्यो रसः ।

कामेनाऽऽवृणोत्ययात् परिणते बन् स्नेहसारे स्थितं

भद्रं तस्य मुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

किमवस्था पुनरेषा वत्सरानादिर्नाटिकाभाषकः स्थाविरपुष्यते । पूर
मनुपजातनायिकान्तरानुरामोऽनुज । परतस्तु बलिष्ठः । मनु च दूढ
विप्रियकारित्वाद् व्यस्ततएविप्रियत्वाद् च घात्यघाट्यैऽपि कस्मान् न
भवतः । न तेषाविचविप्रियम्ब्रपि वत्सरानादयप्रबन्धसमाप्तेऽर्ज्येष्ठा नायिके
प्रति महदम्बाद् बलिष्ठतव । न चोपयोग्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायिकस्य स्नेहेन
न भवितुमिति बाध्यमविरोधात् । महाकविप्रवच्यपु च ।

स्नाता तिष्ठति कृन्तनस्वरमुता वाराऽङ्गरावस्वमु

द्युने रात्रिस्थं जिता कमलया देवी प्रतापान्त्र च ।

हरयन्तःपुरमुन्वरी प्रति मया विजया विज्यापिते

वैवेनाऽप्रतिपत्तिमूत्रमगता जिता स्थितं नाटिका ॥

यथावावरप्रपातेन सर्वनायिकानु प्रतिपत्तुपनिबन्धनात् । तथा च भट्टः ।

वपुरस्त्यागोऽपि न याति मदनस्य नाऽपि वधमेति ।

यवमानिष्ठश्च नार्था विरम्यते स तु मनेन ज्येष्ठः ॥

इत्यत्र न रायं याति न मयमस्य वज्रमेतीत्यनेनाश्याधारण एकस्यां स्मृतौ
निषिद्धो दक्षिणस्येति । यतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तिं स्थितं दक्षिण-
मिति । योऽष्टानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमस्वेनाष्टाचत्वारिंशाम् नायक-
भेदा भवन्ति ।

सहायानाह ।

पताकानायकस्त्वग्नः तद्गुणः ॥७॥

प्राप्तुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकं पीठमर्धं प्रचानेति
वृत्तनायकस्य सहायः । यथा मानसीमाधवे मकरन्द रामायणे सुप्रीवः ।

सहायास्तरेमाह ।

एकविंशो विदूषकः ।

पीठादिबिद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या बिद्याया वेदिता विट् ।
हास्यकारी विदूषकः । अस्य विद्वत्ताकारवपारित्वा हास्यकारित्वेनैव
सम्भवे । यथा खेसरको नामानन्दे विट् । विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

अथ प्रतिनायकः ।

सुख्यो व्यसनी रिपुः ॥८॥

तस्य नायकस्येत्थम्भूत प्रतिपक्षनायको भवति । यथा रामयुधिष्ठिरयोः
रावणदुर्बोधनी ।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः ।

शोभा गुणाः ॥९॥

तत्र ।

नीचे क्षीयवशाते ।

नीचे पूषा । यथा भीरवपतिः ।

उत्तामताडकोत्पातवर्धनेभ्यप्रकम्पितः ।

निमुक्तस्तत्प्रमाणाय र्हास्यं विचित्रित्युति ॥

गुणाधिकं स्वर्णं यथा ।

एतां पश्य पुरस्वामीमिह किमश्रीडाकिरातो हृत्

कोपवदनं किरीटिना सरसं ब्रूहन्तरे ताडितः ।

इत्याकर्ष्य कवाद्भुतं हिमनिभावादी सुमहापते
मेन्दं मन्दमकारि जेन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डसम् ॥

घोर्मघोमा यथा । मर्मन ।

घग्नीं स्वैरपि समताप्रचरणो मूच्छाविरामसलो
स्वाकीनवविताङ्गघस्त्रमिषितो रोमोद्गम ममयम् ।
मानानुद्धमपन् मित्रान् परबन्तान् सन्तर्जयन् निष्कुर
घग्दो घात घयधियं पृथुरवस्तम्भ पताकापते ॥

वसघोमा । यथा वीरचरिते ।

स्फुजद्वयसहस्रनिमित्तमिष प्रादुर्भवत्यघतो
रामस्य त्रिपुरास्तद्वत् विविषया लेखोमिरिष्टं यन्तु ।
मुष्कार कमलेन मद्रवचमे वस्तुन दोर्दण्डक
स्वस्मिन्माहित एव गजितगुल वृष्टं च मान च तत् ॥

अथ वितासः ।

मतिं सधैर्या सस्मितं वचः ॥१०॥

यथा ।

वृष्टिस्तुलीकृतजमलमसस्त्रसारा
धीरोद्धता ममयणीव पतिर्भरिणीम् ।
कीमारकेऽपि गिरिवद् वृक्ता वचानो
वीरो रतः क्रिमयमेत्युत हर्ष एव ॥

अथ माधुर्यम् ।

रत्नरत्नो सुमहत्त्वपि ।

महत्त्वपि विचारहेतो मधुरो विचारो माधुर्यम् । यथा ।

रपोलं ज्ञानक्या करिकलमदन्तश्चुतिमुपि
रमरस्मेरं नखोद्गुह्यमनुमर्दं वचनकमसम् ।
मुहुः पश्यन् गृह्यन् रजमिचरलेनाकलकर्म
षट्पामृदपिबिं द्रव्यपति रज्जुणां परिबुधः ॥

अथ गाम्भीर्यम् ।

पाम्नीयं मोपसहयते ॥११॥

मृदुविकारापलम्भाद् बिकारानुपसम्भिरस्यति माभुयदिस्यद् गाम्नीयंम् ।

यथा ।

आहृतस्याभिपकाय विसृज्यस्य बनाय च ।

न यथा लक्षितस्तस्य स्वस्याऽप्याकारभिन्नम् ॥

अथ स्वैर्यम् ।

व्यवसायाद् • • • • • कुलादपि ।

यथा बीजचरिते ।

प्रायदिकृतं परिध्यायि पूज्यानां चो व्यतिभवात् ।

न त्वयं रूपयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ।

अथ तेजः ।

अपिस्नेपात्तसहस्रं तेजः प्रास्तस्ययेष्यपि ॥१२॥

यथा ।

बृह मूतमृत्प्याम्बकतानां के भवमयमी ।

अद्गुलीदधानां येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥

अथ ललितम् ।

शृङ्गाराकार • • • • • ललितं मृदु ।

स्वामाविव शृङ्गारो मृदु । तयाविधा शृङ्गारवेष्टा च ललितम् ।

यथा भर्षव ।

सावध्यमम्यविमासविजृम्भितेन

स्वामाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।

किन्वा ममेव सति याऽपि ममोपवेष्टा

तस्यैव किं न विषमं विदधीत तानम् ॥

अपीदार्यम् ।

प्रियोत्तया • • • • • तदुपग्रहः ॥१३॥

प्रियवचनेन सहाऽऽनीवितावधेर्वागमौदार्यं सतामुपग्रहश्च । यथा

वायामदे ।

गिरामुक्त्वा स्मरन्त एव रसतम्
 अद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
 तृप्ति न पप्सामि तवैव तावत्
 किं यशस्यान् त्वं विग्नो मर्यामन् ॥

सदुपमहो यथा ।

एतु वयममी दाराः कस्येव कुसवीक्षितम् ।
 बून यनाय व कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥

अत्र नायिका ।

स्वाभ्यासा नायिका जिज्ञा ।

तद्वस्तुवति यथाकलसम्पदं नायकसामान्यगुणयोगिनी मामिहेति ।
 स्वस्त्री परस्त्री साधारणकृत्यायनेन विमानेन विधा ।

तत्र स्त्रीयाया विमानदर्भं नामाग्यमरणमाह ।

मुग्धा लीमार्ज्जवादिषु ॥१४॥

लीलं मुक्तम् । पतिव्रताबुद्धिना सज्जावती पृथोपचारनिपुणा
 स्त्रीया नायिका ।

तत्र दीर्घावती यथा ।

^१कुसुमाभिराण्य वेष्टह ओम्बलभाषणविभ्रमविसाया ।
 पवसन्ति च पवसि एति च विषं धरं एत ॥

आत्रवाहियोगिनी यथा ।

^२हंसधमविधारमुक्तं अनितं विरहिप्रविभासमुच्छासं ।
 अनितं सहावसरतं धराणा धरे कलत्तालं ॥

सज्जावती यथा ।

१ कुसुमाभिराण्यः प्रेतात् दीर्घावतावत्यविभ्रमविसायाः ।

प्रवसन्तीय प्रवसति आषष्टस्तोत्र विषे दुहमापते ॥

२ हंसधमविधारमुक्तं अनितं विरहिप्रविभासमुच्छासम् ।

मलितं सहावसरतं धराणा धरे कलत्तालं ॥

‘सज्जापञ्चतपसाहृष्टाई परतिष्ठिनिधिवासाई ।

अविशमदुग्मे ह्राद वणाश मरे कमताई ॥

या चैवविषा स्वीया मुग्धामध्याप्रगल्भामदात् त्रिविधा ।

तत्र ।

मुग्धा नववयः

मृदु छवि ।

प्रथमावतीगुतावप्यमम्यवारमचे ३१वतीसा सुषोपावप्रसाधना मुग्ध नायिका ।

तत्र वयोमृत्वा यथा ।

विस्तारी स्तनमार एव गमितौ न स्वीयितामुन्मति

रेतोऽप्रातिष्ठतं वसिष्ठवमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।

मध्येभ्या ऋकुरामताश्रकपिद्या रोमावली निमिता

रम्यं वीरनक्षेत्रम्यतिकरामिधं यथा वर्तते ॥

यथा च मयैव ।

उत्पद्यमानमसप्राग्तरेक्षमावद्धुमसम् ।

अपवाप्तमुरोवृद्धे एतत्तस्या स्तनद्वयम् ॥

याममुग्धा यथा ।

दृष्टिः सातसती विभति न विपुलीनामु बद्धारय

योत्रे प्रययति प्रवर्तितसपीसमोगवातस्त्वपि ।

पुंसामदुमपतयदुमबुना नाऽप्योहनि प्राप् यथा

बासा मूतनवीरमप्यतिकराऽऽत्म्यमत्ता एतैः ।

रतवामा यथा ।

ध्याहता प्रतिवचो न सग्रे

गम्मुमच्छवसम्बितानुषा ।

शेवतेस्म शायनं पराङ्मुखी

सा तयापि रतये पिनाकिम् ॥

१ सज्जापञ्चतपसावमानि परतृप्तिनिधिवासानि ।

अविशमदुग्मेति ध्यानां गृहे कमवास्ति ॥

मृदु कोले यथा ।

प्रथमवर्णिते वाता मन्वी विकारमजानती
 क्लितवर्णिते नासज्याङ्गे विनम्रमुजैव सा ।
 पिबुकमलिकं चोन्मयोर्ध्वरकुत्रिमविभ्रमा
 मयनसलिसस्यमिदं योऽर्थैकवन्त्यपि बुम्बिता ॥

एवमन्येऽपि लब्धासक्तानुरागनिबन्धना युग्माभ्यवहारा निबन्धनीया यथा ।

न मध्य संस्कारं कृतुममपि वाता विपहतं
 न निस्वाद्यै मुञ्चूर्जनयति तरङ्गम्यतिहरम् ।
 नबोद्धा पश्यन्ती भिन्नितमिव मर्तुं प्रतिमुञ्चं
 प्ररोहद्रोमाभ्या न पिबति न पार्श्वं वसयति ॥

मध्य मध्या ।

मध्योद्यता

० नुपतलपा ॥ ११ ॥

सम्प्राप्तवार्त्तकामा मोहान्तरकथोन्मा मध्या ।

तत्र वीजनवती यथा ।

वातापान् भूवितासो विरजयति मसत्राहुविमिष्टिवात ।
 नीवीघर्षि प्रविना प्रवतवति मनाङ् मध्यनिम्नो निठम्ब ।
 सत्युपत्पास्वमृच्छंरुचधिसरमुरो नूनमन्त स्मरेण
 स्मृष्टा बोद्धवकोटया हरिपशिमुदुधो वृद्धते वीजनधी ॥

कामवती यथा ।

स्मरनवनवीपुरेयोडा पुनर्गुप्तेतुमि
 मंबपि विबुतास्तिष्ठन्त्याराष्ट्रपुंयनोरवा ।
 तवपि सिधितप्रर्ष्यरर्ष्यं परस्परमुमुखा
 मयननसिनीनालाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रिया ।

मध्यासम्भोगो यथा ।

० तान् विषय रश्ममए महिमानं विष्ममा विराजन्ति ।

बाव ए नुबलमदसमच्छहाइ मज्जसेमि खपणार्इ ॥

१ तावदेव रतिजनये महिसानी विभ्रमा विराजन्ते ।

यावन्न नुबलपदसमच्छाजानि मुकुलमन्ति नयनानि ।

एव धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

- यथाश्रया मानवृत्तिः ।

धीरा सोत्प्रासव० ० पद्याक्षरम् ॥१६॥

मध्याधीरा हृतापराब्धं प्रियं सोत्प्रासवक्ष्येकतथा चेदयेत् । यथा
माये ।

न सधु बयममुप्य वानयोम्या

पिबति च पाति च याश्रकौरहस्तवाम् ।

ब्रज विटपममुं ददस्व तस्य

भवतु यतः सुदुष्टादिचराय योगः ॥

धीराधीरा साधु सोत्प्रासवक्ष्येकतथा चेदयेत् । यथा धमक्यतकः ।

बासे नाब विमुञ्च माभिनि ह्य रोषान् मया किं कृतं

बेदोऽस्मात्तु न मेऽनराध्यति भवान् सर्वेऽनराधा मयि ।

तत् किं रोदिति मय्यवेग बन्धसा कनयाऽप्रतो दधते

मन्येत्तन् मम का तणाऽस्मि बधिता नाऽस्मीत्यतो दधते ॥

धधीरा साधु पद्याक्षरम् । यथा ।

यातु यातु निमनेन तिष्ठता

मुञ्च मुञ्च सक्ति माऽऽदरं कृपा ।

कण्डिताधरकमङ्कितं प्रिय

शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥

एकमपरेऽपि धीवानुपहिता स्वयमभिमियोगकारिणो मध्याध्यवहारा
भवन्ति । यथा ।

स्वेवाम्मवशिष्टाश्चित्तेऽपि बन्धे जातेऽपि रोमोद्गम

विमग्नेऽपि गुरौ पयोधरमरोत्कम्पेऽपि वृद्धि यतः ।

दुपारम्भरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाऽस्मिन्मुक्तः प्रिय

स्तम्भकृपा हृदकेऽर्पणपनास्तेषामृते मुञ्चया ॥

एततोऽभियोगवत्त्वं हृदकेऽर्पणपनास्तेषामृते मुञ्चयेत्सुप्तेषा
प्रतीतः ।

अथ प्रथमा ।

यौवनान्या रतारम्भेऽप्यचेतना ॥१७॥

यादयोदया । यथा ममय ।

अमुन्नतस्तनुरो मयमे व वीचं

बद्ध भुवावतिष्ठत बचन ततोऽपि ।

मध्योऽधिकं तनुरतीवदुर्गतिम्बो

मन्त्रा यति किमपि चाद्रुमुतबोधनाया ॥

यथा च ।

स्वनतटमिवमुत्तुङ्ग निम्नो मध्य समुत्तमं बधनम्

विपमे मृगमावाहया वपुनि नवे क इव न स्वसति ॥

भाष्यप्रणामा यथा ।

न जाने सम्मुखायाते प्रियारिष बहति प्रिये ।

सर्वाभ्यन्तानि किं यान्ति नेषतामुत कर्णताम् ॥

रतप्रथमा यथा ।

बान्ते तस्यमुपागते विममिता नीची स्वय बन्धनात्

बास प्रस्तपमेवमानुणमुत किञ्चिन् नितम्बे स्थितम् ।

एतावन् सति वेपि केवममह तस्यान्तमङ्गे पुन

कोऽप्यौ वाऽस्मि रत नु किं कथमिति स्वप्नार्थि मे न स्मृति ॥

एवमन्येऽपि परित्यक्तहृदीपग्न्याविवर्धयन्नाया प्रथमाभ्यवहारा

वैदित्या । यथा ।

बहविद् ताम्बूनायत बहविदमवरन्तादुमसिता

बहविद्बुद्धौदुपाटी बहविरपि च सागरतनयव ।

बसीमद्भाषोदीरणकपतिर्न दीर्गबुधुर्मु

स्थिया सर्वावस्व कथयति रतं प्रचङ्कदपटः ॥

अथात्रया बोधयेष्टा ।

सार्धहृत्वावरोदासी तं बहेत् ।

महा-वहिर्येनाऽऽतारमवरणेनाऽऽरसु चापचागधिरयन बर्तेत या

सावहित्वादेन । यथाशुषासीमा कृपा कोपेन भवति ।

सायद्विद्यादयः । यथाऽन्यथातके ।

एकमाऽऽनसस्विति. परिहृता प्रत्युद्यमाद् दूरत
स्थान्मुमाहरणमेव रमसाऽऽनेतोऽपि संविधितः ।
आसापोऽपि न मिधितः परिणमं व्यापार्यन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतत्त्वतया नोप कृतार्थीहृतः ॥

एतावदासीना यथा ।

प्रायस्ता कमहं पुत्रं कुर्वन् न सखने वाससो
 भग्नभूगतिस्तस्य धनानमयवर्त्तते न केष्वह ।
 अज्ञात्पयंयति स्वयं भवति नो वामा हठाभिङ्गने
 तन्वया शिखित एष सम्प्रति कृत कोपप्रकारोऽयम् ॥

इतरास्त्वभीरप्रगन्मा ब्रूयिता सति सन्तर्ज्यं ताडयति । यथाऽमरुतके ।

कोपाद् कोमलमोमबाहुसतिष्ठापानेन बद्धा दृढं
 नीत्वा कनिनिकेतनं वसितया सायं सलीमां पुरः ।
 मूमोज्येवमिति स्रजस्तनूगिरा समूच्य दुरुधेष्टित
 धन्यो हृष्यत एव निष्कृतिपटः प्रयान् वदन्त्या हस्तम् ॥

धीरायुः प्रगल्भा माय्याभीरेव तं वदति सत्प्राप्तवशोक्त्या । यथा
तत्रैव ।

बीषो यम भ्रूभृच्छिषना निग्रहो यत्र भीमं
 मयाऽभ्योग्यस्मितप्रभुनयो वृष्टिपात प्रसादः ।
 तस्य प्रभुस्तद्विषमभुना विषम पश्य जात
 त्वं पादार्थं कृत्सि न म म मभ्युमासः रत्नाया ॥

पुनरुत्थ

इषा वसिष्ठ

॥ इति ॥ ॥ १८ ॥

मध्याप्रमत्तमाभराना प्रत्यक्ष ज्येष्ठानिष्टात्समेतेन द्वात्रिंश भेदा
भवन्ति । मुग्धा स्वप्नपत्र । ज्येष्ठानिष्टे । यथाप्रसूतकः ।

पुष्ट्येकाहमसम्भिते प्रियतमे पदबाहुपेस्याऽऽवराद्
एकस्या मयने निमीत्य विहितत्रीङ्गानुबन्धच्छसः ।
ईषद्विभक्तकम्बरः सपुमकः प्रेमोक्तसम्मानसाम्
अन्तर्हसिसत्कपोलफमकां वृत्तोजरं चुम्बति ॥

न बाजयोर्दक्षिण्यप्रेमम्यामेव व्यवहारः । अपितु प्रेम्णाऽपि । यथा
अतद् तपोस्तं दक्षिणमध्यावसरे । (एषा च क्षीरमध्याक्षीरमध्याक्षीर-
क्षीरमध्याक्षीरप्रगल्भाक्षीरप्रगल्भाक्षीरक्षीरप्रमृगान्नेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठा
कनिष्ठाभेदाद् द्वावजानां वासवदत्तारत्नावलीवद् प्रबन्धनादिकानामुदा-
हरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसर्तव्यानि ।)

अथाऽन्यस्त्री ।

अन्यस्त्री कर्पावद्गान्धिसंभवम् ॥१६॥

नायकान्तरमन्बन्धिनी अन्योदा । यथा ।

दृष्टिं हे प्रतिबेदिनि शण्मिहाप्यस्मिन् गृहे वास्यसि
प्रावेणाग्र्य द्विषी पिता न विरसा क्षीरीरप वास्वति ।
एकाकिन्यपि मामि तद् वरमिव नोनस्तमासाकुलं
नीरप्रस्तनुमासिक्कानु धरठश्चिराननम्वय ॥

इयं स्वद्विनि प्रदाने रते न कश्चिन् निबन्धनीयति न प्रपञ्चिता ।
अन्यथा तु विवाहापनरशावपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते । तस्यां विवा-
हिम्बोलम्बमानाया सुममामापि परोपरोपस्वजान्दानवात् प्रच्छन्नं
कामित्वं प्रवर्तते । यथा मातस्य माघवस्य सायनिकाया च वरस्यवस्येति ।
तदनुरागश्च उच्यते यथा यथाप्रधानमममाधयो निबन्धनीयः । यथा
रत्नावलीनामान्गो नागरिकामतयवत्पनुराव इति ।

साधारणस्त्री ० प्रागल्भ्यव्रीत्यपुत्र

तडपवहाते विष्णुरा दास्यमान्दरे निशगितः । विद्मार्जं तु ।

एतन्मम ० अष्टकान् ॥२०॥

रक्तेव ० माभावितासयेत् ।

छन्नं य कामयन्ते ते छन्नकामा भोषियन्नणिकसिद्धिप्रभृतयः ।
मुसार्थोऽप्रवासावाप्यजनः सुखप्रयोजनो वा । भक्षो मूर्खः । स्वतः वा
निरङ्कुशः । ग्रहपुरुषद्वयः । पञ्चको वासपञ्चादिः । एतान् बहुविधान्
रक्तेष्व रज्ज्वेदेष्वर्चिम् । तत्प्रमाणत्वात् तद्वत्तः । गृहीतार्थम् मृदुन्मात्रिना
निष्कासयत् पुनः प्रतिसम्मानाय । इदं तासामौत्सर्गिक वपम् ।

रूपकेषु तु ।

रक्तैव विध्यनुपाचये ॥२१॥

ग्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैर्वैषा विधेयाः । यथा मृच्छकटिकायां
वसन्तसेना चादवसस्म । ग्रहसने त्वरक्ताऽपि ह्यस्महेतुत्वात् । नाटकादौ तु
विध्यनुपनामके नैव विधया ।

अथ भवान्तराणि ।

भासात्मना० पतिकादिकाः ।

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहात्कण्डिता कण्डिता कमहान्तरिता
विप्रलम्बा प्रोपितप्रियाऽभिसारिकेश्यप्ती स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्था ।
नामिकाप्रभृतीनामप्यवस्थाकपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्व
प्रतिपादनायाऽन्तर्विधिः श्रुताधिकम्यवच्छेदः । न च वासकसज्जादेः स्वाधी
नपतिकाशब्दोन्तर्भावः । अनासम्प्रियत्वाद् वासकसज्जाया न स्वाधीनपति
कारकम् । यदि चैष्यतिप्रियाऽपि स्वाधीनपतिका प्रोपितप्रियाऽपि न पृथग्
वाच्या । न वेयता व्यवधानेनाऽन्तरित्वं नियन्तुं शक्यम् । न चाऽन्विदित
प्रियम्यसीकामा कण्डितात्वं नाऽपि प्रवृत्तरतिभोगेच्छाया प्रोपितप्रियात्वं
स्वयमगमनान् नामकं प्रत्यप्रयोजकत्वान् नाऽभिसारिकात्वम् । एवमुक्त
कण्डिताऽप्यस्यैव पूर्वार्थः । धीविरत्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिपृतिविभ्रुता न
वायकसज्जा । तथा विप्रलम्बाऽपि नामकसज्जावदस्यैव पूर्वार्थः । उत्तरा
नामात् इति प्रतारणाभिधेयाच् च नामकसज्जोत्कण्डितयोः पृथक् । वस
हान्तरिता तु यद्यपि विप्रलम्बासीका तथाऽप्यपहीतप्रियामुनया पश्चात्ताप
प्रकाशितप्रसङ्गा पृथगेव लक्षितायाः । तन् स्थितमेतन्प्रादुर्बभूव इति ।

तत्र ।

प्राप्तनीयतः०

स्वाधीनमस्तु क्वा ॥२२॥

यथा ।

या यत्तमृदह कपोलतले अदास्ति
कान्तस्वहृन्मनितता मम मञ्जरीति ।
सम्यापि किं न सधि माजयमीवृषानां
वरी न वेद् भवति वेपथुरस्तदाय ॥

अथ वासकसुखा ।

मुखा वासकसुखा स्वं मण्डपयेष्यति प्रिये ।

स्वमात्मान वेत्स्य न ह्येषण भूपयत्येष्यति प्रिय । वासकसुखा यथा ।

निजपाणिपस्यावतटस्त्रमनाय
अभिनातिकाविवरमुत्पतिर्न ।
अपरा परीक्ष्य घनवमु मुदे
मुग्धवासमास्यकमलवसन ॥

अथ विरहोत्कण्ठिता ।

विरसाय० •विरहोत्कण्ठितोगमना ॥२३॥

यथा ।

मल्लि स धिमिता बीणावात्री कया व्यपचिन्मया
पलितममवन् ताम्या तत्र क्षयान्नितं भुवन् ।
कवमिठरवा सेफासीनु शान्तमुमुषाम्भवि
प्रशुरति नमोमप्येपीन् प्रियेण विसम्भपते ॥

अथ मण्डिता ।

हातेऽप्या० •कथाविता ।

यथा ।

नवननपदमङ्ग वापयर्ष्यगुणेन
इयमयसि पुनरोऽष्ट पाणिना दृष्टदम् ।
प्रतिदिशमपरम्बीछद्गामी दिवर्तन्
मवपिग्मनगन्ध विस घनयो वरीतुम् ॥

अथ कलहान्तरिता ।

कलहान्तरिता० ० शुभायातिपुत्र ॥२४॥

यथा ।

निग्रवासा बान्धव दहन्ति हृदय निर्मूसमुन्मथ्यत
निग्रा नैति न दूष्यते प्रियमुख नक्षत्रिन्दव रुचते ।
प्रज्ञं पापमुपैति पाशपतित प्रयान्तपोपेक्षित
सत्यं कं गुणमाकलय्य दयिते मानं ब्रह्म कारिता ॥

अथ विप्रसन्धा ।

विप्रसन्धोबन्धनमयमराप्तेऽतिविधानिता ।

यथा ।

उत्तिष्ठ हूति यामा यामो यातस्तथापि नाऽप्याव ।
याज परमपित्रीवेम् भीषितनाथो भवेन् तस्या ॥

अथ प्रोषितप्रिया ।

कुरवेसान्तरस्वे प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमरगतके ।

मादृक्प्रसन्नान् प्रियस्य पदवीमुदीन्य निर्विषया
विमान्तेषु पविष्यह परिरुती ध्यान्ते समुत्थगति ।
दत्तं सगुणा गुहं प्रति परं पान्धमिन्द्रियाऽस्मिन् सण
माऽमूदामत इत्यमन्वबन्धितपीथं पुनर्वीक्षितम् ॥

अथ प्रमिसाग्नि ।

कामार्ताऽ० प्रमिसारिणा ॥२५॥

यथाऽमरगतके ।

उरगि मिहृन्पारो हारं दृवा जघन घन
बन्धकमवती काभी पानी रगुन्मणिनूपुरे ।
प्रियमभिसन्त्येनं युष्म त्वमाहृतविचिन्मा
यदि किमधिकनासोऽग्न्यं दिवा समुदीरमे ॥

यथा ॥

न च येऽङ्गगच्छति यथा समुत्तां
कच्छतां यथा च कुक्षे स मयि ।
निपुणं त्वदीनमुपलभ्य भवे
रभिरुति काचिदिति समिददिष्टे ॥

तत्र ।

चिन्ताविज्जवात श्रीश्रीरङ्गव्यग्रहवित्ते ॥२६॥

परस्त्रियौ तु कस्यकोष्ठे । सद्गुणात् पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पत्न्याद् विद्रुप
कादिना सहाश्रमिसरस्याभिसारिके । कुतोऽपि सद्गुतस्वानमप्राप्ये नायके
विभ्रसम्भवे इति व्यवस्थितेवाज्यवोगिति । अस्वाचीनप्रियघोरवस्वान्तरागो
यात् । यद् तु मासविकानिमिषादो योऽप्येवं बीर शोऽपि दृष्टा देव्या
पुरत इति मासविकारवचनामन्तरम् । राजा

शशिष्यं नाम विम्बोष्टि मायकाना वृत्तवत्तम् ।

तन् मे वीर्याणि यं प्राणास्तु त्ववाद्यानिवन्धना ॥

इत्यादि तन् न कश्चित्तानुनयाप्रियाययाऽपितु सर्वथा नम देव्यपीनत्वमा
घातुष निराशा माभूदिति कस्यापिभ्रमगुणावेति । तत्राङ्गुलसङ्ख्यातनायक
ममावमाया वतामन्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्वमेवेति न प्रोषितप्रियात्वं
मनायनप्रियत्वावेति ॥

अपाङ्गा महाविष्य ।

दुःखो मैत्रुविज्जगुणाम्बिता ॥२७॥

हामी परिकारिका । इती स्नेहनिबद्धा । काश्च रङ्गकीप्रभृति ।
घात्रेदी उरमातुनुता । प्रतिवदिका प्रतिवृद्धिनी । मित्रिणी मिलनयादिका ।
निस्त्रिणी विषकारादिस्त्री । स्वयं धिति कुटीविशेषा । नायकप्रियाया
पीनमर्शनीनां निमृष्टार्थत्वादित्ता गुणान् युवना । तथा च मासतीमावरे
नामकी प्रति ।

घात्रेणु निष्ठा सहजवत् बोध प्राणस्यमम्यस्त्रगुणा च वारुणी
कामानुष्यः प्रतिमानवत्त्वमेव गुणा नामदुषा विद्याम् ॥

तत्र सखी । यथा ।

मृगशिशुदूतस्वत्यास्तार्य कर्णं कथयामि त
यहमपविता वृष्टा मूर्तिर्मया न हि वैषमी ।
इति तु विवितं नापीत्य- स मोक्षवृत्ता सुभा
तत्र सख्यया सिस्मोत्कर्षो विषयविविधिरप्यते ॥

यथा च ।

१ सख्यं बभ्रुक इदं सखिस्मि जगन्मि जुञ्जए रागो ।
मरुत ए तुमं मखिस्मं मरण पि ससाहृण्णं से ॥
स्वयं वृत्ती । यथा ।
२ महु एहि कि विवितं हुरति एहिं वात जई वि मे विवित ।
माहेनि कस्त मुन्दर दूरे पामो महु एस्का ॥
इत्याद्युद्धम् ।

अथ बोपिदम-कृपा ।

यौवनं विवितं ।

यौवनं सख्योन्मुत्ता विवितिरम-कृपा स्त्रीणां भवति ।

यत्र ।

भाबो- अरीरणा ॥२८॥

शोभा- अयत्नजा ॥२९॥

तत्र भाबहावहेमास्त्रयोऽङ्गजा । शोभा कान्तिशीघ्रिमांशुर्न प्रायस्त्रय-
मोदार्यधैयमित्ययत्नजा सप्त ।

लोता- स्वभावजा ॥३०॥

तानेव निर्दिशति ।

निविकारारम्भकम् ० ०ऽऽविधिम् ।

१ सार्यं जानाति इष्टं सख्ये जने मुग्धते रागः ।

अप्यता न रयो मखिप्यामि जरणमपि इसायनीमयस्या ॥

२ मुहुरेहि कि निवारक हुरति निवितं वायो यद्यपि मे विवितं ।

साययामि कस्त मुन्दर दूरे पामोऽहमेका ॥

तत्र विचारोत्पत्तिं सत्यपि प्रतिकारकं सत्यम् । यथा कुमारसम्भवे ।

धृताम्बरोगीतिरपि धृष्टप्रतिम्

हरः प्रसङ्गप्रानपरो बभूव ।

घातमेवघराभा न हि जातु विघ्ना-

समाधिमेवप्रमथा भवन्ति ॥

तस्मादविचारवपान् सत्त्वाद् य प्रथमो विचारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीज-
स्योन्मूलनेन स भावः । यथा ।

वृष्टिं मानसता विभक्तिं न पितृपुत्रीदाम् ब्रह्मावृत

भोजं प्रपद्यति प्रवर्तितसमीक्ष्यभोगवार्तास्त्रिपि ।

पुमानकुम्भपतस्तकुम्भुना नाभ्युपेक्षति प्राक् यथा

बासा नूतनयौवनव्यतिकरावष्टम्भमाना क्षीः ॥

यथा वा कुमारसम्भवे ।

हरस्तु किञ्चित् परिमुक्तमैव

दन्त्रोदवारम्भ इवाभ्युपेक्षति ।

उमामुने विम्वक्तगात्रोष्ठ

व्यापारयामास विलीनतामि ॥

यथा वा मयैव ।

‘तं विवक्ष्य वपरां ते भव्य सोमरा आम्बर्षं पि तं वक्ष्ये ।

अग्रा अलङ्कृतमग्नी अर्षं विवक्ष्य किं पि माहेह ।

अथ ह्यथः ।

हेवाकलस्तु विचारस्तु ॥३१॥

प्रतिनियताङ्गदिकारकारी शृङ्गार स्वभावविशयो

हावः । यथा मयैव ।

१ तदेव वचनं ते चैव भोजने भोजनमपि तदेव ।

अप्यानङ्गमभौतम्यदेव किमपि तावपति ॥

१ अं किं पि वेष्टमाय भणमाण रे जहा सह ज्येष्ठ ।

णिग्भ्यश्च रोहमुद्य बभस्व मुद्य णिग्भ्योहि ॥

अथ हेता ।

स एव हेता सूचिता ।

हाव एव स्वप्नभूयोविकारत्वात् सुष्यन्त्यङ्गान्नारसमुपकी
हेता । यथा मनेव ।

२ सह भक्ति स पद्यता सख्यङ्गं विभ्रमा यणुवभए ।

संसदपद्यामनाया होह चिरं वह सहीणं पि ॥

अथाप्रत्यक्षा सप्त । तत्र गोमा ।

अपोपमोग० विमुपचय ॥ ३२ ॥

यथा कुमारसम्भय ।

तां प्राङ्मुपी तत्र निवेस्य यायां

दार्पं व्यक्तम्बन्ध पुरो निषण्ण ।

भूतावधानातिप्रमाणनेत्रा

प्रसाधन सन्निहितपि नार्य ॥

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले ।

अनाम्रातं पुण्य किमसयममूनं करग्रे

गदाबिद्धं यत्न मनु मयमनास्वारितरसम् ।

असङ्गं पुण्यानां फलमिह च ह्यूपमनचं

न जाने भोक्तारं कविह संपुपस्यास्यति विधिः ॥

अथ वाम्ति ।

ममभावापित्तज्याया सच वाम्तिरिति स्मृता ।

धामय रागावतारपनीकृता वाम्तिः । यथा ।

१ यत् किमपि श्रेष्ठमाहो मयमायां रे यथा तत्रच ।

निष्प्राप्य श्रेष्ठमुपमां बयस्य मुग्धां पश्य ॥

२ तथा अदिरपस्याः प्रवृत्ता सर्वाङ्गं विभ्रमा स्तनोद्धे

संप्रपित्तवासनाया भवति चिरं यथा सलीनामपि

उगमीवह्वरनेगुडीप्तिविसरैवूँरे समुत्सारितं
 भिन्न पीनकुचस्वतस्व च दया हस्तप्रभामिहतम् ।
 एतस्या कलत्रिन्दु कष्टकम्पनीकृतं मिमत्क्रीतुकाद्
 यथाप्यतान्नसुखं हयस सहसा बेधेषु सप्त तम ॥

यथा हि महारवेतावर्णनावसरै भट्टबाणस्य ।

अथ माधुर्यम् ।

यमुत्तरात् माधुर्यं

यथा वाकुलमे ।

नृपविजयगुर्विद्धं शैवसनात्रिपि रम्यं

यस्मिन्मपि हिमाचोर्लक्ष्म तदमी जनोति ।

इयमधिकमनोभा बलकमेनात्रिपि तम्बी

किञ्चिद् हि मङ्गुलछा मण्डन माऽऽह्वीनाम् ॥

अथ दीप्ति ।

दीप्ति काष्ठोस्तु विस्तरे ॥३३॥

यथा ।

१ देवा पतिष्व निष्पन्तगुमुहसिरोज्ज्वालिनुत्तमणिबद्धे ।

अहिनारिप्राण विष्यं करोति अश्लेषात् विह्वामे ॥

अथ श्रामन्म्यम् ।

निष्ठाप्यसत्त्व प्राणान्म्यं

मन शीमपूर्वकोऽङ्गुलानः साध्वन् तदभाव श्रामन्म्यम् । यथा

मनैव ।

तथा श्रीदा विद्येवार्जः तथा मुग्धात्रिपि मुग्धरो ।

अनाप्रयोवचानुर्यं सजास्वाचार्यकं यथा ॥

अपीदार्पम् ।

पीदार्पं प्रथमं यथा ।

१ यथा इहा निष्पन्तगुमुहसिरोज्ज्वालिनुत्तमोनिबद्धे ।

अनिस्तारिकाणां विष्ण करोति अग्यातां विह्वताये ॥

यथा ।

१दिग्रहं च दुर्निष्ठायां सघर्षं काठगं मेहवाभारं ।

यद्यपि मग्नुकुक्षे भरिमो पाघ्नस्तुतस्त ॥

यथा वा । अमृते सहस्रोद्यतेत्यादि ।

अथ वैर्यम् ।

आपलाघ्विहता

०विह्वलना ॥३४॥

आपलानुपहृता मनोवृत्तिरात्मपुमानामनाख्यायिका वैर्यमिति । यथा
मातृतीमाधवे ।

असतु यमने रात्री रात्रावस्यकसं सद्यो

बहुतु भवनं किंवा मृत्यो परेष विधास्यति ।

मम तु दयित इमाव्यस्तातो अनन्यमसाव्यया

कुसमममिर्न न त्वेवाज्य जगो न च जीवितम् ॥

अथ स्वामाधिका यथा । तत्र

प्रियातुकरत्नं०

०विनेष्टि ।

प्रियदृशतां बाग्वेपवेष्टानां गृह्णारिणीनामङ्गनामिरनुकरत्नं सीता ।

यथा मर्मैव ।

१तद् विदुं तद् मनिषं तापं शिष्यं तद्वा तद्वा सीतु ।

अबसोदयं सद्यः सद्यः सद्यः सद्यः सद्यः ।

यथा वा ।

तेनोचितं ब्रूति याति तथा यथासी ।

इत्यादि ।

अथ विभासः ।

तात्कालिको०

०विभासिपु ॥३५॥

१ विवर्तं असु कृतितायाः सघर्षं कृत्वा गृह्णयापारं ।

दुर्गम्यपि मग्नुकुक्षे भरिमा पात्राग्रे सुप्तस्य ॥

२ तथा दृष्टं तथा मलितं तथा नियतं तथा तथा सीतुं ।

अबसोदितं सद्यः सद्यः सद्यः सद्यः सद्यः ॥

दयितावसोक्तनादिकामे-ङ्गं शिवाया वचने च सातिष्ठामविद्येपोत्पत्ति
विनाश । यथा याज्ञवीर्यावने ।

अत्रान्तरे किमपि वाग्विषयवातिवृत्त
वैचित्र्यमुद्भूतवित्तविभ्रममायताभ्या ।
तद् धूरिस्तान्त्रिकनिकारविद्येपरम्यम्
याचार्यकं विजयि नाम्नचमाविशमीत् ॥

अथ विजिति ।

आद्यपरवचना ० पौषकम् ।

स्वोक्तोऽपि वेदा बहुतरुणनीयताकापी विजिति । यथा कुमार
सम्भवे ।

वर्णोपिष्ठो रोमकपायवधे
गोरोचनामेवनिहान्तगीरे ।
तस्या कपोमे परमायतामाद्
वदन्त्य चक्षुषि यवप्ररोह

अथ विजितम् ।

विजितमस्त्वया विजयम् ॥३६॥

यथा ।

धम्मुद्वते लतिनि देवमकान्तदूती
संतापसवनितलोचनमानताभि ।
अशाहि मण्डनविधिबिपरीतध्रुवा
विग्यासहृदितसलीनमङ्गनाभि ॥

यथा वा मयम् ।

धुत्वाऽऽत्मातं बहिः काष्ठपसमाप्तविश्रुपवा ।
भावेऽज्जन वृत्तीर्माता कपोमे तिलव कृत ॥

अथ कियद्विजितम् ।

बोधायु विजितम् ।

यथा मयम् ।

रतिभीषाचूटे कथमपि समासाद्य समर्थ
मया सञ्च तस्या नवशितकसकृष्णार्धमवरे ।
कृतभ्रूमङ्गाऽग्री प्रवटितविलसार्धरहित
स्मितकपोदुभ्रातं पुनरपि विदध्याम् मयि मुञ्चम् ॥

अथ मोहृयितम् ।

मोहृयितं - कथाविषु ॥३७॥

इष्टकथाविषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेषु भावितास्त
करणत्वं मोहृयितम् । यथा पचनुप्तस्य ।

विप्रवर्तितस्यपि नृपे तत्तवावैद्येन चेतसि ।

वीडार्धवसितं चक्र मुञ्चेन्मुमवसव सा ॥

यथा वा ।

मातं कं हृदये निवास सुखिने रोमाञ्चिताङ्गी मुहु

जु म्मामग्नरदारकी मुलमितापाङ्गी दधाना वृषम् ।

मुपेवाऽऽलिखितं दृग्यहवया निजानघेपीमथ-

स्यात्प्रोद्गृहीतं किं ह्रिया कथय मे शूरो निहन्ति स्वर ॥

यथा वा ममैव ।

स्मरवचननिमित्तं प्रहृष्टमृतुमस्या-

मुच्यत तव कथामां प्रस्तुतायां सखीभिः ।

भवति विततपुच्छदस्तपीनस्तनाया

ततश्चलमितबाहुर्बुभ्रित साङ्गमङ्गी ॥

अथ मुहृयितम् ।

सागन्धाऽन्त- केसापरग्रहे ।

यथा ।

नाम्दीपदानि रतिगाढकविभ्रमाणाम्

धात्राद्यराणि परमाभ्ययवा स्मरस्य ।

दण्ड्यरे प्रणयिना विप्रुताप्रपाण-

नीत्यारम्भुष्करिणानि जयन्ति नायः ॥

अथ विष्णोः ।

पद्मविमानाः ।

॥ अथ विष्णोः ॥ ३८८ ॥

यथा मयैव ।

सुखाय सितकामकाम् विरमयन् सोलाहगुप्तिं संस्पृष्टम्
बारबारमुपवृण्वन् कुचकुप्रमोदयन्ती साञ्जलम् ।
यद् भ्रूयङ्गुलपङ्क्तिताम्बितदृष्टा साञ्जलमालोकिताम्
तद्वर्षावर्षाविरतोऽस्मि न पुनः कान्ते हृष्टार्चिः ॥

अथ सतितम् ।

लक्ष्मणराज्ञः

अथैव ।

यथा मयैव ।

सप्त भङ्गं कथं सप्तमयावर्तनैरासपन्ती
सा पश्यन्ती सतितमिति साञ्जलस्याञ्जलेन ।
विन्यस्यन्ती चरणक्रमेण लीनया स्वीरया
नि सङ्गीतं प्रबभूवसा मतिता पञ्चमासी ॥

अथ विहृतम् ।

प्राप्ताकारं न

हि तत् ॥ ३८९ ॥

प्राप्ताकारस्यापि वाक्पराय लज्जया यद्वचनं तद् विहृतम् । यथा ।

पादांमुष्टेन भूमिं क्लिप्तमयस्त्रिणा सापरेण सितन्ती
भूयो भूयः द्विपङ्क्तिं यमि सितपङ्क्तिं सोपमे लोचनारे ।
वचनं ह्रीन्मयीयत्पुण्ड्रवर्षावर्षं दधाना
यद् मां मोक्षाय किञ्चित् स्विस्तमपि हृष्टैः मानसं तद्विभोति ॥

३ १ अथ नैतुः कार्यान्तरसङ्ख्यायानाह ।

मन्थी

॥ तस्याप्यर्थचिन्तने ।

तस्य नैतुरर्थचिन्तायां तन्मात्रापादितयस्यायां मन्थी वाञ्छया बोधनं

वा गदायः ।

तत्र विभाषणाह ।

मन्त्रिणा

विहृतम् ॥ ३९० ॥

उक्तमदाभा सन्निधौ नेता मग्ग्यायससिद्धिः । शेषा बीरोदात्तायम् ।
प्रतिपदेन मन्त्रिणा स्वेन बोधयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति ।

धर्मसहायास्तु ।

ब्रह्मिकः • • ब्रह्मवादिनः ।

इह वेदस्तं ब्रह्मि व्याचक्षते वा तच्छ्रीमा ब्रह्मवादिनः । आत्मज्ञानिना
वा । शेषा प्रतीताः ।

दुष्कर्मन दण्डस्तस्मादापास्तु ।

मुद्रितुमाराः • • ब्रह्मिका ॥४१॥

स्वप्नम् । एव तत्तत्कार्यान्तरेषु ब्रह्मयान्तराणि योज्यानि ।

यथाह ।

अन्तःपुरे स्वययकार्योपयोगिनः ॥४२॥

राक्षसो राक्षः दयालो ह्रीनवादिः ।

विशेषान्तरमाह ।

रौप्यमध्यापमस्वेन बोधमाविता ।

एवं ब्राम्हणानां नायकनायिकादूतदूतामन्त्रिपुरोहितादीनामूत्तममध्य
मापमभावेन विरूपता । उत्तमादिमावश्य न गुणसङ्गपोषणमापचयेन किं
तर्हि मूलातिशयतारुण्येन ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिरक्षकः ॥४३॥

उक्तो नायकस्तद्व्यापारस्तुभ्यतः ।

तद्व्यापारादिमिका शृङ्गारलोचिर्तः ।

ब्रह्मतिरूपो नैतुम्यापागस्यभाषो वृत्तिः । सा च कतिपयी सात्त्विकपार
मणीभारतीभेदाश्च चतुर्विधाः । तासां गीतनृत्यविभासकामोपभोगाद्युपसदय
माणो मृदु शृङ्गारी कामकलावच्छिन्ना व्यापारः कतिपयी ।

सा तु ।

नर्मतस्तिस्फुटः • • चतुरङ्गिका ॥४४॥

तदित्यनेन चर्चश्च नम परामुच्यते ।

तत्र

बंदाम्यकीर्तितं बिहितं त्रिधा ॥४३॥

घारमोपलोप सम्मोपनार्मं नर्माष्टावशाबोधितम् ॥४४॥

अथाम्य इष्टवनाबर्जनकप परिहृता नर्म । तच्च मुद्रहास्येन च
मृङ्गारहास्येन समवहास्येन च रचितं त्रिविधम् । मृङ्गारवदपि स्वानुराग
निवेशनपद्मोपेच्छाप्रकाशनसापराधप्रियप्रतिप्रियनैदिविधमेव । अथ
नर्मादपि शुद्ध एष्टान्तराङ्गभावाद् द्विविधम् । एवं पञ्चविधस्य प्रत्येकं
बान्धेयवेष्टा व्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम् ।

तत्र बन्धोहास्यनर्म यथा ।

पत्युः क्षिरचन्द्रकनामनेन
स्पृष्टेति सख्या परिहृतासपूषम् ।
सारङ्गविदेशा वरली कृताधी
मन्त्रिणेन तां निर्बन्धनं बभान् ॥

बेपनर्म यथा नागानन्दे विदूषकसेनरक्तव्यतिकरे । क्रियानर्म यथा
मातृविक्रान्तिनिध उल्लस्यन्नायमानस्य विदूषकस्यापि निपुणिका सर्प
अमकाण्डं दृष्ट्वाकाण्डं वातयति । एवं वरयमालोच्यवि बान्धेयवेष्टापरत्वमु
वाहार्यम् ।

मृङ्गारवहारमोपलोपनर्म यथा ।

मध्याह्न ममय तमय अममलं स्त्रिया यय पीयतां
मा द्यूमेति विमुञ्च पाण्य विबध्नी क्षीता प्रयामण्डप ।
तामेव स्मर अस्मरस्मरश्चरन्तां निजप्रयत्नी
एविविधत तु न रञ्जयन्ति पञ्चिक प्रायः प्रयापातिका ॥
सम्मोपनर्म यथा ।

१ कालोऽपि न्निधय मूरे परिणी वरमाभिप्रसन्न भतूल ।
एवञ्चन्तस्म वि पाण पुष्य हम्मी हसन्तस्म ॥
माननर्म यथा ।

१ कालोके एव नृपे मुहुरी नृहराभिप्रसन्न नृहीता ।
अनिच्छन्तोऽपि बाही कुनोति हसन्ती हसन्तः ॥

तवचित्तवमबाधीर्येण मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिमुक्त मयं पुच्छून् दधानः ।
मदचित्तसति मागाः कामिना मण्डनधी
इति हि सप्तमत्वं वस्त्रमातोकनेन ॥

मयनम यथा रत्नावल्याभासेव्यवधानावसरः । मुसङ्गता । ^१बाणियो
मए एषो सन्धो वृत्ततो चर्म चित्तफलहृण्ण ता वेधीए निवेदहस्त
मित्यादि ।

शृङ्गापङ्क मयनर्म । यथा मर्मव ।
धर्मिष्यवतामीक सक्तमचित्तलोपायविभव
विचरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसरम्भनिपुणम् ।
इत पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्नास्य सहसा
कृतास्तेषां धृत स्मितमनुरमातिङ्गति बभूव ॥

अप नर्मस्फिञ्जः ।

नर्मस्फिञ्जः नवसङ्गमे ।

यथा मासविकानिमित्र सङ्कटे नाभकमभिमुतायां नायिकायां नायकः ।

विदुः सुन्दरि सङ्गमसाध्यसं
ननु विद्यान् प्रमृति प्रणयोऽमुनः ।
परिमृहान यत्ते सहकारता
त्वमतिमुक्ततवाचरितं मयि ॥

मासविद्या । ^२अहो देवीए भयेण अस्तलो वि पित्रं काठं ए
पारेमीत्यादि ।

अप नर्मस्फीटः ।

नर्मस्फीटस्तु लभे ॥४७॥

यथा मासलोमापये । मकरन्दः ।

१ सातो मयय सखी वृत्तातः लह विचकलसेन तत् वेध्यं निवेददिध्यामि ।

२ अर्तं, देव्या भयेनारमनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयाति ।

गमनमसहं शून्या बुष्टिं दरीरमसीष्ठं
 स्वसितमधिकं किं त्वेतत् स्यात् किमभ्यवतोऽववा ।
 भ्रमति भुवने कम्बुपाशा विकारि च यौवनं
 समितममुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥

इत्यथ समन्तादिभिर्भावलेखैर्मायिकस्य मातस्याममुराग स्तोत्रं
 प्रकास्यते ।

यत्र नर्ममर्म ।

एतन्मैत्रं ० सर्वसिद्धौ ॥४८॥

यथाऽऽमरस्यतके ।

बृहद्ब्रह्मासनसन्निधौ त्रियम्बकं पञ्चाङ्गुपेत्याऽऽबराद्
 एकस्या नयने त्रिमीस्य विहितं श्रीङ्गानुबन्धयच्छत ।
 ईषद्भक्तिरुक्तम् ॥ सप्तलङ्का प्रेमोत्सवसम्मानसाम्
 यन्तर्हसितसत्कपालपद्मकां भूर्तोरयं बुम्बति ॥

यथा त्रियम्बकिकायां यर्माङ्गे बत्सराजबेपमुत्तृतास्थाने छायाद्
 बत्सराजबेपम् ।

यम सात्वती ।

विश्लोका— परिपुर्तकः ॥४९॥

शोकहीनं सत्त्वशीर्षत्यागव्याहृषादिभावोत्तरो नायकम्यापार-
 सात्वती । तदङ्गानि च संतापोत्तापकशास्त्रात्मपरिवर्तकारयानि ।

तत्र ।

संतापको विषयः ।

यथा बीरवर्धिते । राम । धर्मं च यं किम् सपरिवारकालिदेव
 विप्रपात्रजिज्ञेन भयवता नीलमोहितेन परिवत्सरसहस्राग्नेबाहिने तुम्ह
 प्रतापीहृत् परमु । परमुपमं । राम राम दाधरव स एवाऽऽमरमाचार्य
 पादानो प्रिय परमु ।

यत्नप्रयापमुरसीकमहे गरुडानां

संभ्यैव तो विजित एव मया कुमारः ।

एतावताप्रिय परिरम्भ कुठप्रसाध

प्रावादमुं प्रियमुक्तो भगवान् गुरुर्मे ॥

इत्यादिनामाप्रकारमावरसेन रामपरन्तु रामयोरन्योन्यागभीरवचसा
संज्ञाप इति ।

प्रबोत्पापकः ।

वत्पत्न्यस्तु परम् ॥१०॥

यथा बीरविरिते ।

मानम्वाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि कुक्षाय वा

वैगृह्यं नु कुतोऽप्य सम्प्रति मम त्वदर्शनं चक्षुषः ।

त्वत्साङ्गत्यनुबन्धस्य नास्मि विषयः किं वा बहुलाहर्तुं

रस्मिन् विधुतजामदम्यविजय बाहो बभूवुः स्मिताम् ॥

अथ साक्षात्पथः ।

मन्त्रार्थः 'सङ्गमेदमम् ।

मन्त्रार्थः । यथा मुद्राद्यस्य राससहायादीनां चारुकेन
स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थार्थस्या तत्रैव । यथा पञ्चकभरणस्य रासस
हस्तमन्त्रेण मनसकेन सहोत्पायिभेदनम् । वैद्यार्थस्या तु । यथा रामायणे
रामस्य दण्डार्थ्या उक्त्या विभीषणस्य भः इत्यादि ।

अथ परिवर्तकः ।

भारतमोरिषानः परिवर्तकः ॥११॥

प्रस्तुतस्वोद्योगकार्यस्य परित्यागेन कामान्तरकरणं परिवर्तकः ।
यथा बीरविरिते ।

हेरम्भकम्भमुत्तमोष्मिपितृकमिति

वरो पिपासविनिवृत्तलुप्तमाश्रितं म ।

रोमाञ्चनञ्चुक्तिमद्भुतबीरसामाद्

यत् सत्यमद्य परिरम्भमिषेष्ठति त्वाम् ॥

रामः । भयपन् परिरम्भमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतदित्यादि ।

सारवतीमुपसंहारम्भारभटीनयलमाद् ।

एमिररङ्गेश्व० ~ बस्तुत्वाभावपातने ॥३२॥

मायामग्नवलेनाग्निविद्यमानवस्तुप्रकाशमम् । तन्मग्नमादिग्नबालम् ।

तत्र ।

सङ्घिष्यत्तस्तु 'मेवमन्तरपरिग्रह' ॥३३॥

मृदुष्यदमचर्मादिद्रव्योपेन बस्तुत्वापन सङ्घिष्यति । यद्योदमनचरिते
द्रिनिष्पन्नवस्तुप्रयोगः । पृथनायकावस्थानिबुत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्यै
सङ्घिष्यति कां मय्यन्ते । यथा बालिनिबुत्त्या मुषीकः । यथा च परमुद्यम
स्वीडत्यनिबुत्त्या दान्तत्वापादन पुण्या काहूयवागिरिरियादिना ।

अथ सङ्घट्टः ।

सङ्घट्टस्तु 'संरक्ष्योर्हयोः ।

यथा माकवाचोरवष्टयाम्नितीमायवे । इन्द्रविस्मयमण्योरव
रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु ।

अथ बस्तुत्वापनम् ।

मायाद्युत्वापितं वस्तु बस्तुत्वापनमिष्यते ।

यद्योदात्तपत्रवे ।

जीमन्ते जविनाग्नि साग्नविमिरवार्तद्विषयव्यापिनि
वर्तित्वेन सकलारवरपि इव कस्मात्कस्मादमी ।
एतादृशोपकल्पवत्तद्वत् सधिरैरात्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकम्बराननमुचस्तीवा रवा करवा ॥

प्रत्यादि ।

अथाऽवपातः ।

अवपातस्तु विज्ञेयः ॥३४॥

यथा एनावस्याम् ।

वक्त्रं वृक्षाऽतोर्णं कनकमयमयः शृङ्गसाहाम कपन्
धान्ता हायलि हेमावनचरणवन्तिकिद्वितीयचक्रतः ।
रतातद्वो नवापामनुमृणनरणि सन्ममारावपानी
प्रमृष्टोऽयं पत्राङ्ग प्रविष्यति नृपनर्भन्धिर मन्दुरात् ॥

नष्ट वर्णपरमनुपगणनाभावात्कृत्वा अपाम्
 अस्त कञ्चुकि कञ्चुकस्य विद्यति प्रासादयं वामन ।
 पयस्ताम्रयिमिनिजस्य सवृण नाम्ना किरात कृतं
 कुम्भा मौचतयैव यास्ति दानकैरात्मैश्वर्याशङ्कित ॥

यथा च प्रियदर्शनायां प्रथमं कृते विषयकेत्ववस्थान्दे ।

उपसहृष्टि ।

एमिरङ्ग इव० "भारकलसले ॥५३॥

कैशिकी "प्रतिजानते ॥५४॥

सा तु सस्ये क्वचिदपि न बुध्यत न चोपपद्यत रसेषु ह्यास्वादीनां
 भारव्यात्मकत्वात् । नीरमस्य च काव्यार्थस्य चाऽभावात् । तिस्र एवैता
 मयं वृत्तयः । भारती तु पाद्यवृत्तिरामुक्तमयम्भात् तत्रैव बाध्या ।

भूतिनिमममाह ।

भृङ्गारे भारती ॥५७॥

देवदेविम्लदेवादिस्तु मातृकादिध्यापारं प्रवृत्तिरित्याह ।

देवमाया "प्रयोजयेत् ॥५८॥

तत्र पाद्यं प्रति विधेयं ।

पाद्यं "क्वचित् ॥५९॥

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः ।

स्त्रीणां "हीरसैव्यवसैषु च ।

प्रकृतरागतं प्राकृतम् । प्रकृति संकृतं तद्वत् तत्तमं देवीत्यनेक-
 प्रकारम् । घूरसेमी भागधी च स्वरास्त्रनिपतः ।

विश्राब्धा "तथा ॥६०॥

घृष्टं धायाव्यतिष्ठम् ॥६१॥

स्वप्नापमेतत् ।

धामग्यामग्निकीर्तिनाऽऽमग्नमाह ।

अपवन्तो मिषः ॥६२॥

धायविधि सम्बन्धः ।

रथो त ॥६३॥

अपि सत्तात् पूज्येन विप्यात्मजानुवास्तातति वाच्यः । सोऽपि तैस्ता
तेति गुपुहीयतामा चेति ।

भावोऽनुपेयः च ।

मूत्रबाधः पारिपास्येन भाव इति वक्तव्यः । सं च मूत्रिष्ठामार्य इति ।

देवः चाद्यमै ॥६४॥

धामन्वजोवा स्थियः ।

विद्वद् वाविसिन्धयो भर्तुर्वदेव देवपतिभिर्वाच्यः ।

तत्र स्थियः प्रणि विद्ययः ।

समा तया ॥६५॥

कुट्टिम्यन्त्रे० शम्भयत्ते ॥६६॥

पूज्या जयती धाम्नेति । स्पष्टमन्यन् ।

वेदाभुलो० अग्निष्टमोतिः ॥६७॥

विद्वन्मार्गं वसितमित्यर्थः । शिष्टा सीताद्या गुणा विनयाद्या उवा
हृतयः संस्कृतप्राकृताया उक्तयः सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनोमात्रं सत्त्वस्य
प्रथमोर्विकारः तेन हावाद्ययो ह्य पतक्षिणा ।

इति धीविष्णुमूर्गोर्धनिकस्य द्विती ब्रह्मपावसोके

नैनुप्रकाशो नाम द्वितीयप्रकाशः समाप्तः ।

तृतीय प्रकाश

बहुवस्तुभ्यस्तथा रसविचारयतिनङ्गुनन वस्तुनेनृरसार्ता विभज्य नाङ्का
रिपूपयामा प्रतिपाद्यते ।

प्रकृति० नाटकमुच्यते ॥१॥

उद्दिष्टधर्मैर्हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । अप
प्रतीतम् ।

तत्र ।

पूवरङ्ग ० गट ॥२॥

पूर्वं रज्यतेर्प्रमितिः पूवरङ्गो नाट्यघाता । तस्यप्रथमप्रयोद-
भ्युत्पापनादौ पूर्वरङ्गता । त विषय विनिर्मते प्रथमं भूतघारे तद्वदेव
'ईदमस्मानकादिनो प्रकियाज्यो गटः काव्याय स्थापयत् । न च काव्याय
स्थापनात् भूतनात् स्थापकः ।

दिव्यमर्त्ये पात्रमयावि वा ॥३॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा
दिव्यं च दिव्यमर्त्ययोरन्वयतो भूत्वा लुचयेत् । वस्तु बीजं मुष्टं पात्रं वा ।
वस्तु यकोवात्तरागवे ।

यमी मुष्टि निषाय काननयमान् मामानिवाऽऽतां पुरो

स्तद्मवत्या भरतेन राज्यमजिह्वं माया सहैवाग्निभ्यम् ।

तौ मुद्राभिविघ्नीपणाबनुगती नीती परा सम्पदं

प्रादीप्ता दशकम्बरप्रमृगया व्यस्ता समस्ता द्विप ॥

बीजं यथा रत्नावस्थाम् ।

१ बीजकारिणिलपेल परिक्रमो ईदमस्मानकम् । आदिताव्यात् तावद
वादिना परिक्रमा रीतिरिति कस्यचित् दिव्यली

हीपादन्वस्मादपि मध्यादपि जलनिर्घेदघोऽप्यगतात् ।
 यानीय भ्रष्टेति जटयति विविधमिमममभिमुखीभूतः ॥

मुखं यथा ।

पासावितप्रकटनिर्मसच ब्रह्मास-
 प्राप्तं दारुतमस एव विमुक्तकान्तं ।
 सत्त्वाय दारुतमस जननालमुप-
 रामो ब्रह्मास्पमिव सम्भूतबन्धुजीवः ॥

पार्श्वं यथा चाकुलमे ।

तवाऽस्मि भीतचक्षुः हारिणा प्रसन्नं हृतं ।
 एव गजेव दुष्यन्तं सारङ्गमाऽतिरक्षसा ॥

रङ्गं कृतिमाशयेत् ॥४॥

रङ्गस्य प्रसस्तिं काव्यार्चानुयतार्थं श्लोके कृत्वा ।

धौतमुख्येन कृत्स्नं सङ्गमुवा म्याकर्तमाना हिवा
 तैस्तीर्णमुपबृजनस्य वचनैर्नीताऽऽविमुरत्यं पुनः ।
 दृष्ट्वाप्य वरमात्तसाध्वसरता भीरी नवे सङ्गमे
 मरोहत्सुमका हरेण हसता दित्यष्टा दिवा पानु वः ॥

इत्वादिनिरेव भारती कृतिमाशयेत् ।

सा तु ।

भारती • • प्रहसनामुखा ॥५॥

पुरुषविशेषप्रयोग्यं संस्कृतबहुतो वाक्प्रधानो मटाभया व्यापारो
 भारती । प्ररोचना बीर्थाऽहसनामुखानि वाऽभ्यासहानि ।

यथोदयं सधलमाह ।

उम्मुकोटरण प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रसमनन शोणुणा प्रबुद्धमुनीकरणं प्ररोचना । यथा
 यत्नावस्थाम् ।

भीरुर्पो निपुसः नविः पश्चिमपैया नुपवाहिनी
 श्लोके हाटि च वसन्तप्रचरितं मादयं च ब्रह्मा वयम् ।

वास्तेर्कैक्यपीह वाञ्छितफलप्राप्ते परं किं पुन
मंभ्रायोपचयादयं समुचितं सर्वो गुणाना यत् ॥

बीजो 'तत् पुन' ॥६॥

सुत्रयारो 'तवाभुजम् ॥७॥

प्रस्तावना 'अयोवशा ॥८॥

तत्र कवाच्यता ।

स्वेतिवृत्तस्य 'द्विषत् स' ॥९॥

वाक्यं यथा 'स्नायस्याम् । योगन्वरायण । द्वीपादभ्यस्मादपीति ।

वाक्यार्थं यथा वेणीसहादे । नृपचारः ।

निर्वाणवत्तिहना प्रशमादरीर्षा

मग्नन्तु पाण्डुरनया सह केचयेन ।

नृत्तप्रसाधितमुक् अतविग्रहात्

स्वस्वा भवन्तु कुहुराजमुता समुत्पा ॥

ततोऽर्चनाऽऽह । भीम ।

मातागहानसविपामसथाप्रवेश

प्राणेषु वित्तनिचयपु न न ग्रहस्य ।

मातृरूपावश्ववधूपरिचानकसा

स्वस्वा भवन्तु मयि श्रीवति वातराष्ट्र ॥

अथ प्रवृत्तकम् ।

कालसाम्य प्रवृत्तकम् ।

प्रवृत्तकालसमागुप्यवर्णनया भूवित्तपात्रप्रवेश प्रवृत्तकं यथा ।

आसादितप्रवटनिर्ममचग्रहास्त

प्राप्त वास्तव्य एष विद्युत्काम् ।

उभ्याय मातृसमर्प यमकाभद्रुप

रामो दद्यात्समिक् सम्भूतवपुर्जीव ॥

ततः प्रवितति यथाविष्टी राम ।

अथ प्रमाणातिशयः ।

एषोऽयमित्यु० 'मत्त' ॥१०॥

यदा एष राजेन दुप्यम्य इति ।

यय भीष्मकानि ।

उत्पात्यकावन्मते जयोददा ॥११॥

तय ।

गुहार्चपद० 'तदुच्यते' ॥१२॥

गुहार्चं यद उत्तर्यामिरचेत्येव माता । प्रस्नोत्तरं जत्येवं ना माता ।

हयारणिप्रसुप्तो तद् द्विविधमुत्पात्यकम् । तवाऽऽथ विष्णुमोर्षसा यथा ।
विदूषकः । 'ओ वयस्स को एसो कामो येण तुमं पि बुमिग्गसे सो किं
पुरिसो घाहु' इत्यस्मिन् । राजा । उच्ये ।

मनोज्ञातिरनाबीना मुचेप्यव प्रवर्तते ।

स्नेहस्य जनितो मार्यं काम इत्यभिधीयते ॥

विदूषकः । 'एवं पि ए जाणे । राजा । वयस्य इच्छाप्रमदं उ
इति । विदूषकः । 'किं ओ वं इच्छदि सो व कामेदिति । राजा ।
यय निम् । विदूषकः । 'ता जानिब अहं अहं भुयमारसामाए भोग्गणं
इच्छामि ।

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे ।

का रत्नाय्या गुणिना दमा परिमव का व स्वकुस्यं कृतं

किं दुष्ट परसंभयो जयति क रत्नाय्या य माभीयते ।

को मृगयुष्मस्य गुणं ज्ञाति के र्गनिजितः ययव

र्कजिज्ञासमिदं विपटमवरे छन्मस्तिर्तं पाण्डवी ॥

१ ओ वयस्य क एव कामी येन स्वमपि दूयते स किं पुरपोऽयवा
स्त्रीति ।

२ एवमपि न जानामि ।

३ किं यो परिच्छति स तत् कामयतीति ।

४ तज्ज्ञातं यथाहं भुयमारसामाए भोग्गणमिच्छामि ।

यथाऽन्यमपि तम् ।

यथैकम् • गितं द्विषा ॥१३॥

तत्राऽन्य यथोत्तरवर्तिते । समुत्पन्नजनविहारमर्भदोहदामा सीताया
दोहदकार्ये प्रमुप्रविध्य जनापवादावरण्ये त्यागः । द्वितीय यथा उत्तरारामे ।
राम । सदनए तातविपुस्तमयोष्या विमानस्थो नाऽह प्रवेष्टु क्षमोमि ।
तद्वर्तीयं गच्छामि ।

कौंसि तिहासनस्याऽब स्थित पावुक्यो पुर ।

वटावानक्षमानी च कामरी च विरजते ॥

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धि ।

अथ प्रपञ्च ।

यत्किञ्च • • मत ।

यस्य तत्राऽन्येन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योऽप्यस्तुति स
प्रपञ्च । यथा कर्पूरमञ्जरीम् । मैरवानन्द ।

१ रक्षा चक्षा द्विषिता चम्पदारा मज्जं मंतं पित्र्यए कज्जए म ।

निरक्षा भोग्यं चम्पकच्छं च सैरजा कोलो चम्पो वस्स एवो होइ रम्पो ॥

अथ त्रिमतम् ।

यसिन्ता • तविष्यते ॥१४॥

यथा बिभ्रमोर्बदयाम् ।

मलाना कुमुमरक्षेण वटपदानां

गम्भीर्य परभृत्तनाह एव श्रीर ।

ईनामि भुरगस्तुसिद्धि समन्तात्

किमन्य कमनचुराक्षरं प्रगीता ॥

अथ उभयम् ।

प्रियार्भर • • धूलम् ।

यथा वणीसंहार । श्रीमार्जनी ।

१ रक्षा चक्षा द्विषिता चम्पदारा मज्जं मंतं पित्र्यए कज्जए म ।

निरक्षा भोग्यं चम्पकच्छं चम्पा कोलो चम्पो वस्स न भवति रम्पो ॥

कर्ता द्यूतच्छतामां जतुममशरणीदीपन सोऽग्निमानी
 राजा दुष्पासनाद्वर्गुदरनुव्रततस्याऽङ्गराजस्य मित्रम् ।
 हृद्भगाकेसोत्तरीमव्यपनवनपट्ट पाण्डवा यस्य दासा
 ववाञ्जते दुर्योधनोऽग्नी वचमत् पुरया द्रष्टुमभ्यागती स्वः ॥
 यत्र बाणकेमी ।

विनि० द्विषि वा

यत्प्रेति बाणस्य प्रफान्तस्य साकाङ्क्षास्य विनिवर्तन बाणकेमी
 द्विनिर्वा उचितप्रत्युत्तमम् । तत्राञ्ज्या यवातरचरिते । वासन्ती ।

त्वं भीषित त्वमसि न हृदय द्वितीय
 त्वं कीमुदी नयनयोर्युत त्वमङ्ग ।
 दत्ताविनि प्रियसर्तनुदध्य मुग्धा
 तामेव साधनमयथा किमत्तः परेण ॥

उचितप्रत्युत्तमो यथा रत्नावस्थाम् । विदूषकः । 'मोहि मधलिणं मं
 पि एवं वचनरिं सिपलावेहि । मदनिका । इवात्त ए वक्षु एसा वचनरी
 दूवदिल्लज्जकं वक्षु एवम् । विदूषकः । मोहि किं परिणा लख्खेण मोदघा
 करीयन्ति । मदनिका । ए हि पक्षीसरि वक्षु एवमित्यादि ।

प्रवाग्निवचनम् ।

यस्योत्थ० मवेत् ।

यथा बेणीसहारे । पर्वण ।

मचनरिपुत्राणां यत्र बद्धा मुनेन्द्रे
 तुणमिव पविभूतो यस्य गवसु लोकाः ।
 रणुधिरति निहन्ता तस्य राधागुप्तस्य
 प्रममति विनयी वा मध्यमः पाण्डुपुत्रः ॥

इत्युपक्रमे । राजा । यदे माञ्छ मवानिव विरुत्पनाप्रगल्भ । किन्तु ।

१ मचनि मदनिके नामप्येतां कर्षरीं प्रियाय ।—हृदारा न यसु एसा
 कर्षरी द्विपदीलज्जकं लख्खेतत् ।—मचति किमेतेन लज्जन मोदकाः
 विन्यते ।—न हि पक्षीयते कायेतत् ।

इदयन्ति न विरान् सुप्तं वाग्ववास्त्वा रणाङ्गण ।

मदयशमि नवशोस्त्रिषेणवामञ्जुभीषणम् ॥

इत्यनेन भीषण्योषनयोरग्योग्यवाक्यस्याऽऽविनयोक्तिरभिबक्षम् ।

सर्व मण्डल १

गण्ड • विष्णु ॥२५॥

यथात्तरपरितः । गमः ।

॥५॥ येहे सद्यीरियममुतबतिर्नयनया।

गुहायस्मात् स्पर्शोऽप्यपि बहुलमस्मद्वत् ।

प्रयं वाह कष्टे प्रितिरममणो नीतिरसः

किमस्या न प्रबो यदि परमसङ्गस्तु पिरह ॥

प्रविश्य प्रतिहायी । 'बेष उधरिब्यो । राध । अयि क । प्रतीहायी ।

वेदस्य प्राप्त्यणपीत्यारमो इहम्माहो इति ।

प्रवाज्जस्यारिहत्तम ।

एतौयत • ततः ।

यथा छानिनरामे । सीता । "आ" ध्वनिं यन् तुच्छेति परगम्भाए

नमः । तर्हि सो राजा विष्णुपुत्रात्मनिदम्बा । सब । सम्यक् विमर्शान्ध्या

बोयजीविभ्या भवितव्यम् । सीता । जाय मो वप्स तूम्हाण पिदा । नव ।

मादया एवपतिः पिता । मीठा । साधकम् । जादय कथं परं तुम्हारां

प्रस्ताप् उदग्गं पृथ्वीम् इति ।

अथ नायिका ।

सोमहाता षष्ठिका ॥१७॥

यथा मुनिरात्रसे । अह । ३ शरीर ब्रह्मण मा ब्रह्म । किं पि सत्

१. देश उपस्थितः ।—देशकालासारूपविज्ञानको कार्यः ।

४ आत कस्य एत यथास्यामलोस्यामि भवसा भवि भवसा

ममोपेक्ष नमित्तम् ।—आत स एतत् प्रथमः विद्या ।—आत स एतत् प्रथमः

४०) मङ्गलायाः पञ्च प्रथम्याः ।

३. हंशो वाज्रस्य भा कप्प हिमसि तक्षोपाध्यायोः अथानी हिमस्यस्य

उपगम्यो जागृहि नि पि जम्हाहिमा जना जागृहि । धिप्य- । किम
स्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छति । अर । यदि हे उपगम्यो सर्वं
जागृहि ता जागृहु दाव कस्त चन्दो दणभिप्येवोति । धिप्य- । किमनेन
तान्न भवतीत्युपपत्ते । आलुवयः । अम्भुप्लावपरकतान् पुस्यान् जानामी
स्तुस्त भवति ।

अथास्तत्रापा- ।

अतस्त- यथोत्तरः ।

ननु चास्तम्भद्वार्येऽस्तम्भकृतिर्नाम वाच्यरोप उक्तः । तन् न ।
उस्तम्भान्वितमदोमादौपादीनामस्तम्भप्रकापितैव विमाक । यथा ।
अभिप्यन्ति विचार्य अथकुह्युपायसुक्करो वामुके
रह्युपाय विपक्युरान् मलयत मसृक्ष्य दन्ताङ्कुरान् ।
तर्कं श्रीनि नवास्त- तत्तपदिति प्रव्यस्तसह्यपात्रमा
बाध- श्रीम्भरिपो पिपुत्वविकता श्वेदाति पुप्यन्तु व ॥
यथा व ।

हृत् प्रवच्छ मे कास्ता नतिस्तस्यास्त्वया हृता ।

विजाविनैकदेशेन देव महमियुम्यते ॥

यथा वा ।

भुक्ता हि यथा विरय स्नाताऽहं नक्षिना पिवाभि विद्वत् ।

हरिहरिहिर्ययम्री मत्तुनास्तेन नृत्पामि ॥

अथ व्याहारः ।

आयार्थ- अथ- ।

यथा मालविकाभिनिमित्त भाग्यप्रयोगावसाने । मालविका निर्वर्ग्य
मिच्छति । विनूयक । 'मा दाव उपगममुद्धा नमिस्तसीत्युपपन्न दणदास' ।

इया जना जानन्ति ।—यदि त उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु
तावन् करय चन्द्रोऽनिये १ इति ।

१ मा तावन्नुपदेयमुद्धा नमिष्यति ।

विदूषकं प्रति । चाय उच्यते यस्त्वया कथयता सति । विदूषक ।
 'पदं पश्यते ब्रह्मणस्तु पूमा मोहि मा तए सङ्गिदा । मालविका स्मयत
 इत्यादिना नायकस्य विधयधनामिकावर्णनप्रयुक्तेन हास्यसाधकारिणा
 बचनन व्याहृतः ।

अथ मुदकम् ।

बोवा 'तत् ॥१८॥

यथा शाकुन्तले ।

मवश्वेदकृषोवरं जयु भवत्युत्पानयोम्य बपु
 सत्त्वानामुपमयते विदूषितमिच्छतं ययनोदयो ।
 उत्कप उ च भक्तिता यदिपव सिध्यन्ति जयमे जने
 मिर्ष्यैव व्यसनं बहमिष्ट भुगयामीषुगु विनीत कृत ॥

इति भुगयादापस्य मुणीकार ।

यथा च ।

मदनमनिष्टु तमानममायासहन्सङ्गु लक्सिणम् ।
 दतनिद्रमविदवास जीवति रात्रा विगीपुदयम् ॥

इति रात्र्यगुप्तस्य दापीनाम ।

उपमं वा ।

सप्त भक्तवर्तिनीदयम्यसनिन प्रादुर्भवद्यन्त्रणा
 सर्वैर्नव अनापवात्तकिता जीवन्ति कुलं सदा ।
 यन्त्रुत्तरान्नमति कृतन न सदा नवागता व्याकृता
 पुत्रापुत्रविशेषकूम्प्यह्वयया धम्या जन प्रादुत ॥

इति प्रस्तावनाङ्गादि ।

एवा० प्रपञ्चयेत् ॥१९॥

तत्र ।

अमिपम्य० 'महीपति' ॥२०॥

प्रक्यातर्षणी० ०ऽऽधिकारिकम् ॥२१॥

१ प्रथमं प्रत्युक्त व्याहृतस्य पुत्रा भवति सा तथा सङ्गिता ।

यत्किञ्च ते सत्यवाचसंवाचकारिणीति सास्त्रप्रसिद्धाभिप्रायिकादिगुणै
र्युक्ता रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो बीरोदात्ता राजविहिंस्यो वा नामकः
तत्प्रत्यासमेवाऽत्र पाठके प्राधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यत् प्रकल्पयेत् ॥२२॥

यथा उपना धामिबन्धो मायुपाजेनोदात्तराजने परित्यक्त । बीर
वरिते तु राजगसीहृदेन बानी रामवर्षार्थमागतो रामेव हृत् इत्यग्न्या हृतः ।

आद्यस्तमेवं कल्पयेत् ॥२३॥

प्रतीक्षित्यन्तविरोधपरिहारपरिमुञ्जीकृत मूचनीयवर्णार्थवस्तुविभाग
फलानुसारेणोपक्रम्युत्तरीजविन्दुपठाराप्रकरीकार्यसंज्ञार्थप्रवृत्तिकं चञ्चा
यस्वानुमुष्यत चञ्चला विममेत् । पुनरपि र्चकैवस्य ज्ञागम्य द्वादश जयो
दस्य चतुरदंस्तेवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभायान् कुर्यात् ।

अतु-वच्छिस्तु ग्यसेत् ॥२४॥

अपरमपि प्रामाण्यकमिति वृत्तमेकार्थगुणमिभ्युत्तममिति प्रधानेति
वृत्तादेवादिभिपुत्तुमिरनुसन्धिभिभ्युत्तं यथाकेतिवृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि च
प्रधानाविरोधन यथाज्ञानं न्यमनीयानि प्रकरीतिवृत्तं स्वपरिपूर्वसन्धि
विधेयम् ।

तत्रैवं विमन्ने ।

आसी कायमुचिततः ।

इयमत्र कार्यमुक्तिः ।

अपेक्षितं तथैव ॥२५ २६॥

न च ।

प्रत्यक्षः साधयः ॥२७॥

अङ्गप्रवम साध्यान् निर्दिश्यमाननायकस्यापागो विन्दुपक्षेपार्थपरिमितो-
न्नेकप्रधारणमविधानरसाधिकरण उक्तङ्ग इवाऽङ्ग ।

तत्र च ।

अनुभाव परिपोषणम् ॥२८॥

अङ्गित एवाङ्गीकृतसम्पायिनः तद्वद्वाङ्ग स्वायिर्भिति यथान्तरस्या

मिनो पदणम् । गृहीतमुक्त परस्परस्यतिदीर्घोरित्यर्थः ।

न चातिरसतो ० सप्तम ॥२६॥

अथाह्वयङ्गोपमादिबलाणामुपग्राहिभिः ।

एते ० तत् ॥२७॥

तनु च रसान्तरस्यामिशेषमेवैव रसान्तरालायङ्गस्वमुक्तम् । तन्
न । यत्र रसान्तरस्यायी स्वानुभाविमाद्यभ्यभिचारिपुस्तो म्रममाप
निबध्यते तत्र रसान्तरग्रायङ्गस्वम् । केवलस्यायुपनिबन्धे तु स्यामिनो
भ्यभिचारित्वम् ।

दूरान्तरं चाप्युपेयम् ॥२८॥

अन्तरं निबिद्यते ।

अङ्गुर्नोपनिबन्धीत श्वेषकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

नाभिभारिबन्धं न च ॥२९॥

मामिदुत्तमायकवर्षं प्रवृत्तकादिनायपि न सूचयन् । आद्यकं तु देश
पितृकान्यायकवर्षमेव वचयन् कुर्व्यान् ।

एकाहा ० निर्मम ॥३०॥

एकदिवसप्रवृत्तकप्रयोदशमन्वत्तमासमन्मायकमष्टपात्रप्रवृत्तमष्ट
कुर्व्यान् । तेषां पात्राणामवश्यमकुस्यान्ते निर्ममं कार्यम् ।

पताकास्या ० चरम् ॥३१॥

इत्युक्तं मातृकमञ्जम् ।

अथ रसादिहम् ॥३२ ३३॥

इति । कविबुद्धिचिन्तितमितिबुत्तम् । साकर्मभयमपुत्रालयमायाद्यन्यत्
पीरप्रगाम्यतापदं विपरस्परितार्थमिति बुयन् । प्रकरणे मन्त्री अमात्य
एव । सावेवाहौ बगिनिदोय एवमि त्यन्मम्यन् ।

नायिका ० भूतसङ्ग जय ॥३४-३८॥

अथाभूति सात्रया औषधमिति बोध्या । तद्विधेया मणिवा । यदुत्तमम् ।

धात्रिरभ्यविता वेद्या अयसीनमुत्तामिडा ।

मयत गविनायक्य स्यात् न अमर्तसदि ॥

एवं च कुसुमा वैश्या उभयमिति नवा प्रकरणं नायिका । मया वैश्यैव
 तरङ्गदत्त कुसुमैव पुण्यपूयितके । त द्वेऽपि मृच्छकटिकायामिति । कित
 वदुतकादिभूतसङ्गं न तु मृच्छकटिकादिभूतं सङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

अथ नाटिका ।

सक्यते •वृत्तये ।

अथ केचित् ।

अनयोश्च बन्धयोपादेयो भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।

प्रत्यातस्त्विदरो वा नाटीसङ्गामिते वाच्यं ॥

इत्थमु मरणीय बन्धोपादेयो भेदः प्रख्यातो नाटिकास्ये इतरस्त्वप्रत्यातः
 प्रकरणिवासङ्गः नाटीसङ्गया द्वे काव्ये साधिते इति व्याचक्षाणाः प्रक
 रणिकामपि मग्न्यन्ते । तदस्य । उह् यमशत्रुयोरनभिमानान् समानतद्व्यस्ये
 वा भेदाभावान् । वस्तुरमनायकानां प्रकरणाभवात् प्रकरणिवादा ।
 यतोऽनुहिष्याया नाटिकाया मन् मुमिता नखरां हृत तत्राज्यमभिप्रायः ।
 पुत्रसङ्गसङ्गुपादेव तस्मिन्नालो सिद्धं सङ्गुकरणं सङ्कीर्णं नाटिकैव
 कर्तव्यमिति निबन्धात् विज्ञायते ।

तमेव सङ्गुरं वर्णयति ।

तत्र सङ्गुः ॥३३॥

उत्पाद्येति कृतत्वं प्रकरणवर्गं प्रत्यातृपनायकादित्वं तु नाटकवर्गं
 इति । एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्तुपादेः प्रकरणावाममा
 वारङ्गुपादभवात् यदि भेदः ।

तत्र ।

स्त्रीप्रायः •अन्यतद्व्यस्यता ॥४०॥

तत्र नाटिकेति स्त्रीममाभ्यधीषित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम् । कैचिकी-
 पुरयाऽन्यतद्व्यस्यत्वात् च तदङ्गुतद्व्यस्यताऽप्राधान्यत्वेन वस्तुरङ्गत्वमप्यधीषित्य
 प्राप्तमव ।

विद्येयस्तु ।

इदो •मैतुसङ्गम ॥४१॥

प्राप्या तु ।

नायिका •ममोहरा ।

तानुमीति नृपबन्धवत्त्वान्निर्मातिरेष ।

प्रस्त• •वर्गानेः ॥४९॥

प्रशुरापो •शक्तिः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्त पुरस्वम्बमसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्या
मन्माया नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरि उत्तरोत्तरो भवावस्थानुरागो
निबन्धनीय ।

कैशिक्य० •नायिका ॥४३॥

प्रत्यङ्गोरनिमडाभिहितमजगत्कैशिक्यङ्ग चतुष्टयवती नाटिकेति ।

मय भाण ।

भालस्तु विटः ॥४४॥

सम्बोधनो •स्तौ ॥४५॥

ध्रुवसा •वधामपि च ॥४६॥

इति । वृत्तिरधीरत्तुकारावयः तेषां चरित मनेक एव विटः स्वकृतं परकृतं
बोधवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद् भाणः । एवस्य बोधिप्रत्युत्पन्न
प्रादाद्यभाषितैरामिद्विनातरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाद् च बीरगुणाती
सौमाम्यमीषोरवलनया मूषनीयी ।

भास्वाङ्गानि ।

मेवं द्विष्टकम् ॥४७॥

उत्तमो •कल्पनम् ॥४८॥

गेय स्तुतिमिति ।

मय प्रहसनम् ।

तद्वत्• सङ्कटं ।

तद्वदिनि भाणवद् वपुर्गपिमध्यङ्गभास्याधीनामतिरुहः ।

तत्र मुदं तावत् ।

वाङ्महि• •वधोग्दितम् ॥४९॥

पावनिहत-धाव्यनिर्गन्धप्रभृतयः । विप्राश्चाश्रयस्तमुज्ज्वल- । चादि
माशोपजीविनो वा । ग्रहसन्निहितास्त्वपिमावास्तेषां च यथावत् स्वभ्यापा-
रोपनिबन्धनं चेटचेटी व्यवहारयुक्तं सुखं ग्रहसमम् ।

विकृतं तु ।

कामुका० • भूर्तसङ्कुलम् ।

कामुकादयो भुजङ्गचारमताद्या तद्वयमापादियोगिनो यत्र पञ्चकञ्चु-
क्रिशापसङ्काशस्तद्विहृतम् । स्वस्ववपप्रभ्युतविभाषत्वात् । भीष्मकैरतु
सङ्कीर्णत्वाद् सङ्कीर्णम् ।

रसरत्नं • यत्नं तु ॥१८॥

इति स्पष्टम् ।

यत्र हिमः ।

हिमैः • भुजङ्गा ॥१९॥

रसरत्नं • चेद्विहृतं ॥२०॥

यत्नं • स्मृतः ॥२१॥

हिमसङ्काश इति नामकसङ्काशव्यावारात्मकत्वाद् 'मि' । तत्रेतिहास-
प्रतिष्ठमितिभूतम् । भूतमप्यत्र कैमिकीर्णवर्णितम् । रसरत्नं बीरपीडवी
मरसाद्भूतकरचमवान्वा यत् । न्यासी तु रीति न्यायप्रधानो विमर्शयहिता
मुक्तप्रतिमुत्तमर्मनिर्गहणाभ्यासवत्त्वात् । तन्मम साक्षात् । मायेन्द्रजा
साधनुमावसमाभ्या । यत्र प्रस्तावादिनष्टकम् । एतच्च च

इदं त्रिपुरदाहेन तदाय ब्रह्मलोकितम् ।

तत्रस्त्रिपुरदाहश्च हिमसङ्काशं प्रबोधितम् ॥

इति नरतनुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिभूतस्य तुस्वरमर्णितम् ।

यत्र व्यामोयः ।

व्यामोयः • रसाः ॥२२॥

यत्रही • भक्तुनिगदं ॥२३॥

व्यादुम्यस्तर्ज्ज्वलं बह्वं पुनया इति व्यामोयः । तत्र हिमसङ्काशं रसा-
यद् दारमशुक्लारहितम् । नृत्यारमणत्वाच्च रसानामवर्णने 'मि' कैमिकी

रहितेनरवतित्व एतदेव सभ्यते चरुमिमित्तकथाऽत्र सधाम । यथा
परपुरामेण विदुष्यकोपात् सहलाजुनवध कृत । शेष स्पष्टम् ।

यथ समवकारः ।

कार्यं सग्ययः ॥२६॥

वृत्तयो वृत्तक ॥२७॥

बहुबोरः ० स्त्रिभविद्वयः ॥२८॥

द्विसन्धिः ० काद्वयः ॥२९॥

वस्तुस्वभावः ० विद्वत्ता ॥३०॥

धर्मादः ० यथा ॥३१॥

यमवहीयन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः । तत्र पाठकादिब्रह्मामुगमिति
समस्तवपकानामामुगप्रापणम् । विमयववितास्वत्वारः सग्ययः । देवामुरा
रवो द्वादशनामकाः । तयो व कमानि वृत्तक वृत्तम् भवन्ति । यथा सधुह
नपते बामुदेवादीनां सदम्यावित्तानां । शीरत्ताङ्गी यङ्गभूतां नव
रता । ययोऽङ्गा । तेषां प्रथमो द्वादशनामिकानिर्बुलति वृत्तप्रमाणः ।
यथानङ्गव चतुर्द्विनामिकावन्धी नामिका च वटिकावृत्तम् । प्रथमं च
यथाऽङ्गव कस्या । तथा यमरोपरोधयुक्तवाताम्याविबिद्वत्तां मध्ये एकंका
विद्वत्ता काय । धर्माविकामशृङ्गाराणामेकैकं शृङ्गारः । प्रत्यङ्गमेव विधा
तव्य । वीर्यङ्गानि च यथासामं कार्याणि । विन्दुरवेद्यको नाटकास्तावति
न विधातव्यो । इत्यर्थं समवकारः ।

यथ बीबी ।

बीबी रत्नाम्बरम् ॥३२॥

पुषता ० प्रयोजिता ॥३३॥

बीबीवद् बीबीमाग यङ्गानां पर्यवर्तिनां मानवन् कार्या । विनायस्तु
रम शृङ्गारं यपरिपूषत्वान् मूयसा मूय्यः । रत्नाम्बराण्यपि स्तोत्र स्वर्ग-
नीमानि । केतिही कृति एतौभिण्यादवति । योगं स्पष्टम् ।

यथाङ्गः ।

उत्पृष्टः • नरः ॥६४॥

भास्वत् • वराजसौ ॥६५॥

उत्पृष्टिका इति नाटकान्तर्गताङ्गस्यवच्छेदार्थम् । सेषं प्रतीत
मिति ।

अपह्नामृग ।

मिषः • नायको ॥६६॥

व्यातो • विनेच्छता ॥६७॥

शुक्लारामा • महाराम ॥६८॥

शुक्लवदनस्या मायिका नायकोऽस्मिन्मीहते इतीहामृगः । स्याताम्यात
वन्तु अन्त्यं प्रतिनायको विपर्ययाद् विषययत्नानादपुनरुत्कारी विधेय ।
स्पष्टमस्यत् ।

हर्षः • शुद्धमन्त्रकृतः ॥६९॥

स्पष्टम् ।

इति श्रीविष्णुसूत्रोर्ध्वनिकस्य कृती दशवपावसाये लपकसंख्यप्रकाशो नाम
तृतीयप्रकाश समाप्तः ।

चतुर्थ प्रकाश

अथेवानो रसभेदः प्रदर्श्यते ।

विभाज्ये ० स्मृतः ॥१॥

वक्ष्यमाणस्वभावविभाजानुभावम्विचारिष्यारिष्यै काव्योपात्तैरभिन
योपबसितैर्वा श्रोतृप्रेषकाणामन्तविपरिवर्तमानोरवधारितैरस्यमाधनस्य
स्वामी स्वाधमोचरता निर्मलान्मसंविदात्मतामानीयमानो रस । तेन रसिका
सामाजिका । काव्यं तु तमाविधानम्यसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवदायुष्
वमित्यादिम्यपदेशवत् ।

तत्र विभाव ।

आयमान्तया द्विधा ॥२॥

एवमयमेव नियमित्यतिष्ठयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराद्विधिष्यैरुपपत्तया
आयमानो विभाव्यमानः सम्मानम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा या मायकादिर
नियतदेयकामादिर्वा स विभावः । यदुक्तं विभाव इति विभातायं इति ।
सारथ मयात्वं मयावसरं च रसपुपपादमिष्यामः । धर्मोपां चाज्जपन्नित्वा
ह्यनरानां घोरपयमानादेवाऽऽप्तादितत्तद्भावाभां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्ब
न्धिरादेन विभावितानां साक्षाद्भावनत्वेन विपरिवर्तमानावामामम्बनादि
भाव इति न वस्तु गूयता । तदुक्तं भर्तृहरिणा ।

दाव्योपहितवर्षास्ताम् बुद्धेर्विषयतां नतान् ।

प्रत्यक्षमिव कंठार्थान् साधनत्वेन मय्यते ॥

इति । पदसङ्ख्यीकृताऽप्युक्तम् । एवमेव सामा यनुगमादेन रसा निष्पद्यन्ते
इति ।

तत्राऽऽनम्बनविभावो यथा ।

अस्याः सर्वविधौ प्रजापतिरभून् अग्नौनुकामिप्रव
 शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु महता मासो नु पुण्याकरः ।
 वेद्याभ्यासजडः कथं नु विषयभ्यामृतकौतुहलो
 निर्मातुं प्रयत्नेन मनोहरमिदं कथं पुराणी मुनिः ॥

उदीपनविभावो यथा ।

अममुदयति चन्द्रवचित्रिकावीतविरव
 परिणतविमलिमिन् व्याप्ति कर्पूरगौरः ।
 श्वरुजतसमाकास्पधिमिर्यस्य पादै
 ज्वलन्मसनुग्रासी पञ्चरस्य विधाति ।

अनुभावी • सुचनारमकः ।

स्वादिवाकानुभावयत सामाजिकान् उभूविशेषकट्यादया रम
 पोपकारिभोजुमावा । एत आश्रमनयकाध्ययोरप्यनुभावयता साक्षाद्
 भावकानुभवकर्मन्तयाऽनुमयन्त इत्यनुमननिति आऽनुभावा रसिकेषु
 व्यपदिशन्ते । विहारो भावसंगूचनारमक इति तु लीङ्गिन्तरावेष्टया इह
 तु तेषां कारणत्वमयं यथा भवति ।

उज्ज्वलमाननमुक्लसत्कुचतट जोलभमद्भूत
 स्वेशाम्ब स्तपिताङ्गमष्टिबिगलद्बीड सरोभारम्बया ।
 धम्यः कोऽपि मुवा स मस्य वदने व्यापारिता तत्पूहं
 मुग्धे दुग्धमहाम्बिफनपटमप्रस्या वटाशच्छटा ॥

इत्यादि यचारतमुवाहुरिष्याम ।

हेतुकार्योत्तमोः • सध्यवहारतः ॥३॥

तयोर्विभावानुभावयोर्लीङ्गिकरसं प्रतिहेतुकार्यधुतयाः संध्यवहारादेव
 विद्यावान् न पृथग् सततमुपयुज्यते । तनुवतम् । विभावानुभावी लोका
 ससिद्धी लोकयानानुपायिनो लोकस्वभावोपगतत्वाद् च न पृथग् सततम्
 मुख्यत इति ।

अथ भावः ।

मुसुता • • भावनम् ।

प्रमुक्तार्थावपत्तेनापनिबध्यमानं सुबहुकादिकर्ममविस्तृभासम्
भासकचेतसो भावनं वाचनं भावः । तदुक्तम् । ग्रहो ह्यनेन रसेन गन्धन
वा सर्वमेतद् भावितं वासितमिति । यत् तु रसान् भावयन् भाव इति ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव इति च तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य
भावकाव्यस्य प्रवृत्तिमिति कथमम् ।

ते च स्वायिनो व्यभिचारिणश्चेति वदयमाणाः ।

पुनश्च ० भावयन् ॥४॥

परमतदुक्तहृषीकेशावनायामत्पन्थानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं । यदाह ।
सत्त्वं नाम मनः प्रथमं तत् च समाहितमनस्त्वाहुस्तद्यते । एतदेवाऽस्य
सत्त्वं यत् क्षिप्तेन प्रहृषितेन चाऽप्युरोमाकाङ्क्षयोः निर्बल्यन्ते तेन सत्त्वेन
निर्मुक्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत् सत्त्वमानस्वादभुप्रभृतयोऽपि भावा
भावसंयुक्तनात्मकविकारकमावाञ्चाः चाऽनुभावा इति हं कथ्यमवाम् ।

त च ।

स्तम्भः ० 'सुषुप्ततल्लला' ॥५॥

यथा ।

१ वैदह सेषदबदनी रोमाञ्चम गति ए वदह ।
विलगुस्तु तु वलय सहु बाहोप्रस्तीय रलेति ॥
मुहुर सामभि होई जाले विमुञ्जइ विद्यध्वज ।
मुठा मुहस्ती लुप देम्मेज सावि य विजइ ॥

अथ व्यभिचारिणः । तत्र सामान्यतत्त्वम् ।

- १ अथप्र शिक्रापपा जेव्या वसि सम्भाध्यते ।
वैपते त्वैवदवना रोमाञ्चं धावे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो तपु बाहुवस्स्या रलेति ॥
मुर्धं ह्यामसं वपति जग विमुञ्जति विद्यध्वज ।
मुग्धा मुजबली तव प्रेम्णा सावि य धैर्य करोति ॥
इतीकपुयस्यास्यानतिमुगमत्वात् सगिह्यत्वाच्चास्य व्याख्या न समी
चीना जाता ।

विद्येया० वारिणी ॥६॥

यथा वारिणी सत्येव कस्तोता द्रव्यवन्ति विनीयन्ते च तद्वदेव
रस्यादी स्वायिनि सत्येनाऽऽविर्भावितरोभावाभ्यामभिमुख्यतः परतो
कर्तव्यानि निर्देशायौ व्यभिचारिणो भावाः । ते च ।

निर्देश० वयवच ॥७॥

तत्र निर्देशः ।

तत्त्व० ०वीमता ॥८॥

तत्त्वज्ञानान् निर्देशो यथा ।

प्राप्ता धियः सुकलकामपुयास्ततः किं
वत्त पद धिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्प्रीक्षिताः प्रत्युषिणो विमर्षस्ततः किं
कल्प स्थितं तनुमृतां तनुधिस्ततः किम् ॥

प्रापदो यथा ।

पानो विपद् बन्धुवियोगाद्बन्ध
वेदाभ्युत्तिष्ठुर्मममार्मवेव ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्कृतायाः
कल मयतश्चिरजीवितायाः ॥

ईर्ष्यातो यथा ।

विक विक सक्तचित्तं प्रबोधितवता किं बुद्धमकर्णनं वा
स्वर्पदामनिकादिभुष्टमपरि वीर्जं किमेभिर्भुजैः ।
म्यक्कातो ह्ययमेव ये महारयस्तत्राऽप्यसौ तापसः
भोऽयमेव निहन्ति राजसमदान् भीरुत्पादो राजनः ।

वीरशृङ्गारयोर्ध्वभिचारी निर्देशो यथा ।

ये बाह्वो म युधि वैरिणोऽरकष्ट-
वीटाण्डसत्र विरराजिबिराजितायाः ।
नार्द्रि प्रियापृथ्वयोपरपथमद्भु
सह्यान्तनुद्भुमरसा नमु निष्कृतास्ते ।

प्राप्तमानुष्यं रिपुं रमणीं वाङ्मममानस्य निर्वेदाधियमुक्तिः । एव
छान्तराखामप्यङ्गभावं उवाहाय ।

रसान्धम् स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा ।

कस्त्वं मो कययामि ब्रह्महृत्कं मां बिद्धि शारोटक
वराण्यादिषु बिद्धि साधु बिद्धि कस्माद् यत् भूयताम् ।
वामेनात्र बटस्तमप्यपजम सुवर्त्मना सवत्
न ज्ञायाऽपि परापकारकरी मागस्त्वितस्याऽपि मे ।

विभावानुभावस्याङ्गान् भवेदादनेकशाधो निर्वेदो निर्वर्त्तनीयः ।
अथ गतानि ।

एत्याद्याः • • • • • ॥२॥

निबुद्धकस्मान्मासादिधमस्तुदुष्टमनाविभिनिष्प्राणताम्पा गतानि ।
यस्यां च ब्रह्म कस्मानुत्पाहादयोऽनुसावा । यथा माये ।

सुनिश्चयनताद्यं धामवक्त्रमुचिम्बा
रजनय इव निद्रावसान्तनीतोत्पसाद्य ।
तिमिरमिव वचामा संशितं वयपाद्यान्
अवनिपतिगुह्यमो याम्बुमूर्वीरवम्ब ॥

येवं निर्वेदबहुलम् ।

अथ जन्ता ।

अथर्वं बरुस्वराम्यता ॥१०॥

तत्र परतोर्वाद् यथा रत्नावस्याम् ।

हिमा मयस्माज्जो हृग्नि विदिताज्ज्योति र्बन्ध
दयोषु पृथाऽस्ताप यस्यति कयामात्मविषयाम् ।
सद्योऽमेरानु प्रकथयति ब्रह्मन्मपिदम्
प्रिया प्रापणाऽज्ज हृदयनिहितात्कुचिपुरा ॥

रदुर्गवाद् यथा वीरवर्गित ।

दूराद् दधीपा यग्गीधराय
यस्तान्तर्यं तृषण्द् ध्यज्जोन् ।

हन्ता गुवाहोरपि तादृकानि
न राजपुत्रो हरि वामने माम् ।

अथवा रिताऽप्यहनुसर्गधम् ।

अथ अथ

अथ "अर्चनादय" ।

अथतो यथोत्तररामचरिते ।

अनसुमितमुन्मथाम्यधसञ्जातवेदा
दक्षिणपरिरम्बैरसंवाहनामि ।
परिमृष्टमृणालीदुर्बलाम्यङ्गकानि
हमृष्टि मम कृता यत्र निद्रामवाप्ता ॥

एतिथमो यथा मात ।

प्राप्य नमस्वरनादितिभूमिं दुर्बलमनसरा नुरतस्य ।
अथमु अमज्जार्जुननाटिस्तिष्ठैरामसितामवैरयः ॥

रत्नाद्युत्पद्यम् ।

अथ पुति ।

सप्तोपी ० बीगहृत् ॥११॥

आनाथ यथा अन्तु हृदिष्ठके ।

अथमिह परितुष्टा अन्तर्जस्तं व लक्ष्म्या
मम इह परितोपी निर्विरोपी विरोध ।
म नु मबलु अग्निहो अस्य लृप्ता विद्याना
मनसि च परितुष्टे कोर्ज्वलान् नो हरिः ॥

अविनता यथा रत्नाद्युत्पद्यम् ।

राज्यं निर्विस्तृतायु योम्य लक्ष्मिने श्वस्तं समरतो भर-
मध्यवपाजकपामिता अमिताभेयोवर्णा, अजा ।
प्रदानस्य भुता वमल्लमयसरथं धितिलाम्ना धृति
काम काममुपैत्यय यम पुनर्मम्य नानुरम्य ॥

रत्नाद्युत्पद्यम् ।

यव भवता ।

प्रवृत्तिः ० यस्तत्र ॥११॥

एष्टवर्तनाय यथा ।

एवमासि निगृहीतघातसं
राज्यो यति सेव्यतामिति ।
सा मन्त्रीमिरुपविष्टयाकुभा
मास्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिय ॥

मनिष्टयवजाय यथा । उवाचराधवे । राजस ।

तावन्तास्ते महारमानो निहता केन राजस ।
येषां नामकतां यातास्त्रिष्विह सरूपणा ॥

द्वितीय । गृहीतधनुषा राजसहकेन । प्रथम । किमेकाकिनैव ।

द्वितीय । यदुष्टा क प्रत्येति । पश्य तावतोऽस्मद्भवस्य ।

सप्तविंशत्यधिरुच्यभमज्जत्ककुपुताकुता ।
कञ्जका केवमं यातास्तापोताता रणाङ्गणे ॥

प्रथम । सवे यत्त वं तदाऽहमेवविह किं करवाणीति ।

यय हर्ष ।

प्रवृत्तिः ० मयमवा ।

मिवापमनपुत्रजमनोत्सवाविधिमाचरेतप्रमाशो हर्ष । तत्र चाप्यु-
पदेवद्यदावस्योजुभावा । यथा ।

मायाते हयिते मरुत्पत्तमुवागुत्प्रेष्य दुर्लभपतां
वेहिम्या पवितापवाप्यकमिसामासग्य दृष्टिं मूढे ।
दत्ता पीनुमधीकरीकञ्जलान् स्वेमाळ्यमेनाऽऽप्यु
धम्पुष्टं करमस्य नैसरसटामाराधमर्न रज ॥

निर्बेदविशुद्धमेयम् ।

धीमाया ० ० हिमत् ॥११॥

पारिग्रह्यकाराविधिमाचरेत्तत्त्वता जगता रीम्यम् । तत्र च पृष्ठा-
तामनिनवननरागाद्योजुभावा । यथा ।

बृजोऽयं पतिरेव मन्त्रवृत्तगतं स्मृत्यावशेषं मूर्धं
 कातोऽभ्यर्चत्रसागमं कुशलिनी वत्सस्य वार्ताप्रि नो ।
 यत्नात् सन्निवर्तनीतविन्दुवटिका भग्नेति पर्यानुता
 वृष्ट्या गर्भमपससा सुतवधू स्वभूदिचरं रंदिदि ॥

येव पूर्ववत् ।

पवीषपम् ।

कुट्टे० तावय ॥१४॥

यथा वीरचरितं आमन्त्र्यम् ।

उत्तुहस्योत्तुहस्य मर्मानिधि सङ्कल्पतं लवसन्तामरोपाद्
 उहामस्वीकृतिपत्यवधि विद्यसत् सवतो पात्रवर्षमान् ।

दिभ्यं तत्रक्तपूर्वसुहृदसवनमहानन्दमन्त्रायमान

शोषाग्ने कूर्बतो न न यत्तु न विदितं सवभूतं स्वभाव ॥

यप चिन्ता ।

ध्याने तापकम् ।

यथा ।

पश्माद्यप्रदिताभुविन्दुमिहरेर्मुक्ताफलस्यविभि

कूर्बत्स्या हृत्तासहारि हृदये हारावसीभूषणम् ।

वासे वासमृणामनामवमवासङ्कारकान्ते करे

विन्द्यस्याऽऽनममायतादि मुट्टी कीर्त्यं स्वया स्मर्यते ॥

यथा वा ।

अस्तमितविषयमन्त्रा मुकुलिगनयनोत्पत्ता बहुवचिता ।

ध्यायति किमभ्यसत्यं आसा योगाभिपुञ्जैव ॥

अथ नाम ।

गजिता० तावय ॥१५॥

यथा माव ।

नस्यन्ती चलद्वन्द्वरीविपट्टितोद-

र्वाभौर्ननिगद्यमाय विप्रमन्य ।

धुम्यन्ति प्रसममहो बिनाऽपि हेतो
सीताभि किमु सति कारण रमण्य ॥

प्रपाश्रूया ।

परोत्कर्षा० •तानि च ॥१९॥

यत्तं यथा भीरुचरित ।

यत्पितृषु प्रकटीकृत्येऽपि न फलप्राप्तिं प्रभो प्रस्तुत
इ ह्यन् वाहारविबिम्बचरितो मुक्तस्तथा कस्यया ।
सत्कर्षं च परस्य मानयसोबिम्ब सनं चाऽऽमन
स्त्रीरूपं च जगत्पतिर्वैद्यमुक्तो वृत्त कथं मृष्यते ॥

शौर्जस्याद् यथा ।

यत्ति परमुखा न धाम्यन्ते यत्तस्वमुखाजने
नहि परमघो निम्बाभ्याजैरन परिप्राञ्जितुम् ।
विरमति न चेद्विच्छाद पप्रसवतमनोरको
दिनकरवरात् पाणिच्छत्रैर्नृन् धममेव्यसि ॥

मम्बुजा यथाऽमरतटके ।

पुरस्तम्बा मोक्षस्त्रसनचक्रितोऽहं नतमुक्तः
प्रवृत्तो वैजयन्त्या विमपि निहितु वैवहृत्क ।
स्वप्नी रेखाग्याग कथमपि स तादृक परिणती
गता येन व्यभिक्त पुनरवयव नैव तदणी ॥
तनवचाऽभिमान स्वरदरगगनद्वन्द्वसदृश
मनस्विण्या शेषप्रगयरमसाद् गङ्गादगिना ।
यथा चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याऽभ्रकम्पुर्
रपा कङ्कास्रं मे निरसि निहितो बाणचरण ॥

प्रपाश्रूय ।

प्रपिष्टो० •तानि च ॥१७॥

यथा भीरुचरित ।

प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृजप्रवाहं प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पाससन्तानस्तन्मयमिब
करोति कृतिसावप्यतर्पितम्यम् ।

धीनेव प्रतिबिम्बितेव निहितेबोत्कौगम्यव च
प्रत्युप्तव च वज्रसारवटितेवाऽस्तनिष्ठातेव च ।
सा नक्षत्रेवसि कीर्तितेव विद्विषीक्ष्वेतोभुवः पञ्चमि
रिचन्तासस्तदितस्तुजासनिबिहस्युतेव जग्ना प्रिया ॥

धव मरणम् ।

मरणं • • • • • ॥ १२ ॥

मया ।

सम्प्राप्तोऽधिवासरे क्षणमनु स्वप्नरमकातायनं
वारं वारमुपत्य निष्क्रियतया निविचत्य किञ्चचित्परम् ।
सम्प्रत्यव निवद्य केनिकूररी क्षान्त सखीम्य मिष्टा
मौमिभ्या सहकारवेण कदम्ब पाणिग्रहो निर्मितः ॥

श्रमादिबद् गृह्णाराधयानम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमपि
गवनीयम् । अग्नय कामचारः । यथा वीरचरिते । पश्यन्तु भ्रमन्तस्ताड
काम् ।

हृग्मर्मभिदिपतदुत्कटककुपत्र
समिगतनुदागकृतस्फुरद ज्ञमज्ञा ।
मासापुटीरनुहरद्वयतुल्यनिर्वद्
उबधुपुबुधव्यनदमृकप्रसरा मूर्तव ॥

धव मवः ।

हृत्कोत्कर्षो • • • • • धमाविषु ।

यथा मावः ।

हावहारि हसिन् वचनाना कीदामं कृति विहारविशेषा ।
चकिरे भूमामुबोर्धव वप्या क्रामितेव सरजन यदेन ॥

हरादि ।

धव मुप्यम् ।

मुप्त० ०परम् ॥ २० ॥

यथा ।

मन्त्रि तुगुटीरे दोषकोणे यवानां
मन्त्रमपसास्यस्तरे सोपधान ।
परिहरति मुपुत्त हासिकम्भुमारान्
कुचकलसहोष्मावदरेयस्तुपार ॥

अथ निद्रा ।

मन्त्र० ०तावय ॥

यथा ।

निद्रार्थमीक्षितकुसो महामन्त्रराशि
नाज्यर्चयन्ति न च यानि निर्वर्कानि ।
अद्यापि मे मृगदृषा मन्त्रराशि तस्या
स्नाम्यक्षराणि हृदये किमपि न्वनमि ।

यथा च मान ।

प्रहृष्टमपनीय स्व निद्रासुतोत्पी-
प्रतिपदमुपहृत केनचिज्जाशुहीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया दृग्धुम्भा
ददपि विरमस्तर्क्यत नो मनुष्य ॥

अथ विद्या ।

विद्योक्तः ०मर्दने ॥ २१ ॥

यथा माय ।

विदरतिपरिणमप्राप्तनिद्रामुत्ताना
चरममपि मायित्वा पूरयेव प्रकृष्टा ।
अपरिचयितगात्रा कूर्दने न प्रियागाम्
अधिविममज्जपास्तौपमर्द तदय ॥

अथ प्रीति ।

कुराचारा ०मुन्नादिभिः ॥ २२ ॥

यथाऽनरघतके ।

पटामन्ने परपी नमयति मुक्तं वातविनया
हृदयमेव वाग्धस्यपहरति मात्राणि निभूतम् ।
न दधमोस्यायातु स्मितमुक्तसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तं प्रथमपरिहातं मन्त्रम् ॥
यथाऽनस्मारः ।

प्रावेगो० मादय ॥ २३ ॥

यथा मादः ।

प्राप्तिष्णुमि रसितारमुच्ये
मौलिकुपाकारवृत्तरङ्गम् ।
पुनायमानं पतिमापगतानाम्
असावपस्मारिणुमाद्यष्टे ॥

यथ मोहः ।

मोहो० ०वर्धमादय ॥ २४ ॥

यथा कुमारसम्भवे ।

तीक्ष्णमिषङ्गप्रमत्तेन कृतिं
मोहनं मस्तम्भमतेभिषाणाम् ।
अज्ञातमर्तृम्यसना मृगान्
वृत्तोपकारेव रतिर्विभूत ॥

यथा चोत्तरायणरिते ।

विनिश्चयेन दास्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहा निद्रा वा किमु विषयिभवे किमु यदः ।
तव स्वप्नं स्वप्नं मय हि परिपूर्वमिदमगणो
विकारः कोऽप्यनर्जयति न ताप न शृङ्गे ॥

यथ मतिः ।

मतिः० ०धीर्यति ।

यथा किराले ।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।

बुधते हि विमृश्य कारिणं गुणगुण्या स्वयमेव सम्पदः ॥

यथा ५ ।

न पश्चिता साहसिका भवन्ति

शुल्काऽपि ते सन्तुममन्ति तत्त्वम् ।

तत्त्व समावाय समाचरन्ति

स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥

प्रपाञ्चस्यम् ।

आलस्यं हिमत् ॥ २३ ॥

यथा मर्मव ।

बलति कञ्चिन्नन् वृष्टा

यच्छति बलनं कञ्चिन्नवासीनाम् ।

आसितुमेव हि मनुज

बुद्धमर्ममरामसा मुत्तु ॥

यथाऽऽनेव ।

आद्येयः • • • पसारतः ॥ २४ ॥

अभिहरा राजनिशवादि. तज्जुगयेव । यथा मर्मव ।

आपञ्चऽऽनेव सज्जं बुद्ध वरतुरन संनिधहि इत मे

राज्ञः ब्रह्माज्ञी वृषाणीमुपनय धनुषा कि किमङ्गप्रविष्टम् ।

सरम्भोभिहिताना धितिभूति गहनेऽन्योऽन्यमेवप्रतीच्छन्

बाहः स्वप्नाभिनुष्टे रक्षयि अविद्युता मित्रिपामाभिरासीत् ॥

इत्यादि ।

तनुबालं तनुबालं दास्यं दास्यं रथा रथः ।

इति बुधुनिरे विष्णुगुह्या मुनटीकतयः ॥

यथा ६ ।

प्रारम्भा तदनुजकेषु सहसा सम्पद्य सेकत्रियाम्

एतात्तागमकमवा किमिदमित्थालोचयन्त्याशुसा ।

प्रागेहृत्पुटब्रूमांश्च बटवो बार्चयमा धम्पमी
सद्यो मुक्षतसमाधयो निजवृषीप्यबोक्चपादं स्थिता ।

वाताबयो यथा ।

वाताहर्न बसनमाकुसमुत्तरीयम् ।

इत्यादि ।

वर्षवो यथा ।

देवे वपस्वसनवनव्यापृता बह्विहेता
मेहाद् मेहं फलकनिधिनीं सतुनि पङ्कमीता ।
नीधनप्राप्तानविरलजलात् पाणिमिस्तादृशित्वा
सूर्यच्छत्रस्थनिष्ठधिरमो योषिष्ठं सञ्चरन्ति ॥

उत्पातवो यथा ।

पीनस्तपपीनमुजसम्पुवस्यमान
कैलाससम्भ्रमविनोपवृत्तं प्रियाया ।
शेर्वांसि यो विसृजु निह्नुतलोपचिह्नम्
प्राप्तिङ्गनीपुनकमासितमिन्नुमीमे ॥

सहितवृत्तस्त्वनिष्टवृत्तमवगच्छाम्याम् । एवं यथा । उवात्तयवने ।
विज्रमाय । ससम्भ्रमम् । मयवन् कुसपत्रे राममद्र परिचायता परिचायता
मित्याहुनतां नाटयतीत्यादि । पुनश्चित्रमाय ।

मृगकर्म परित्यज्य विधाय विवर्तं जपु ।
नीयते ररासाश्रेण सप्तमणो मुञ्चि मसाम् ॥

राम ।

वस्तस्याऽजयवारिधं प्रनिमयं मय्ये कर्म रासमान्
वस्तवेषु मुनिविधीति यनमरवाप्रत्यय म नंभ्रम ।
माहासीर्मेनकम्यजामिति मुहु स्मेहाद् गुस्याचने
म स्वार्न न च गन्गुमाहुनमनेर्मुहुत्स्य मे निरक्षय ॥

द्रव्योनाप्रतिष्ठापितवृत्तमन्ध्रम् ।

इत्यादि । यथा चैव । प्रविशत गगनो ग मन्ध्रान्ती वानरः ।

वानर । 'महाराज एव तु पवनगुणस्थलागमणाय पहरितैरयादि देवस्त
हिममालान्जगुणं विममिषं महुबलमित्यस्तम् ।

यथा वा वीरचरिते ।

एह्य हि वत्स रघुनम्बन पूर्णचम
बुम्बामि मूर्धेति चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
भारोप्य वा हृदि विमानिघमुह्वहामि
बन्धेऽप्यवा चरणपुष्करकदम्बं ते ॥

कश्चिजो यथाऽमरघतके ।

क्षिप्तो हस्तावमलः प्रसममभिहतोऽप्यादवानोऽश्रुकास्त
गृह्णन् केष्टेऽपवास्तदचरणनिपतितो मेक्षितः सम्प्रमेण ।
घासिञ्जन् योऽननुतस्त्रिपुरयुधतिनि साधुनेषोत्पन्नाभि
वामीबाऽर्द्धापरानः स बहून् कुरितं घाम्मषी च दारणि ।

यथा वा रत्नावस्याम् ।

विरम विरम बहून् मुञ्च बुमाकुमलं
प्रमरयसि किमुञ्चरचिषां वनवासम् ।
विह्वलुतमुज्ज्वलं यो न शम्भुः प्रियाया
प्रलपयन्नमासा तस्य किं त्वं करोषि ॥

करिजो यथा रघुवंशे ।

मण्डिन्नवम्बः समुद्यमूर्त्त्यं
भग्नोऽपमस्तरेणं दागुने ।
धनापरिचात्यविह्वलयोषं
सेनानिवेपं तुमुर्मं जनार ॥

वरिष्ठगुं म्यातोऽपतक्षपायम् । तेन ध्याद्यपुकरमानराधिमवा
मावेगा व्याख्याता ।

यथा विनयः ।

१ महाराजतत् पशु पवननवनागमनेन प्रह्वरयादि देवस्य हृदयामार
जननं विह्वलितं मनुबलमित्यस्तम् ।

तर्हो ० मतकः ।

यथा ।

किं सोमेन विसङ्कितं स भरतो येनैतदेव कृतं
सद्यः स्वीतवृतां गता किमथवा मार्तण्ड मे मध्यमा ।
निर्घ्वेतम् मम विमिश्रितं द्वितयमप्यामामुजोऽप्रीं गुरु
मठाठाठककमिस्त्रनुचितं मय्ये विवात्रा कृतम् ॥

यथा ।

कः समुचितानिपेक्षादार्यं प्रख्यापयेद् गुणम्येष्टम् ।
मय्ये मयैप पुष्पीं सेवावसरः कृतो विधिना ॥

यथाऽवहित्पम् ।

सम्भा ० ० विविधा ।

यथा कुमारसम्मने ।

एवं वादिनि वेवपी पादर्वे पितुरजोमुनी ।
सीसाक्रममपत्राणि ममयायास पावती ॥

यथा व्याधिः ।

व्याधयः विस्तृतः ॥२७॥

दिङ्मात्र तु यथा ।

यच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुपु कृतं विमृता मुग्धोऽपिता
यत्त ईग्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः ।
यद्य एव परिनिर्बृति प्रवृत्ति सा श्वासी परं विद्यते
विषम्बो मय विप्रमोमजनिर्तुं पुनर् विमर्शनं तथा ॥

यथाऽग्माहः ।

अप्रेक्षा ० ० सितारूप ॥२८॥

यथा । याः शुभ्रराशतः शिष्ट शिष्ट बह मे प्रियतमामादाय गच्छ
सीतपुत्रमे । कथम् ।

नवजनधरः सग्नोऽर्धं न क्षुत्निगाधरः
सुरपशुतिर्दं कुरापृष्टं न तस्य पारासनम् ।

ययमपि पटुर्भासितो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्तिग्धा मिथत् प्रिया न ममोर्षधी ॥

हरयादि ।

यय विपादः ।

प्रारम्भः • विष्णु ॥१६॥

यथा वीरचरिते । हा धार्ये ताडके किं हि मामैतत् । धम्बुनि मन्त्र-
न्यसाधुनि प्राबाण व्यसन्ते ।

नम्येव राक्षसपते स्तमितः प्रतापः
प्राप्तोऽभूत् पश्मिषो हि मनुष्यपेतात् ।
दृष्टः स्थितेन च यथा स्वजनप्रमाथो
क्षेमं जगत् च निदण्डि कथं करोमि ॥

यथोरनुपयम् ।

कालाङ्गः • विष्णु ॥१७॥

यथा कुमारमभ्यवे ।

धारमानभामोक्ष च धीममानम्
भारक्षनिम्बे स्थितिमायतासी ।
हूरोपमाने स्वरिता बभूव
म्बीणां शिवानोदकलो हि वैपः ॥

यथा वा तत्रैव ।

पशुपतिरपि ताग्यहानि कृच्छ्राद्
अनिनयद्विस्तृतासमानमोक्षः ।
वमपरमवर्ध विप्रकूर्म
विभुमपि तं ययमी स्पृशन्ति भावाः ॥

यथा वापसा ।

भारतर्षः • अरुणः ॥१८॥

यथा विजटनितम्बायाः ।

सम्भवेन तदाविधानम्संविदुमीसनेन सम्पद्यते । तस्मान् न तावद्
भाषानां सङ्गान्धमानम् । बाध्यबाधकभावस्तु भाषान्तरैर्भाषान्तरितर
स्कार । न च यमिचारिणा स्वायिनामविदुष्यमिचारिभिः स्वायिनो-
प्रविद्वत्सत्त्वामङ्गत्वात् प्रधानविद्वत्स्य चाङ्गान्धायोगादानन्तयविरोधि
त्वमप्यनेन प्रकारेणावाप्तं भवति । तथा च मासतीमात्रं शृङ्गारान्तरं
बीमत्सोपनिबन्धेन न किञ्चिद् बीरस्य तदेवमेव स्थिते विद्वत्सत्त्वात्
सम्भवनत्वमेव विरोध हेतुः । सम्भविद्वत्त्वान्तरव्यवधानेनापमिबध्यमानो
न विरोधी । यथा ।

यत्तुङ्गादुमहेमिषहृद्बहुपरिममुमुपन्थु ।

मुहुकस्तद् धमत्तवणहृद्भङ्गं फिट्टद् यन्तु ॥

इत्यत्र बीमत्सोपनिबन्धेन भूतरमात्सरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विद्वत्-
प्रकाशान्तरेङ्गाद्यविरोधी परिहर्तव्यः । ननु यमैवताम्येणतरेया
विरजानामविद्वत्तां च ग्यग्मून्येनोपाशान तत्र भवत्वाङ्गस्वनाप्रविरोधः ।
यत्र तु ममप्रधानत्वेनाग्नेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् । यथा ।

१ एकतो ह्यहं पिशा यच्छतः समरतूपनिर्घोषो ।

येम्येण एपरसेण च महस्म होमाभ्यं हिमयं ॥

इत्याहो रत्पुमाह्वयो । यथा वा ।

मात्स्यमुत्सार्यविचार्यनार्यम्

घातयाममर्षादिभिर्ब्रह्मणु ।

मैत्रा निगन्धा किमु भूचराणाम्

तत्र स्मरस्मरदधितानिमीनाम् ॥

इत्याहो रतिहमयोः । यथा च ।

न्यं सा मोनाली त्रिभुवनमसामैवमनि

त चात्र्यं बुष्टात्मा स्वगुण्यहनं यनं मम तन् ।

१ एकतो राधिति प्रियात्रयतः समरतूपनिर्घोषः ।

प्रमत्ता एपरसेन च महस्म होमादिनि हृदयम् ॥

इतस्तीव्र कामा भुवरयमित ध्रुववहन
कृतो वयस्यार्थं कथमिदमिति आभ्यति मनः ॥

इत्यादी तु रतिश्लोचयो ।

घनै कस्मिन्कृत्वाप्रतिधरा स्त्रीहस्तरगतोत्पल
व्यगतोत्तं समुत्त विनयविरसा हस्तुष्करीकलज ।
एताः शोषितपङ्कजकुम्भमनुप सम्पूयकान्तं पित
स्यस्त्रिस्तोहसुता कपावचपकं प्रीता पितावाङ्मना ॥

इत्यादीकाश्रयत्वेन रतिश्लोचयो ।

एकं ध्याननिमीसनान् मुकुसित चञ्चुर्वितीय पुनः
पार्वत्या वचनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभाससप्तम् ।
अग्यवृत्त विष्णुचापमन्त्रकोषानसोदीपित
शम्भोर्मन्त्ररत्नं समाविसयमे तेजस्य पातु व ॥

इत्यादी समरतिश्लोचनानाम् ।

एकनाश्रया प्रविततकपा बीजते व्योमसंस्थं
भानोविम्ब सजलमृनितेनाश्वरेणाश्रमकान्तम् ।
महत्स्वेते वयितविष्णुवाङ्मनी चक्रवाकी
हो स्रष्टीणी रजयति रती नर्तकीव वयस्मा ॥

इत्यादी रतिश्लोचनोचनानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्यत् कथं न विधेय ।
प्रबोध्यते । अनाश्रयेक एव कथायी । तथाहि । एकतो रम्य पिता
रक्षादी स्वामिभूतोत्साहव्यभिचारितद्वारावितर्कबाधैतुसम्बेदकारणतया
कस्मात्संप्रामत्तुर्पयोक्ताशान् भोग्येन पुष्पगतीति भटस्यैत्यनेन पदेन प्रति
पादितम् । न च द्वयोः समप्रधानयोर्मध्योध्यमुपकार्योपकारकमापरहित
योरैकवाक्यमात्रो बुध्यते । विष्णुचापकाष्ठ सदृशमे वृक्षदानी कार्पन्तर
करपुन प्रस्तुतसदृशमीदानीमेव महदनीवित्यम् । यतो भर्तुः सदृशमेक-
रमिकतया दीर्घमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकलनो वीरमेव पुष्पाति । एवं
मात्सर्वनित्यादापि विष्णुवृत्तरतिपाठनाया हेतुमापादानां एवैक-
परत्वमायी भवत्येवमित्यनेन प्रकाशितम् । एवमित्यं सा साप्ताष्टावा-

दावपि रावचस्य प्रतिपद्यनायकृतया मिष्टाचरत्वेन भावाप्रधानतया च
 रौद्रस्यमिष्टादिनिषादविभावितकहेतुतया रतिक्रोमयोरुपादान रौद्रपरमेव ।
 अग्न कस्मिन्मङ्गलप्रतिपद्य इत्याद्यौ ह्याभ्यरसिकपरम्बमेव । एकं ध्यान
 निमीलनादित्याद्यौ शम्भामौवाग्तैरनातिप्यतया शमस्वस्यार्च्य भाव्यन्तर
 शमाद् वेसस्तस्यप्रतिपादनेन शमैकपरत्वेन समाभिसमय इत्यनेन स्फुटीकृता
 एकेनाश्रयस्याद्यौ तु समस्तमपि बाधय मभिष्यद्विप्रसम्प्रविपममिति न
 वचिदनेकतात्पर्यम् । यत्र तु शनेपादिबाधयध्वनेकतात्पर्यमपि तत्र बाधयाम
 श्नेनेन स्वतन्त्रतया चाश्वेद्वयपरत्वेत्यद्यौ । यथा ।

इमाध्यायेयतनु मुद्योतकटः सर्वाङ्गमीसाजित
 श्रीमोवया करणारविम्वसमितनाऽऽच्छास्तलोको हृदि ।

दिभाना मुद्यमिन्मुद्यन्वरवर्ध चन्द्रात्मचतुर्वर्धत्
 स्वाने यो स्वतनोरपस्ववर्धिका सा इनिमी शोऽजताद् ॥

इत्यादी तदेवमुक्तप्रकारेण रस्याद्युपनिबन्ध सर्ववाग्निरोच । यथा वा
 ध्रुवमात्रस्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाऽप्ये वर्यमिध्याम ।

ते च ।

रामुत्ताह० नीतस्य ॥३३॥

इह धान्तरस प्रतिवादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः । तत्र कैचिदाहुः ।
 नाश्रयेव धान्तो रसः । तस्याऽऽचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनामूलतया
 करणान् । अग्रे तु बह्नुत्तस्याऽऽचार्यं वर्णयन्ति । अनादिकालप्रवाहामा
 त्पगद्देवयोरेक्येतुमस्तकपराणां । अग्रे तु शौरवीमस्मादावन्तर्मां वर्ण
 यन्ति । एवं नदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा—तथाऽस्तु । सर्ववा
 नाऽनादावभिजयात्मनि स्वायित्त्वमरमाभि शमस्य निषिध्यते । तस्व
 शमस्याध्यापारप्रविश्वपस्याऽभिजयायीणान् । यत् ॥ करिचन् नावा-
 न्मशरी शमस्य स्वायित्त्वमुपवर्णितं तत् तु मलयवरायनुरागैराऽऽबन्ध
 प्रमुनेन विद्यापरवचननिरप्राप्त्याऽविच्छेद्यम् । न ह्य कानुवार्थविभावा
 सम्बन्धो विद्यानुरागापरायानुपसर्गो । यतो यथावीरात्साहस्यय तत्र
 स्वायित्त्वम् । तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वाभावेन फलदेना

प्रियोपादीष्टितमेव न सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रयुक्तस्य विजिगीषा
मन्तिरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यादिभिरित्येव प्राक् । अतोऽष्टादेव
स्वामिन । ननु न रसमाद् रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिबोवत्तमाचार्य ।
निर्बोदादिष्वपि तत् प्रकाममस्तीति तेष्वपि रसा इत्यादिना रसान्तराणाम
प्यर्थैरभ्युपगतरत्नात् स्वादिनोऽप्यन्ये वक्ष्यता इति व्यवहारमनुपपत्तिः ।

प्रबोध्यत ।

निबन्धा० मता ॥३४॥

विद्वद्वाविद्वद्वाविष्ण्वेदित्वस्य निर्बोदादीनामभावादस्वामित्वम् । अतएव
त विन्तादिस्वस्वभ्यमिवायन्तरिता अपि परिषोष भीषमाना वैरस्यमात्र
हृदि । न च निष्पन्नावमानत्वमेतेषामस्वामित्वनिवन्धनं हास्यादीना
मप्यस्वामित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्बोदादीनामपि फलवत्त्वात् ।
अतो निष्पन्नत्वमस्वामित्वे प्रयोजकं न भवति । किन्तु विरडुरविरटैर्मन्-
वरतिरस्तुतत्वम् । न च निर्बोदादीनामिति न ते स्वामिनः । ततो रसत्व
मपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्यामिन्वादेऽतदपामरसता । न पुनरेतेषां
काव्यमात्रं सम्बन्धः । न तावद् वाच्यवाचकमात्रं रसवाच्यमात्रेति
त्वान् । न हि शृङ्गारादिरसेषु वाच्येषु शृङ्गारादिष्वप्य रत्नादिष्वप्य
वा भूमन्ते । येन तयो उत्परिषोषस्य नात्रनिवयत्वं स्यात् । यत्रापि च
भूमन्ते तत्रापि विभावाविहारकमेव रसत्वमेतेषां न रसवाच्यमिष्येयत्वं
मात्रेण । नात्रपि सत्यमलक्षणावस्तत्त्वामाभ्यामिवायिनस्तु मध्यवरम
पक्षस्याप्रयोगात् । नात्रपि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा मङ्गायां
षोडशत्वारिंशः । तत्र हि स्वार्थं त्योतीमक्षणं षोडशत्वारिंशानामुपपन्नान्
स्वार्थे सरसद्वयतिर्मेङ्गाद्यन्तः स्वार्थं विना भूताप्योरसक्षितं तदुपपन्नमिति ।
अतः तु नाप्यत्रादिष्वप्य स्वार्थेऽलक्षनमसत्यं नयमिवाप्यन्तरमुपपन्नमिति ।
को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्पुण्यविरतं प्रमुञ्चति । सिद्धौ
मागवक इत्यादिष्वपि । अतएव पुनरुक्त्यात्रपि नैव प्रतीतिः । यदि वाच्य
त्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात् तदा केवलवाच्यवाचकयावमात्रमुत्पन्नवेत्त
सामप्यरसिजानां रसास्वादी भवेत् । न च वाच्यनिवस्वमधिगानेन सर्वं

सहृदयानो रसास्व रोद्रुत । यत कैचिदभिधाससजागोलीभ्यो बाष्प्याम्ह
रपरिकल्पितप्रकिण्मो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकवत्सद्यः शब्दव्यापारं रसा
न ह्यारवस्तुविषयमिच्छति । तथाहि । विभाषानुभावव्यभिचारिमुखेन
रसादिप्रतिपत्तिरप्यजायमाना क्वचिन् बाष्प्या स्यात् यथा कुमारतन्मये ।

विभुष्मती लीलमुताऽपि नावम्
घञ्जै स्फुटद्वासकदम्बवत्स्य ।
साबीकृता चारतरेन तस्थौ
मुच्यते पर्यस्तबिलाचनेन ॥

इत्यादावनुरागजग्यावस्याविरोधानुभाववद् गिरिजातलणुविभाषोपमर्तुना
देवाभ्यङ्गाऽपि शृङ्गाध्वनीतिरवेति । रसान्तरेष्वप्ययमेव म्भाव । न क्वचन
रसेष्वेव यावद् वस्तुमात्रऽपि । यथा ।

१ भ्रम भूमिषु बीजतो सो मुण्डहो धग्ग मारिषो तस्य ।
गोसावरोवरीरघुद्रुङ्गवातिना चरीरिहेन ॥

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरघाब्दाऽपि व्यञ्जकवत्तस्मिन् मूलैव ।
तथाऽन्यद्वारेष्वपि ।

नावप्यकान्तिपरिपूरितदिहमुनेऽस्मिन्
स्मेरेऽनुना तत्र मुने तरनायताति ।
द्योमं यवेति न मनावपि तेन मय्य
मुच्यते मय्य अमराधिरमं वयोधि ॥

इत्यादिषु चन्द्रमुष्य तन्मीवदनारविन्दमित्याद्यपमाद्यतद्वारप्रतिपत्ति
व्यञ्जकवत्तस्मिन्मीति । न चाऽसावर्थापनिजग्या । घनुरपद्यमानार्था
पेदाभावात् । नाऽपि नावयापत्य व्यङ्ग्यस्य तृतीयवदाविद्यवत्तान् ।
तथाहि । भ्रम धामिक्तरयादौ पदार्थविषयामिषानराण्यप्रमवदातिनाम्ह-
स्मिन्नावारवत्समर्गात्मकविधिविषयवाक्यावकतातिप्राप्ततृतीयकदात्रान्तो
निषकारमा व्यङ्ग्यप्रमद्यलोऽप्यो व्यञ्जकवत्तस्मिन् स्फुटयेवाऽवभासत ।

१ भ्रम धामिक् विषयस्य स रवाऽय मारितरतेन ।

गोसावरोवरीरघुद्रुङ्गवातिना चरीरिहेन ॥

मतो गाम्नी वाचमार्थः । ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमभ्युपमाणपदाच
तत्पर्येषु विषयं बहुसंख्याविषयकेषु विषयार्थं विषयपु प्रतीयत एव वाचमार्थः ।
न चान्न व्यञ्जकत्ववादिषां विषयार्थत्वं ज्ञेयते तात्पर्याद्यत्वाद्
अने । तत्र स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविधानस्य तृतीयकक्षायामात् ।
सर्व विषयं वशा तत्र द्वितीयकक्षाविषयो विमाकारकसंसर्गानुपपत्तः ।
प्रकरणत्वे स्थिति वस्तुनि पुनरस्य विषयमद्यस्यविषयोपाममात् । रसवद्
वाक्येषु च विमाचप्रतिपत्तिमद्यद्वितीयकक्षायाम् रसनवयमान् । ठहुस्तम् ।

अप्रतिष्ठमविद्यान्तं स्वार्थं यत्परतानिहम् ।

काम्यं विनाहृते तत्र ग्याम्या तत्परतास्त्य सा ॥

वच तु स्वार्थविद्यान्तं प्रतिष्ठा तावदापठम् ।

तत् प्रसर्पति तत्र स्यात् सर्वत्र व्यनिना स्थितिः ॥

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यञ्जकत्वमेव । वस्तुनन्दुारयास्तु स्वविद् वाक्यत्वं
वचविद् व्यञ्जकत्वम् । तत्रार्थं वच व्यञ्जकत्वस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिरतत्र
वचनित्वेन युगीभूतव्यञ्जकत्वम् । ठहुस्तम् ।

वचार्थं धर्मो वा धर्मसंज्ञासर्वनीहृत्स्वार्थः ।

व्यक्ताः काव्यविशेषः न व्यनिर्पति नृपिनि वचितः ॥

प्रधानेऽप्यत्र वाचमार्थं यत्रार्थं तु रसायनः ।

काव्ये तस्मिन्मन्त्रद्वारो ग्लादिरिति ये मनि ॥

यथा । उपोद्धारणेऽस्यादि । तस्य च अनेविबद्धितवाक्याविबद्धितवा
अनेन द्विविध्यम् । विबद्धितवाक्योऽप्यस्यतद्विरक्तुदरवाचोऽर्थात्तामहक-
मित्रवाक्यरूपेति द्विधा । विबद्धितवाक्यस्य धर्मसंज्ञित्वम जनयोत्वमेति
द्विविधः । तत्र रसादीनामनुसंगधर्मस्य स्वमित्त्वं प्राधान्यप्रतीती साया
महत्त्वेन प्रतीती रसवत्तद्वार इति ।

यत्राप्यत्रे ।

वाक्या - वाचस्तथेति ॥ ३३ ॥

यथा लौकिकवाक्येषु अभ्युपमापत्रियेषु गाम्म्यावोपादिष्वभ्युपमान
त्रियेषु च द्वारं द्वारवित्वात्पु रवगम्योपादयामा प्रकरणविरचनाद् बुद्धि

संनिवेशिनी विधीन कारकोपचिता वाचयार्थस्तथा काम्येष्वपि स्वयम्भो-
 वारानाम् नवचित् प्रीत्यै नवोद्गा प्रियेत्येवमाद्यौ नवचित् न प्रकरणादिवचान्
 नियतादिहितविभावाद्यविनाभावाद् वा साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्त-
 माता रत्यादि स्वायी स्वस्वविभावाद्युभाबभ्यविचारिभिरु-
 त्तचन्द्रोदनीते संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमान्नीयमानो रत्यादि-
 वाचयार्थः । नचान्यदार्थस्य वाक्यार्थस्य नास्तीति वाच्यम् । कार्यपर्य-
 वसावित्वाद् तात्पर्यमवकथं । तथाहि पीडयेदमपीदमयं वाच्यं सर्वं
 कार्यपरम् । अतएवत्येष्टुपादेयत्वादुपमाविवाचयत् काम्यशब्दात्
 चाञ्चयभ्यतिरेकाभ्यां निरतिशयमुक्तास्वादभ्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रति-
 पादकयोः प्रवृत्तिविषयया प्रयोजनान्तरानुपलब्ध्यै स्वानन्वोद्भूतिरेव
 काम्यरक्षेताञ्चयाम्येते । तदुद्भूतिमिमित्तत्वं च विभावादिसंमृष्टस्य स्वायिन
 एवावबन्मते । अतो वाच्यस्याप्रविधानाद्यस्तित्तेन तत्र रक्षेताञ्चयमात्रा
 तत्तत्स्वावपिदित्तान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामा
 नीयते । तत्र विभावाद्वाच्यं परार्थस्वानीयास्तत्संमृष्टोरत्यादिवाच्यार्थः ।
 तदेतत् काम्यवाच्यम् । यदीम ताविभी परार्थवाचयाधौ । न चैव सति
 पीडादिबन् मुग्धजनवत्त्वेऽपि वाच्यवाचकमात्रमुपयोगः । सिद्धिष्टविभावादि
 सामग्रीविदुषामेव तथाविपरत्यादिमावनायतामेव स्वाधोद्भूतेस्तदने
 नाऽतिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः । ईदृशे च वाक्यार्थनिरूपण परिकल्पिता
 मित्यान्विगतिवर्गाश्च समस्तमात्रार्थावयवत एवतयन्तरपरिरक्षणं प्रयास-
 यथाञ्चोचाम काम्यनिर्भये ।

तात्पर्यातिरेकाच्च न व्यञ्जकत्वस्य न दन्ति ।

किमुक्तं स्वावधत्तार्थतात्पर्येऽप्योक्तिरपिपि ॥

विषं भक्षय नृक्षो यरथैवं परतुतादियु ।

प्रमदयते प्रयागत्वाद् दन्तिरव केन वायते ॥

दन्तिरवत् स्वार्थविधानं वाच्यमप्यन्तराययम् ।

तत्परत्वं स्वविधायी तन् न विधान्यसम्भवात् ॥

एतादृशं विधान्तिरतात्पर्येति किं कृतम् ।

मानत्काम्यप्रसारितत्वात् तात्पर्य न तुमाप्नुतम् ॥

अप्रमाणिकविधेयमिति अभिहिततात्पर्ये ।

निर्यादृति कथं वाच्यं निषेधमुपसर्पति ॥

प्रतिपाद्यस्य विभाधितरपेक्षापूरणाद् यदि ।

वस्तुनिवधितप्राप्तरविद्यान्तिर्न वा कथम् ॥

पीडयेयस्य वाक्यस्य निवृत्ता परतन्त्रता ।

वस्तुनिवधिततात्पर्यमतं काव्यस्य युज्यते ॥

इति । यतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि
वाक्यवाक्यसम्बन्धः काव्यं हि भावकम् । भाव्या रसादयः । ते हि स्वतो
वस्तु एव भावकेषु विविष्टविना वादिमता काव्येन भाव्यन्ते न चाप्यत्र
एवमादरेषु भाव्यभावकमसंगुतसम्बन्धाभावात् काव्यस्यैवैवमपि तथा भाव्य
मिति वाच्यम् । भावनाक्रियावाचिनिष्ठपाङ्गीकृतत्वात् । किञ्च वा
चाप्यत्र तथास्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाप्यत्रमात् । तदुक्तम् ।

भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।

यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नादयमोक्तुमि ॥

इति । कथं पुनरगृहीतसम्बन्धस्य परेभ्यः स्वाध्यादिप्रतिपत्तिरिति च न
लोके तथाविधकेष्टामुक्तानीपुंठादिषु रसाद्यविनाभाववद्वन्नादिह्यपि
तद्योपनिबन्धे सति रसाद्यविनामूतकेष्टादिप्रतिपादकपदसम्बन्धादिनिवेमा
विनाभावेन जातविही रसादिप्रतीतिः । यथा च काव्यापस्य एवभावकस्य
तथाश्रेयस्यमात्रं ।

रसाः परतन्त्राः ॥३६॥

इष्टम् : 'वर्णनात् ॥३७॥

काव्यार्थोपपत्तिरिति रसिकवर्ती रसादि स्वाधीभावः स इति प्रति
निदिश्यते । स च स्वाध्यातां निभरानन्दसविशतमतामापादमाना रसा
रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात् नाञ्जुकार्यरमादिवर्ती भूतत्वात् तस्य । यद्य
प्यगोपहितरूपत्वेनाश्रयभावस्यापि वस्तुमानवद्भावान्नमिष्यते एव ।
तथाप्यत्र तद्वभासतामत्रमहाविमिरपुत्रुयमानत्वात् मत्स्यमर्षकाभ्याम् प्रति

विभावस्त्वेन तु रामावर्धतमानवदवभासमिष्यत एव । किञ्च न कार्यं
रामादीनां रक्षापजननाय कश्चिन् प्रवर्त्यते । यन्नितु सह्यमानानन्दमितुम् ।
स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव । यदि चाश्रुनामस्य रामावे शृङ्गार
स्यात् ततो नाटकादौ तद्वर्धने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकांक्षा
समुपेतो वृत्त्यमाने शृङ्गारबाधमिति प्रेक्षणयां प्रतीतिमात्रं भवन् न रक्षानो
स्वादः सत्पुरुषाणां च जज्ञेतरणां स्वसुमानुराभापहारेण्णादिव प्रसम्भरन् ।
एव च सति रमादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तिम् । अग्यतो नञ्चासत्ताक
वस्त्वस्येतादृशं व्यङ्ग्यते । प्रतीपेनेव चटादि । न तु तदानीमेवाप्रमिष्यन्
नरबाधिमतीरापाद्य स्वभावम् । आभ्यासे च विभाविति प्रेक्षापु रक्षा
इत्यादिद्विधमेव ।

ननु च सामाजिकावयेषु रसेषु को विभावः । नच च सीतादीनां
च देवीनां विभावत्वेनाप्रविरोधः कथ्यते ।

वीरोहात्ता रसिकस्य ते ॥३८॥

न हि कवयो योयिन इव ध्यानचक्षुषा प्यारवा प्रातिस्विकी रामा
दीनामवस्थां इतिहासकद्रुपनिबध्नान्ति । किं तर्हि सचलोकसाधारणां स्वीन्
प्रदातुमसन्निवृत्तौ वीरोहात्ताद्यवस्थां क्वचिदाध्ययमात्रदात्मिनी इवति ।

ता रसहेतवः ।

तत्र भीतादिपञ्चा परिमल्लजनकृतमवाशिविधया स्त्रीमात्रवाचिनः
विमिवाप्रनिष्टं बुद्धुः । किमयं तद्व पाठीयन्त इति चेदुच्यते ।

वीर्यता विनिः ॥३९॥

एतदुक्तं भवति । नात्र लौकिकशृङ्गारादिषु रम्यादिविभावा
दीनामुपयोगः । किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरमदितरादुत्तमं
नाटपरसाधाम् । यथाह । अष्टो नाटपरसा रमृता इति ।

काव्यार्थः चार्थते ।

नर्तकोऽपि न लौकिक रोगेन रसवान् भवति । तदानीं भोव्यत्वेन
रसमहितादेरग्रहणान् काव्यापभावनया रसरमदादिषु नाभ्यरसारबाधो
अप्यापि न चार्थते ।

कथं च काम्यात् स्वाद्योऽङ्गुलिं क्रिमात्मा चाऽऽशक्तिं श्रुत्याधत्ते ।

स्वाद्य समुद्रम् ॥४०॥

विकाशः क्रमात् ॥४१॥

हास्याद्भुतः चारुत्तम् ॥४२॥

काम्यार्थेन विमावादि संसृष्टस्वाम्यात्मकेन भावकचेतसः सम्मेदेऽप्येत्य
संभनने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रवक्तवरस्मान्मोक्षमुक्तिं स्वाद्य ।
तत्त्व च सामान्यतमकत्वेऽपि प्रतिनियतविमावाधिकारलुब्धस्यत्वेन सम्मेदेन
चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद् यथा । शृङ्गारे विकाशो बीरे विस्तरो
बीजस्ते लोभो रौद्रो विषय इति तदप्येषां अनुष्ठां हास्याद्भुतनयानक-
कस्यानां स्वसामग्रीसम्बन्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकाशाद्याश्चेतसः
सम्मेदाः । प्रथमः ।

शृङ्गाण्डि भवेदात्स्यो रौद्राश्च कथणो रसः ।

बीराश्च वैबाङ्गुतोत्पतिर्बीमस्थाश्च भयानकः ॥

इति । हेतुहेतुमद्भावा एव सम्मेदापेक्षया वक्षितो न कार्यं कारणभावा
निमित्तेण तेवा कारणान्तरजन्यत्वात् ।

शृङ्गाण्डकृतिर्मां तु स हास्य इति कीर्तितः ।

रत्नादिना विकाशादिसम्मेदेऽस्तत्त्वस्थैव स्फूर्तीकरणान्तरधारणमप्यतएवाऽष्टा
विति सम्मेदानां भावात् । ननु च मुख्य शृङ्गारबीरहास्यादिषु प्रमोदा
त्यकेषु नानयामसम्मेदावागम्योद्भव इति । कस्यादौ तु दुःखात्मनस्ते कथं
विबाङ्गो प्रादुष्यात् । तथाहि । तत्र कदाग्रात्मककाम्यवचनाद् दुःखादि
मांसोऽभ्युत्सादादयश्च रक्तिकानामपि प्रादुर्भवन्ति । न रक्तदानान्तात्मकत्वे
सन्नि युज्यते । अन्यथेतत् । तस्मिन् तादृश एवाऽज्ञानान्तरं मुख्यदुःखात्मको
यथा प्रहरणादिषु सम्भागावस्थायां बुद्धिमिते स्वीग्रासगन्धश्च भोक्ष्णात्
कस्यात् काम्यकथणः । तथाऽप्योत्तरोत्तरा रक्तिकानां प्रवृत्तयः । यदि वा
भोक्षिककथनवद् दुःखात्मकान्यथेव स्यात् तदा न कथितम् तत्र प्रवृत्तम् ।
तत्र कादम्बरितायां रामादग्राहिनिहाप्रवधानामुच्छद एव मरदभ्युत्ता
वदस्वेति नृत्तवर्णनादर्भनेन विनिपादितेषु भोक्षिकवैचन्यवर्धनादिषु

प्रसङ्गायां प्राप्नुर्मन्मथो न विरूप्यते । तस्माद् रसान्तरवत् करणस्याऽप्या
नन्वात्मकत्वमव ।

ननु सान्तरसस्याऽभिधायकत्वाद् यद्यपि माद्वन्मुप्रवेशो नास्ति तथाऽपि
मूकमाप्तीत्यादिवस्तुनो तर्कयामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्य
विषयत्वं न निवर्त्यते । अतस्तदुच्यते ।

अथ० तत्वात्मता ।

धान्तो हि यदि साधन् ।

न यत्र कुत न मुक्तं न विमता
न ह्यपरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु धान्तः कथितो मुनीर्न
सर्वेषु भावेषु समप्रधानः ॥

इत्येवं सद्यस्तथा तस्य भोद्यावत्स्वायामेवाऽऽत्मस्वरूपापत्तिसंज्ञायां प्रादु
र्भावात् तस्य च स्वरूपेमाऽनिर्वचनीयता । तथाहि श्रुतिरपि स एव नेति
नेत्यभ्यापोहक्येनाऽहं न च तथाभूतस्य सान्तरसस्य सङ्ख्यायां स्वादिमित्रा
समवयव तदुनामभूतो मुद्रितार्थमीककणोपेक्षादिजटाशृङ्गस्तस्य च विकसत
विस्तारलोमविशेषकपतैवेति । तदुक्त्यैव सान्तरसास्वादा निरूपितः ।

इदानीं विभावादिविषयसाम्भारकाव्यभ्यापारोपसंनूयकं प्रकरणेनो
पमहारं प्रतिपाद्यते ।

वचार्थे० अर्थ ॥४३॥

भावितः० परिकीर्तितः ।

अतिशयास्तिरूपकाव्यभ्यापारोहितविशेषैरवग्राहीरूपीयनविभावं प्रम
दाप्रभृतिमिदमन्वनविभावं निर्वहामिभिर्भविचारिभावं रोमाञ्चामुभू
तोपकटासादौ लुभावेरवान्तरभ्यापारतया वचार्थीमूर्तिर्वाच्यार्थं स्वाधीनायो
विभावितो भावकपतामानोक्त स्वरूपे स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

विशेषतस्तथाऽप्युच्यते । तथाऽऽचार्येण स्वादिनी रसादीनां गृह्या
रादीनां च नृपस्य सद्यस्तानि विभावादिप्रतिपाद्यनेनादितानि । अथ तु ।

सत्तलैर्य० अर्थो० ॥४४॥

चिन्त्यत इति ज्ञानयक्षेपः ।

तत्र तावत् शृङ्गारः ।

रम्यरेण० विवेक्षितः ॥४१॥

इत्यमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति । नभ्युपदेष्ट
वर्गमेतत् ।

तत्र देवविभावो यद्योत्तररत्नचरिते ।

स्मरसि मुतनु तस्मिन् पर्वते सदमलान

प्रतिबिम्बिततपस्यमुस्वयोस्ताम्यहामि ।

स्मरसि सरसतीरं तत्र गोदावरी वा

स्मरसि च तदुपागतेष्वभावोवतनानि ॥

कलाविभावो यथा ।

हृत्स्वर्गान्निहितवर्नं सूचितं सध्यपर्व-

पावग्यासीर्भयमुपयस्तम्मयत्वं रक्षेयु ।

शास्त्रापोनिम्बु कुरभिनयं पद्मिनीशोऽनुवृत्तं

भवि मावे नृदति विषयान् रागबन्धं स एव ॥

यथा च ।

स्मरितर्प्यञ्जनधानुना दशाविषनाम्प्यत्र लम्बाऽनुना

दिल्लष्टो इतमभ्यसन्धितपरिच्छिन्नस्त्रिषात्र्यं कमः ।

योऽनुच्छप्रमुखा जमेण गतयस्तिथ्योऽपि सम्पादिता

स्तरशोधानुगतारश्च बाजविषय सत्यक जयो वदिता ॥

बानविभावो यथा कुमारस्तम्भे ।

मगून् सद्यः कुमारान्यगोकः सङ्ग्यान् प्रभृत्येव नपस्त्वानि ।

पादेन चाऽनेघनं सुगन्दीनाम्भर्यमासिञ्चितमूपुरेण ॥

इत्युपनमे ।

यद्यु ज्ञिरेकः कुमारैरुपाने

पत्नी श्रियां स्वात्मनुवतमानः ।

शृङ्गारं सरसनिमीभितासी

नगीमरञ्जयनं कृष्णसारः ॥

वेपथिमात्रो यथा तत्रैव ।

असौक्यनिर्भासितपथरागं
आकृष्टहेमद्यतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकणापीकृतसिन्धुवारं
वसन्तपुष्पाभरणं बहुमति ॥

उपभोगविभाषा यथा ।

अधुर्नृपतमपीकृतं कश्चनितस्ताम्बूलरागोऽदरे
विश्रान्ता कश्चरी वयोमफनके मुप्लेव गात्रद्यति ।
आन सम्प्रति मामिति प्रणयिना कैरप्युपायक्रमे
भ्रमो मानमहातस्तद्वर्णिते यतः स्वमीमिक्षित ॥

प्रमादरता रतिर्वशा मामतीमापये ।

अवति अमिनस्ते ते भ्रात्रा नवेन्मुक्तमादय-
प्रकृतिमधुरा सन्त्येवाऽप्ये मनो भवयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लाके विसोचनचण्डिका
नयनविषयं ज-मयेक स एव महोरसक ॥

सुवर्णविभाषो यथा मासविक्रान्तिमित्रे ।

वीर्वाशं वारिष्मुकान्तिवर्णं बाहू नताबंसयो-
मशितं निविद्धोन्नतस्नमुट पादवे प्रमुञ्चे इव ।
मय्य पात्रिनिता नितम्बि अवन पादावयमान्नी सी
छात्रो नर्तयिगुर्वर्धय मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वयु ॥

सूनाविभाषो तथा मासतीमापये ।

भूया भूय मविजनमपीरक्ष्यया पर्यन्त-
वृष्ट्या वृष्ट्या मवनवसमीगुन्ना बातायनरथा ।
माशान् वाम नयमिव रतिमोक्षी मातरं मद्
माशोरक्ष्यनुनितमभिनगरम् नैस्ताम्यतीति ॥

मयीत्यानुरागा यथा तत्रैव ।

वास्तवा मुहुर्बलितकण्ठरमात्म तद्
 भावृतकृतशतपत्रनिर्भं बह्वन्त्या ।
 शिष्योऽमृतेन च जितेन च पद्मनादया
 पाद निशाठ इव ये हृदये कटाक्ष ॥

यद्गुरुद्विषेष्टित यथा तत्रैव ।

स्तिमितविकसितानामुत्ससद्भूततामां
 मसृणमुहुर्भित्तानां प्रान्तविस्तारमाशाम् ।
 प्रतिनयनमिपाठे किञ्चिद्वाकुटिचठानां
 विविधमह्यमृषं पादभामोदितानाम् ॥

ये सत्त्वज्ञा • विष्णु ॥ ४३ ॥

अपस्मिन्मद्व्यविचारिवरवाऽष्टौ स्वायिष्य अष्टौ सात्त्विकारहेत्येकोन
 पञ्चाशद् । मुक्ताऽङ्गत्वेनोपनिबध्यमाता मृत्कारं सम्पादयस्यासत्त्वौ
 पुष्यगुणामरणादीन्तेका लम्बनविधावाधयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन कोपनि
 बध्यमानानि विवध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाऽविरोध शक्य प्रतिपादित
 एव ।

विमानस्तु ।

अयोगो विद्या ।

अयोगविप्रयोगविरोधत्वाद् विप्रसम्भस्यैतन् नामान्मानिवापिबेन
 विप्रसम्भस्य उपपन्नितुलिमामुदिति न प्रमुवत । तथाहि । इत्या सद्गु
 लमप्राप्येष्ट्यतिष्ठमे साध्येन नादिकात्तरामुत्तरवाण् च विप्रसम्भस्यस्य
 मृगप्रयोगो बन्धनार्थत्वात् ।

तथा • भक्त्युप ॥ ४४ ॥

मोषोऽयोग्यस्त्रीकारस्तदभावरत्ययोग । पारतन्त्र्येण विप्रबर्हि दीप
 पित्राद्यापत्तराण् सागरविद्याभामरयाधत्तराज माधवाभ्यामिन देवाद् गोरी
 शिवमोरियाश्रमायमाऽयोग ।

दद्यात्तस्य • यथोत्तरम् ॥ ४८ ॥

अभिताप • माय्यता ॥ ४९ ॥

साक्षात् भूरास्तुते ॥ १ ॥

प्रतिमाद्यो यथा धाकुन्तते ।

यसंघर्षं शत्रुपरिग्रहणमा

यश्चार्थमस्याममितादि मे मना ।

सतां हि सग्रेहपदेषु वस्तुषु

प्रमाणमस्य करतुप्रवृत्तये ॥

विस्मयो यथा ।

स्वनावालोचय तन्त्रङ्गपा क्षिरं कम्पयते युवा ।

तयोऽन्तरनिर्मन्वां बुद्धिमुत्पाटयन्निव ॥

प्रानन्धो यथा विद्वत्तावभक्तिशायाम् ।

मुपावृत्तासौख्यवनचकोटी कबलितां

किरन् व्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रमयिनीम् ।

उदयाकाराव प्रहिलु नयने तर्कय मनाम्

प्रनाकाग कोप्रं वनितहरिणु शीतकिरलः ॥

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे ।

तं वीर्यं वेपथुमती सरसाङ्गपटि

निघण्टाय पद्ममुदतमुद्रहन्ती ।

मार्गाचलभ्यतिकरानुलितेव सिन्धु

शीलाभिरावृतगवा न यमी न तत्त्वो ॥

यथा वा ।

व्याहृता प्रतिवर्षो न सग्रेव

यन्मुदीच्छन्वनम्बितांगुका ।

सेवते स्म धयर्न पराङ्मुखी

सा तपाटि रत्तये पिनाकिन ॥

तन्मू० •वर्तिता • ।

गुणवीर्यं तु स्वप्नत्वान् न व्याख्यातम् ।

यथा० तदनन्तता ॥ ११ ॥

विष्णुमात्रं तु ।

दृष्टे ० चिन्तनात् ॥ १२ ॥

येषं प्रच्छन्नकामितायि कामसुखादवगन्तव्यम् ।

यत्र विप्रयोगः ।

विप्रयोगस्तु प्रत्ययेर्ध्वयोः ॥ १३ ॥

प्राप्तयोऽप्राप्तिविप्रयोगः । अस्य ॥ प्रियं नाम प्रवाठपत्र । नामवि
प्रयोगोऽपि द्विविधः प्रत्ययमान ईर्ष्यामानदत्तेति ।

तत्र ० धोर्ध्वयोः ।

प्रेमपूर्वको बन्धीकारः प्रत्ययस्तद्भूक्तो नामः प्रत्ययमानः । स च
द्वयोनयिकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यचोत्तरपदमभ्यसिते ।

अस्मिन्नेव सतायुहे त्वमभवस्तम्भार्पयतोदाण्

सा हर्षं कृतकौतुका चिरमभूद् मोहावरीसैन्ये ।

प्रायान्तमा परिबुर्भनामितमिव त्वां वीर्य बद्धस्तथा

काष्ठमार्जरविन्दकृद्भूममग्नौ भुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥

मायिकाया यथा वीर्याक पति राजदेवस्य ।

प्रणयकृपितां बुष्णा देवी सत्तन्ममविस्मित

स्त्रिभुवनमुकुर्भीत्या तद्यः प्रणामपरोऽभवन् ।

नमितपिरमो गङ्गातोके तथा चरणाहता

बध्नु ममतरस्यदास्येत्तद् विलसामवस्थितम् ॥

उन्नयो प्रत्ययमानो यथा ।

१ पदप्रभुविधाय शोभति अमिधपमुत्ताण मागदन्ताणाम् ।

गिबसमिदङ्गीतासदिम्य यन्मात्र को भस्तो ॥

स्त्रीणां ० ० भुक्तात् ॥ १४ ॥

उत्तरध्व्यां ० ० धोवरः ॥ १५ ॥

ईर्ष्यामान पुन स्त्रीणामेव मायिकाम्तरनिर्झनि स्वदन्ते उदतरणे

१ प्रणयकृपितयोऽप्योऽप्यलोकाप्रमुत्तयोर्भवतोः ।

निवृत्तनिवृत्तिघातदत्तकर्तृयो नो भस्तः ॥

धर्मस्याद्यङ्गं श्रुतो वाऽनुमितो दुष्प्री वा स्यात् । तत्र यत्नं ह्यधीकृत्यात्
तस्या विरहास्तत्त्वान् । यथा यमैव ।

मुष्णु त्वं नवगीतकस्पृहदया केनाऽपि कुर्मभिन्ना
मिध्वैव प्रियकारिणा यद्युमुनेनाऽस्मासु बन्धीकृता ।
किं श्वेतम् विमुक्तं धनं प्रणमिनामेवादि कस्ते हितं
किं भावीतनया वयं विमुक्तं सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥

उत्सृज्यामिती यथा रघुस्य ।

निर्ममेन मयाऽभवति स्मरमराबाधोऽयमाभिज्ञिता
कनाऽजीकमदं तवाज्यं कथितं राधे । युवा ताम्यसि ।
इत्युत्सृज्यपरम्यरासु लयने श्रुत्वा बभूव धार्ज्जिना
सम्यक् विधिनीहृत् कमलया कण्ठग्रहं पातु न ॥

योमाऽनुमितो यथा ।

मननमपदमङ्गं योपयस्वदुकेन
स्वमयसि पुनरोष्ठं पाणिना बन्धदष्टम् ।
प्रतिरिक्तमपदमङ्गीकृत्यं सो विस्मयन्
मनपरिमलमग्नौ केन शब्दो बरीतुम् ॥

गोत्रस्मृतनकस्मिता यथा ।

१ केलीमोक्षमग्नौ विदुष्ये केयवं यमाभस्ती ।
बुद्धं लभन् परिहृतं जाया लब्धं विष पदस्मा ॥

दुष्प्री यथा श्रीमुञ्जस्य ।

प्रमयकुपिता दुष्ट्या देवी सप्तम्भनविस्मिता
स्त्रिभुवनमुद्वर्त्तिता मय प्रणामपरोऽभवत् ।
ममिच्छित्तालो वज्रालोकः तथा वरणाहना
बभूव भवनात्म्यरास्मैगत् विलम्बमवस्थितम् ॥

एवाम् ।

१ केलीमोक्षमग्नौ विदुष्यति नैतनमजाभस्ती ।

बुद्धं नय परिहृतं जाया लब्धं विष प्रदत्ता ॥

यपोत्तरं रत्नाम्बरं ॥ ५६ ॥

तत्र 'नति' ॥ ५७ ॥

सामादौ पाबिता ॥ ५८ ॥

तत्र प्रियवच साम यथा मयैव ।

स्मिदग्योरस्ताभिस्त घबलयति विद्वं मुद्राघटी

दुधस्ते वीयुपद्वयिष विमुञ्चन्ति परितः ।

बपुस्ते सावर्ण्यं किरति मधुरं दियु तद्विषं

शुक्लस्ते पाद्व्यं सुतनु हृदयनाश्रु गुणिनम् ॥

[यथा वा ।

इन्दीवरेण नयनं मुद्रमम्बुजेन कुन्देन दम्भमवरं नवपद्ममेव ।

मङ्गलानि चम्पकदलैः न विषाय वेद्याः कान्ते कथं रचितवानुपलभ्य वेत्तः]

नायिकातलीसमावहनमेवो यथा मयैव ।

हृतेऽप्यातामङ्ग कथमिव मया त प्रणतयो

वता स्मिन्वा हस्ते विमुञ्चति वप मुञ्च बहुधा ।

प्रकोपं कोऽप्यस्य पुनरयममीमांशु गुणितो

बृथा यत्र स्मिन्वा प्रियसहचरीणामपि विटः ॥

दान ध्याजन भूपादेर्व्यथा माधे ।

महुरपहमिताभिवाद्भिनाई

वितरति न कनिका विमर्षमेनाम् ।

अधिराजि मतेन धाम्नि तस्या

राज कनिकेव महास्त्रवयाश्रु वतः ॥

पादयो पतनं नतियथा ।

१ एन्दकोटिविलग्नं विहुरं ददितस्य पादपट्टिधस्तम् ।

हिमर्षं माणपठत्वं उम्भोमति प्चिध कहेदः ॥

१ भूपुरकोटि विलग्नं विहुरं ददितस्य पादपट्टितस्य ।

हृदयं मानपदोत्पन्नामुत्तमिधेव दययति ॥

उपेक्षा तदवधीरणं यथा ।

किं मतेन न हि युक्तमुपैतु नेहवरे पश्यता सखि साध्वी ।

धान्यैवमनुजीय कथं वा विप्रियाणि जनमन्मनुजैः ॥

रजनवाद्यहवदि रसान्तरात्कोपप्र शो यथा मनीष ।

धर्मिष्यकतालोका सकलविषमोषामविमय

द्विचरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृत्यकर्तव्यमपिपुण्यम् ।

इतः पृष्ठं पृष्ठे किमिदमिति संग्रहास्य सहसा

कृतास्तेषां मूर्तं स्मितमबुदमानिज्ज्ञति बभूव ॥

यत्र प्रकाशविप्रयोगः ।

कार्यतः विता ॥१६॥

तत्र 'पूर्वकः ।

याद्यः कार्यत्र समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्ती बुद्धिपूर्वकत्वात्

मूतमविष्यद्वर्तमानतया विविचः ।

तत्र मास्यत्प्रवाद्यो यथा ।

'होमपहिषस्त आद्या आग्न्यष्टमीषवारपरहस्यम् ।

पुष्पन्ती भवति करं धरेषु पिप्रविरहसहिष्या ॥

नक्षत्रवाद्यो यथाऽप्रवृत्तके ।

[प्रहरविरती मध्यं वाऽहस्ततोऽपि परेऽथवा

विनष्टति मते वाऽर्जुनाय त्वमद्य समेप्यसि ।

इति दिनचर्याप्राप्य देवं प्रियस्य विधासतो

हर्षति गमनं वाभाऽप्यपै सवाधयमाग्रसौ ॥

यथा वा तत्रक ।]

देवीरन्तरिता उत्तरं गरितामुष्मीभृतां कामने

यत्नेनाऽपि न याति लोचनपर्यं नान्नेति जानन्नपि ।

१ अविष्यत्पन्निकस्य आद्या आग्न्यष्टमीषवारपरहस्यम् ।

पुष्पन्ती भवति गहापुष्टेषु पिप्रविरहसहिष्या ॥

उत्तरीयवस्त्राणां यत्नवत्तुम् इत्यादिप्रसूतं वृत्ति
तामादापयितस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥

नतप्रवाहो यथा मेघवृत्ते ।

उत्तसङ्गं वा मन्त्रिणवसने सोम्य निमित्तं वीणा
मङ्गोभाङ्गं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्मीमांसां नयनसन्निधौ सारदिरवा कथञ्चिद्
सूतो यय स्वयमपि कृतां मुञ्चन्तां विस्मरन्ती ।

आपञ्चदापतमोस्तु प्रवाहामावाहेष्यत्यवासस्य च नतप्रवाहाविशेषाद्
नैविष्यमेव वृत्तम् ।

द्वितीयं वात् ।

उत्पातनिवृत्तिवर्जितमपि विष्णुवात् परवक्ष्यविषयविष्णुवाद् वाम्बुद्धि
पूर्वकत्वादेकस्य एव सम्प्रमज्जं प्रवासं । यथोर्वशीपुस्तकसोवित्रमोर्वश्याम् ।
यथा च कपालकुण्डसापहृतायां मालत्या मालतीयाधवयो ।

स्वक्या • यपि ॥६०॥

यथा दाहम्बध्यां वसम्पायनस्येति ।

मृते नैतद् ॥६१॥

यथेभ्युपवीमरवाहवस्य करण एव रघुवत्ते । काश्चम्बध्यां तु प्रपन्नं
चरणं भाकासत्तरहतीवचनाकुण्ड प्रवाहशृङ्गार एवेति ।

तत्र नायिका प्रति नियमः ।

प्रत्यया • अङ्गिता ॥६२॥

अथ सङ्गोष्ठा ।

अनुकूलो मुखाङ्गितः ॥६३॥

यथातरसामचरिते ।

किमपि किमपि नञ् मन्त्रमासत्तिपायाद्
अचिरचित्तकरोमं जल्पितोरचयेण ।
छानुलकपरिरम्भम्यापुर्नैवहात्या
रतिरहितपतयाया रात्रिरेव व्यरंणीम् ॥

प्रबन्धः । प्रिये किमेतन् ।

विनिश्चेतुं शक्यो न मुक्तमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोदो मित्रा वा किमु विवक्षितम् किमु भवः ।
तव स्वर्गो स्वर्गो मय हि परिभूदभिरुचये
विकारः कौटुम्बान्तर्जडवर्ति च क्षाप च कुरते ॥

यथा च मर्मैव ।

सावध्यामृतवर्षिणि प्रतिविद्यं वृष्णागस्मात्पत
वर्षातिमिष ते पयोकरपरे उन्वङ्गि दूरीकृत्यते ।
नासावपमर्माजकेतकतमुष्ण पञ्चगर्भोत्पन्नम्
पुष्पमीतिशक्तं सहेलमनर्कम् ऊँरिकाऽजीकते ॥

वेष्टास्तत्र प्रति ॥६४॥

तद्वच्च दीवाहृतयो नायक्यकाये दधिता ।

रमयेच्च न च ॥६५॥

शाम्य तन्मोकं रङ्ग निपिडोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनरिति
विध्यते । यथा रत्नावध्याम् ।

स्पृष्टस्त्वदीयं वसिते स्मरपूजाभ्यामृतं हस्तेन ।

उद्भिन्नापरमूढुसर्गकृतसमं द्रव मयप्रमोदः ॥

इत्यादि । नायक्याविषाकैश्चिकीकुत्तिनास्त्वनारिकासल्लणाद् मुषणं कवि
परम्परामृतं स्वयमीदृश्यागम्यावनानुगुण्यमोत्पत्तिनं चाऽनुसन्दधा
मुकवि मृद्गारमुपनिबध्नीयान् ।

अथ बीरः ।

बीरः ० प्रहृष्य ॥६६॥

प्रतापविनयाविभिभिर्मावित नवनामुत्पलानाद्यैरनुमावितो गर्भपु
हर्षमिवभूतिमतिरितकप्रभूतिभिर्मावित उत्पलः स्थायी स्वधने भाव
मनोविस्तारान्ध्याय प्रसन्नतीत्येव बीरः । तत्र यथा बीरो यथा नागा
धीमूढवाग्जस्य । युद्धबीरो बीरवर्ति रामस्य । शान्तबीर परमुरा
वनिप्रभृतीनाम् ।

त्यागः श्रुतसमुद्रमुद्रितमहीनिर्म्यादिबानावधि । इति ।
 सर्वप्रतिबिम्बमुपतप्तमिबिम्बसदृशः स्फुरत्कीस्तुभं
 निर्यन्ताभिसरोजकृद्ममकुटीनम्भीरसामम्भनि ।
 पात्रावाप्तिसमुत्सुकैः समिता सानन्दमानोकितां
 पायाद् व कथय्यमानमहिमावचय मुपदैवपु ॥

यथा व मरीच ।

नक्षत्रीययोधरोत्सङ्गकुङ्कु मावलिष्ठो हरे ।

बलिरेव स येनाश्रय विज्ञापावीकृतः कर ॥

विनवादिपु पूषमुवाहृतमनुसम्भवम् । प्रतापपुष्पावज्जनादिना धीपदा
 मपि नावात् नैवं प्रायोवाहः । प्रस्वेदरक्तबदननयनादिजोवानुभावपट्टितो
 मुद्रवीरोऽयमा रौद्रः ।

अथ बीमस्तः ।

बीमस्तः शङ्कादयः ।

मत्स्यन्ताहुर्दं कृमिपुतिमग्निप्रायविमार्जितम्भुतो जुगुप्सास्यामिभाव
 परिपोषजसत्ताण उद्गती बीमस्तः । यथा भासतीयावध ।

उत्तुहृत्योत्तुहृत्य कृति प्रजममज वृषुण्डोपभूमासि माता
 म्यंसस्फिक्नुत्पिण्डाद्यवयवमुरामागुपुतीनि जगन्मा ।

घातं पयस्तमेव प्रकटितवचनः प्रतरक्य कङ्कडाद्

अकुम्पादस्त्रिस्तम्भं त्र्यपुङ्गतमपि अम्यमध्यममति ॥

इपिराग्नवैद्यारीकसमाज्ञापिदिभामः शोभत्यो बीमस्तः । यथा
 बीमस्तः ।

धामप्रोत्तुहृत्यपासनासक प्रूरजणत्कट्टण

प्रायश्चित्तमूरिभूषणरभैरापोपयत्यम्बरम् ।

धीप्रोत्पिण्डिरपतकर्दमचनप्राग्मारयोरोस्तासद्

भ्यासोत्पन्नगमारर्भरपबुर्गन्धोदय पावति ॥

रम्भ्यपि रमणीयनयननाशिषु नैराग्याद् पुरागुणो बीमस्तः ।

यथा ।

सामां वचनासुखं वेति मासपिण्डो पयोधरी ।

मांसास्त्रिकण्डं वजनं वन- कामप्रहातुर ॥

न चाप्यं घात एव विरपतो यथा बीमम्भमानो विरज्यते ।

अथ रीद्रः ।

होषो 'वेयादय' ॥६८॥

माम्मर्मविभावो रीद्रो यथा बीरवरिते ।

त्वं वृद्धावर्षसपरो यदि वतमानो

यथा स्ववातिसमयेन धनुर्धरः स्या ।

उग्रण भास्तव तपस्तपसा दहानि

पद्यान्तरस्य सवृषं परधुं करोति ॥

वैदिकृत्नादियथा वेणी सहारे ।

साक्षात्पृष्ठान्तविषान्तसमाप्रवेष्टी-

प्राक्तुषु विसृजिष्येपु व न प्रहृत्य ।

आकुप्टपाण्डववधूपरिधानकक्षा-

स्वस्था वजन्तु मयि वीरति पार्श्वराट्ठा ॥

इत्येषमादिविभावो प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुमारी अमर्षादिस्वमि-
चारिमि जोषपरिपोषो रीद्रः । परधुरामभीमसेनदुर्मोचनादिष्ववहारेषु
वीरवरितवेणीसंहारावेरनुमन्तव्यः ।

अथ हास्यः ।

विहृता स्मृतः ॥६९॥

घातमग्न्यान् विहृतवैषमापाधीन् परस्थान् वा विधावानवलम्बमानो
हासग्नत्परिपोषात्मा हास्यो रमो ह्रस्वपिष्टानो भवति । स चोत्तममध्य-
माधमप्रवृत्तिभेदान् पश्यिष्यः ।

घातमरका यथा रावणः ।

वानं मे पश्यन् मस्मरज्जमा तत् चन्द्रमोक्षुत्तमं

हारो वधानि वजन्तुवमुचिनं विलष्टा जटा कुम्भना ।

यथा च रत्नावल्याम् । नष्टं वपवररित्यादि । यथा च ।
 स्वतहात् पथानं तत उपचितं काननमगो
 गिरि तस्मात् सागच्छुमयहनमस्मादपि मुहाम् ।
 तदम्भुजाप्यन्तेर्मनिविद्यमानो न यनय
 त्वराति क्वालीये तव विजययात्रा चक्रिथी ॥

अथ करण ।

इह० पितामह ॥७३॥

स्वापाप० चारिण ॥७४॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतिविनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादे प्राप्त्वा शोकप्र
 कटण । तमन्विदि तदनुमावनि स्वासादिकथनम् । अन्विचारि
 स्वापापस्मात्तदयम् । इच्छायात् करणो यथा कुमारसम्भवे ।

अपि जीवितमात्र जीवतीत्यनिवायोत्पत्तया तया पुर ।

बन्धु पुरुषाकृतिं शिती हारकोपानसमस्त केवलम् ॥

इत्यादि रतिप्रमाण । अनिष्टावाप्ते सागरिकाया बन्धना
 रत्नावल्याम् ।

प्रीति कीर्तितः ॥७५॥

स्पष्टम् ।

अद्० तेषु च ॥७६॥

विश्रुपणं चाग्र्यरमहृतिद्वयं शोभाभिमानो गमककीर्तन च ।

हरमवमाहीनि पद्विंशत्काव्यसदृशानि । साय मेव प्रदानं चेत्
 माहीनि सग्यशराध्येकविद्यत्रिरपमादिध्वना गङ्गासु ह्योत्साहा
 प्यज्जर्भाशान् न पुनगुप्तानि ।

रम्य लोके ॥७७॥

विश्वो मेतन् ॥७८॥

इति श्रीविष्णुगुणोपनिषत्सु हृत्ती दशरूपामात्र

रमविचारा नाम चतुर्थे प्रकाशे समाप्तः ।

राजकमल के साहित्यिक प्रकाशन

रस सिद्धान्त : स्वरूप विवेचन :

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित ११ •

हिन्दी उपन्यास डॉ० सुपमा चबन ११ ••

हिन्दी काव्य में धर्मोक्ति

डॉ० संनारचन्द्र १२ १•

आलोचना के सिद्धान्त

शिवदानसिंह चौहान १ ५•

कवि प्रसाद डॉ० भोनाभाष तिवारी ८ ••

कबीर और उनका काव्य

डॉ० भोनाभाष तिवारी ४ ५•

प्रेमचन्द एक विवेचन

डॉ० इन्द्रनाथ मदान १ १•

दुम्भीराज रासो में कथामय कविता

इन्द्रविमान श्रीवास्तव १ १•

हिन्दी सप्त-साहित्य :

डॉ० त्रिमोहनीनारायण दीक्षित ८ •

हिन्दी रीति-साहित्य

डॉ० मणीरथ मिश्र ९ ••

मध्यकासीन हिन्दी-गद्य

हरिमोहन यादवास्तव १ ••

बंगला काव्य की भूमिका

प्रो० हुमायूँ कबीर ८ ••

हिन्दी साहित्य के घस्ती बय

शिवदानसिंह चौहान ३ ५

उर्दू साहित्य का इतिहास :

डॉ० एजाज हुसैन ९ ••

हिन्दी भाषा तथा साहित्य

डॉ० उन्वयनारायण तिवारी ५ •